ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय, बम्बई का—बहुत आभारी हूँ जिनकी रचनाओं और पुस्तकों में से मैंने इस संग्रह के लिए लेख लिए हैं। 'हिन्दी गद्य का विकास' शीर्षक लेख की सामग्री मुझे प्रोफेसर अयोध्यानाथ एम० ए० की 'गद्य मुक्तावली' नामक पुस्तक से प्राप्त हुई है। उनके लिए मैं उनका भी आभारी हूँ। जहाँ तक मुझ से बन पड़ा है मैंने सभी लेखकों और प्रकाशकों से उनकी रचनाओं का उपयोग करने की अनुमति लेने का यत्न किया है और उन्होंने कृपापूर्वक मुझे अनुमति प्रदान भी कर दी है, परन्तु फिर भी दो एक सज्जनों को जवाबी पत्र लिखने पर भी उनका कोई उत्तर मुझे प्राप्त नहीं हुआ। इसका कारण शायद यह हो कि उनका ठीक ठिकाना मुझे मालूम न रहा हो। ऐसे सज्जनों से, उनकी अनुमति प्राप्त किए बिना ही, उनके लेखों का उपयोग करने के लिए मैं क्षमा प्रार्थी हूँ।

साहित्य सदन
कृष्णनगर—लाहौर। —सन्तराम

हिन्दी गद्य का विकास

संसार में विकास का सिद्धान्त सब कहीं कार्य करता दिखाई देता है। जो वृक्ष इस समय आकाश से बातें कर रहा है वह एक दिन एक छोटे से बीज में नन्हा सा अंकुर था। जो मनुष्य आज छः फुट का लम्बा जवान है वह एक दिन माता की गोद में एक असहाय शिशु था। धीरे-धीरे विकास के द्वारा ही ये अपने इस सुविशाल आकार को प्राप्त हुए हैं। यही बात भाषा की है। हिन्दी का भी जो रूप इस समय है वह सौ वर्ष पहले न था। आज से आठ नौ सौ वर्ष पहले की भाषा को सुन कर तो हम शायद उसे हिन्दी कहने को भी तैयार न हों। नदी का जो स्वरूप उसके मूल स्रोत के निकट रहता है वह उस के मुहाने के पास नहीं होता। मूल उद्गम से यात्रा प्रारम्भ करने के बाद नाना दिशाओं से नाना नद-

नदियां उसमें आकर मिल जाती हैं। इस प्रकार हिन्दी में भी संस्कृत, फारसी, अरबी, अँगरेजी आदि अनेक भाषाओं के शब्द और मुहावरे समय समय पर मिलते रहे हैं। उन्हीं के मिश्रण का परिणाम इसका वर्तमान रूप है।

हिन्दी की उत्पत्ति के सम्बन्ध में विद्वानों के दो मत हैं। कुछ लोगों की राय है कि पहले संस्कृत भाषा बोली जाती थी। उसमें से पहले पाली भाषा निकली। बौद्धों का साहित्य इसी भाषा में है। पाली से फिर मराठी, शौरसेनी, मागधी आदि प्राकृत और अपभ्रंश भाषाएँ निकलीं। फिर इन अपभ्रंश भाषाओं से राजस्थानी, ब्रज और हिन्दी की खड़ी बोली का जन्म हुआ। कुछ दूसरे विद्वान यह कहते हैं कि संस्कृत कभी भी सर्व साधारण की भाषा नहीं हुई। केवल विद्वान लोग ही इसका उपयोग साहित्य में किया करते थे। सर्वसाधारण अपने नित्य के व्यवहार में प्राकृत का ही उपयोग करते थे। उनकी इस प्राकृत से ही मराठी, गुजराती, पंजाबी और हिन्दी का क्रमशः विकास हुआ है। परन्तु इस बात में सभी विद्वान सहमत हैं कि हिन्दी शूरसेन देश अर्थात ब्रज मण्डल में बोली जाने वाली प्राकृत की पुत्री है। इस पुरानी हिन्दी का आरम्भ विक्रम की आठवीं शताब्दी से माना जाता है।

हिन्दी में जो सब से पुराने ग्रन्थ मिलते हैं वे पद्य में हैं। इन्हीं ग्रन्थों के आधार पर हिन्दी का काल विभाग किया

गया है। परन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि इन पद्यात्मक पुस्तकों की रचना के पूर्व हिन्दी गद्य मौजूद ही न था। आखिर, लोग बात-चीत तो गद्य में ही करते होंगे। प्रसिद्ध भाषा-तत्वज्ञ सर ग्रियर्सन ने हिन्दी को निम्न लिखित कालों में बाँटा है—

(१) सन् ७०० ईसवी से सन् १३०० ईसवी तक चारण (Bardic) काल।

(२) सन् १५४० ईसवी से सन् १७०० ईसवी तक महान् (Augustine) काल।

(३) सन् १७०० ईसवी से सन् १८०० ईसवी तक शुष्क (Barren) काल।

(४) सन् १८०० ईसवी से अब तक पुनर्जागृति (Renaissance) काल।

गद्य-काल भी इसी पुनर्जागृति काल के अन्तर्गत माना गया है। श्रीयुत रामचन्द्र शुक्ल ने अपने 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' में हिन्दी का आरम्भ-काल विक्रम की ११ वीं शताब्दी का मध्य माना है। उन्होंने काल-विभाग इस प्रकार किया है—

(१) आदि काल (वीर गाथा काल) संवत १०५०—१३७५ वि०

(२) पूर्व मध्य काल (भक्ति-काल) संवत १३७५—१७०० वि०

(३) उत्तर मध्य काल (रीति काल)। संवत् १७००—१९०० वि०।

(४) आधुनिक काल (गद्य काल)। संवत् १९००—अब तक।

कालों के ये नाम उस काल में होने वाली रचनाओं की प्रधानता के कारण रखे गये हैं। उदाहरण के लिए, आधुनिक काल में यद्यपि लोग पद्य भी लिखते हैं परन्तु प्रधानता गद्य की ही है। इस लिए इसका नाम गद्य काल रखा गया है।

हिन्दी गद्य का सब से पुराना ग्रन्थ 'खुमान रासो' माना जाता है। इस से पुराना ग्रन्थ और कोई नहीं मिला। इसका रचना काल संवत ९०० के लगभग अनुमान किया गया है। हिन्दी गद्य का पहला उदाहरण तेरहवीं शताब्दी में महाराजा पृथ्वीराज और चित्तौर के रावल समर सिंह के दान पत्रों में मिलता है। 'मेवाड़ की सनद' संवत् १२२९ में लिखी गई थी। उस की कुछ पंक्तियाँ नीचे दी जाती हैं—

स्वस्ति श्री श्री चित्रकोट महाराजाधिराज तपे राज श्री श्री रावल जी श्री समरसी बचनातु ना भमा आचारज ठाकुर रूसीकेश कस्य थाने दली सु डायजे लाया अणीराज में ओषद थारी लावेगा ओषद ऊपरी माल की थाकी है औ जनाना में थारा बमरा टाल आ दूजो जावेगा नहीं और थारी बैठक दली में ही जो प्रमाणे प्रधान

परोवर कारण होगा।

इस के बाद पन्द्रहवीं शताब्दी के आरम्भ मे गोरखनाथ कृत 'सिष्ट प्रमाण' नामक गद्य-पुस्तक का पता चलता है। उस के बाद महाप्रभु वल्लभाचार्य के पुत्र गोस्वामी विट्ठलनाथ (१५७२—१६४२) की लिखी "शृङ्गार रस मण्डल' नाम की गद्य-पुस्तक मिलती है। इस के बाद गोकुलनाथजी के तीन ग्रन्थ—'चौरासी वैष्णवों की वार्ता", "दो सौ वैष्णवों की वार्ता" और "वन-यात्रा"—बोल चाल की ब्रजभाषा मे मिलते हैं। ये संवत १६२५ और १६५० के बीच लिखे गये थे। इन में अरबी, फारसी, गुजराती, पजाबी, मारवाडी आदि भाषाओं के भी शब्द मिलते है। इन के बाद अकबर के समय मे गङ्ग भाट की संवत् १६२७ की लिखी "चंद छंद बरनन की महिमा" नाम की सोलह पन्नो की पुस्तक का पता चलता है। इस के बाद संवत १६५७ के आस पास भक्तमाल के लेखक नाभादास का 'अष्टयाम' आता है। इसके बाद सवत १६६६ मे लिखा हुआ गोस्वामी तुलसीदास जी का थोडा सा गद्य मिलता है। गोस्वामी जी के गद्य का नमूना आगे देखिए—

श्री परमेश्वर

संवत् १६६९ समये कुआर सुदी तेरसी वार शुभ दीने लिखित पत्र आनंद राम तथा कन्हई के अश बीभाग पुर्वम जे आग्य दुनहु जने मागा जे आग्य भै प्रमन माना दुनहु जने वीदीत तफसील अंश

टान्नमल के मह जो वीभाग पद होत।

इसके अनन्तर 'भुवन दीपिका' नामक ज्योतिष ग्रन्थ की भाषा टीका (सं० १६७१) फिर संवत् १६८० में लिखी जटमल कवीश्वर कृत 'गोरा बादल की कथा', फिर बैकुण्ठ शुक्ल (१६८५—८४) रचित 'वैशाख माहात्म्य' और 'अग हन माहात्म्य' नामक दो ग्रन्थ ब्रजभाषा गद्य में मिलते हैं। इन के बाद संवत् १७०७ में मनोहर दास निरञ्जनी की कुछ गद्य पुस्तकें आती हैं। इसके बाद संवत् १७१५ के आस पास जगजी चारण कृत "रत्नमहेशदासोत वचनिका' मिलता है। यह राज पूतानी हिन्दी में है। इस के बाद (संवत् १७८७—१७८१ विक्रमी) जोधपुर के राजा यशवन्त सिंह के पुत्र अमरसिंह की 'गुण सार" नामक पुस्तक मिलती है। इसी काल (१७६३—१८४०) में अमरसिंह कायस्थ ने 'बिहारी सतसई' की गद्य में टीका लिखी। इस का नाम अमर चन्द्रिका है। संवत् १८७८ के लगभग प्रतेश ने मतिराम के रसराज' का तिलक किया।

इस समय उत्तर भारत में अँगरेजी राज्य स्थापित हो चुका था। अँगरेजों को ऐसी पुस्तकों की आवश्यकता प्रतीत होती थी जिन से वे देश की बोल चाल की भाषाएँ सीख सकें। इस लिए इन्हों ने हिन्दी गद्य में पुस्तकें लिखवाईं। इन्हीं दिनों मुन्शी सदासुखलाल (संवत् १८०३—१८८१) ने

"सुखसागर" लिखा। इन की भाषा का नमूना देखिए—

धन्य कहिए राजा दधीच को कि नारायण की आज्ञा अपने सीस पर चढ़ायी, अपने हाड़ ऐसे कामी कुटिल अहंकारी को दे दिये कि उन से उन हाड़ों का वज्र बनायकर वृत्रासुर से ज्ञानी से युद्ध किया और उसे मारा। जो महाराज की आज्ञा और दधीच के हाड़ का वज्र न होता तो ग्यारह जनम ताईं वृत्रासुर से युद्ध में सुरवर और प्रबल न होता और जय न पावता।

देखिए इस भाषा मे और पूर्वोल्लिखित 'मेवाड की सनद' की भाषा मे कितना बड़ा अन्तर है। इसी भाषा मे संवत् १८५५ और और १८६० के बीच सैयद ईशाअल्ला खाँ ने अपनी 'रानी केतकी की कहानी' लिखी। इन की हिन्दी बड़ी चटकीली और मुहावरेदार है। इस मे चुलबुलाहट और अनुप्रासों की भरमार है। इसी काल में लल्लूलाल जी (संवत् १८२०—१८८२) हुए। उन्होंने 'प्रेम-सागर' के अतिरिक्त 'सिंहासन बत्तीसी', 'बैताल पचीसी', 'शकुन्तला नाटक' और 'माधोनल' नामक चार पुस्तकें लिखीं। इन्हीं दिनों मे आरा के श्रीयुत सदल मिश्र (लगभग १८२४—१९०५) ने फोर्ट विलियम कालेज के गिलक्रिस्ट साहब की आज्ञा से 'नासिकेतोपाख्यान' लिखा। इन की भाषा लल्लूलाल जी से भिन्न है। यह व्यवहार मे आने वाली खड़ी बोली है। इस मे ब्रज भाषा और पूरबी हिन्दी की कहीं कहीं झलक है। इस मे उर्दू

शब्दों का भी प्रयोग पाया जाता है। इनकी हिन्दी का नमूना देखिए—

किसी समय में ब्रह्मा के पुत्र एक उद्दालक मुनि कि जिन के दर्शन से लोग पवित्र होते थे। वेद पुराण श्रुति स्मृति में बहुत निपुण और ज्ञाता क्या कहिए तो वेसे हो बड़ समर्थ सब मुनियों में श्रेष्ठ कि जिन का तपस्या हो धन था उनके सुहावने आश्रम पर कि जिस को बड़े बड़े मुनि लोग नित्य आय सेवें और जहाँ नाना प्रकार के प्रश्नों पर रुचा हो रही थीं—पिप्पलाद मुनि आन पहुँचे।

सदल सुखलाल और सदल मिश्र की भाषा एक दूसरे से बहुत कुछ मिलती जुलती है।

इसके बाद काल ६० वर्ष तक हिन्दी की प्रगति रुकी सी रही। कारण यह हुआ कि अँगरेजों ने अदालतों और सरकारी दफ्तरों में उर्दू भाषा और फारसी लिपि को प्रोत्साहित किया इस से उर्दू की उन्नति हिन्दी से पहले आरम्भ हो गई। फिर भी हिन्दी के समर्थकों ने अपना प्रयत्न नहीं छोड़ा। राजा शिवप्रसाद ने सवत् १९०२ में 'बनारस अखबार' निकाला। इस की लिपि नागरी और भाषा उर्दू होती थी। इस के पाँच वर्ष बाद काशी से 'सुधाकर' निकला। फिर संवत १९०६ में आगरे से 'बुद्धिप्रकाश' निकला। इसकी भाषा 'बनारस अखबार' की अपेक्षा सुधरी हुई होती थी।

इन्हीं दिनों आर्य समाज के पूज्य प्रवर्तक स्वामी दयानन्द जी सरस्वती (सवत् १८८१—१९४०) ने संस्कृत के प्रकाण्ड

पण्डित और काठियावाड़ी होते हुए भी अपने ग्रन्थ हिन्दी मे लिखे। इन से हिन्दी का बहुत प्रचार हुआ। इनकी हिन्दी मे गुजराती की झलक का होना स्वभाविक है।

राजा लक्ष्मणसिंह (संवत १८८३—१९५३) एक सरकारी पदाधिकारी थे। इन्हों ने, राजा शिवप्रसाद की उर्दू-फारसी के गला घोंटू शब्दों से भरी हुई हिन्दी के विपरीत, वास्तविक हिन्दी का प्रचार किया। उन्होंने संवत् १९१८ मे 'प्रजाहितैषी' पत्र निकाला। फिर 'अभिज्ञान शाकुन्तल' और 'रघुवश' का भाषान्तर किया। उनकी भाषा मे उर्दू शब्द नाम को भी नही आने पाए।

इन सब लेखकों के हिन्दी प्रचार के रहते भी हिन्दी की कोई एक शैली और भाषा निश्चित न हो सकी। इन मे से कोई पण्डिताऊपन का पुट रखता था, कोई उर्दू-फ़ारसी के मोटे मोटे शब्द ठूसता था, कोई ब्रजभाषा और पुरबी भाषा की झलक दिखाता था। आवश्यकता इस बात की थी कि हिन्दी का कोई एक ऐसा रूप निश्चित हो जाय जिस मे सारे देश के पढ़े-लिखे मनुष्य अपने भाव प्रकट कर सकें। यह काम काशी के भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र (संवत १९०७—१९४१) ने किया। इन्हों ने 'कवि वचन सुधा' और 'हरिश्चन्द्र चन्द्रिका' आदि मासिक पत्र निकाले और 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' 'कर्पूर मञ्जरी', 'सत्य हरिश्चन्द्र', 'भारत दुर्दशा', 'अन्धेर

नगरी' 'नील देवी' 'चन्द्रावली' आदि अनेक नाटक लिखे। इन्होंने 'काश्मीर-कुसुम' और 'बादशाह दर्पण' आदि कुछ थोड़े से इतिहास ग्रन्थ भी लिखे। हरिश्चन्द्र ने वर्तमान हिन्दी गद्य की धाराओं को कई दिशाओं में बहुत दूर से रोक कर एक राज मार्ग में लगा दिया। इनकी भाषा बड़ी परिमार्जित प्रभावशालिनी और गँवारूपन से रहित होती थी।

इस समय हिन्दी में बिहार-बन्धु, हिन्दी प्रदीप आनन्द कादम्बिनी पीयूष प्रवाह और भारत जीवन आदि कई अच्छे पत्र भी निकलने लगे थे। इस के अतिरिक्त लेखकों की भी एक बड़ा मण्डली तैयार हो गई थी। उन में से कुछ का नाम ये हैं—बद्रीनारायण चौधरी प्रतापनारायण मिश्र, तोताराम बी० ए०, जगमोहनसिंह श्रीनिवास दास, बालकृष्ण भट्ट बदरीराम भट्ट और राधाचरण गोस्वामी। इन में श्रीयुत बालकृष्ण भट्ट का गद्य-शैली भारतेन्दु की शैली से मिलती है। इन की भाषा में कहीं कहीं बैसवाड़ी और पूर्वी हिन्दी के शब्द आए हैं। ये अँगरेजी शब्दों का भी प्रयोग करते थे। इनके लेखों में हास्य की मात्रा भी खूब होती थी। इन्होंने संवत १६३४ में 'हिन्दी प्रदीप' नामक मासिक पत्र निकाला और सौ अजान और एक सुजान' तथा 'नूतन ब्रह्मचारी' नाम के दो छोटे छोटे उपन्यास भी लिखे।

अलीगढ़ के बाबू तोताराम बी० ए० (सं० १६०४—१६५६)

ने दो नाटक—'कीर्ति-केतु' और 'केटो कृतान्त' लिखे। इन्हों ने ही 'भारत-बन्धु' पत्र निकाला था। श्रीयुत श्रीनिवास दास (संवत् १९०८—१९४४) ने 'रणधीर-प्रेममोहिनी', 'संयोगिता-स्वयंवर', और 'तप्तावरण' नाटक और 'परीक्षा-गुरु' उपन्यास लिखा था। उनकी पुस्तकों मे संसार का अनुभव खूब भरा पडा है। मिर्जापुर के श्रीयुत बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' (संवत् १९१२—१९८०) ने 'आनन्द कादम्बिनी' (मासिक) और 'नागरी नीरद' (साप्ताहिक) निकाले थे। कानपुर के श्रीयुत प्रताप नारायण मिश्र (सवत १९१३—१९५१) अपनी भाषा मे बैसवाडे की ग्रामीण भाषा, कहावतों और शब्दो का धडल्ले से प्रयोग करते थे। इन का गद्य प्रायः हँसी से भरा रहता था। इन्होंने बहुत से बँगला ग्रन्थों का अनुवाद किया और स्वतंत्र पुस्तकें भी लिखीं।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के समय मे बँगला के उपन्यासों का अनुवाद होना शुरू हो गया था। राधाकृष्ण दास ने 'स्वर्ण-लता', प्रतापनारायण ने 'राजसिंह', 'इन्दिरा', 'राधारानी' आदि और राधाचरण गोस्वामी ने विरजा, जाविश्री, मृणमयी आदि का बँगला से अनुवाद किया।

इस से प्रकट है कि हिन्दी-साहित्य-भाण्डार की पूर्ति नाना प्रकार के रत्नों से होने लगी थी। उच्च शिक्षा-प्राप्त विद्वान् भी हिन्दी में लिखने लगे थे। परन्तु हिन्दी गद्य मे वे व्याकरण

के नियमों का पालन करना आवश्यक न समझते थे। उनकी भाषा मुहावरे और मुहावरे दार होती थी। इस दोष को दूर करने का प्रयत्न आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी (जन्म संवत् १९२१) ने किया। वे सन् १९०३ में सरस्वती के सम्पादक हुए और उन्होंने हिन्दी को खूब माँजा और लेखकों की व्याकरण सम्बन्धी भूलों की आलोचना करके उनके कान खड़े किए। पहले हिन्दी लेखक विराम चिन्हों पर बहुत कम ध्यान दिया करते थे। अब अँगरेजी और बँगला आदि दूसरी भाषाओं की देखा देखी इस में भी विराम चिन्हों का प्रयोग होने लगा।

इस समय हिन्दी का क्षेत्र बहुत विस्तृत हो चुका है। इस में सब विषयों पर दूसरी भाषाओं के अच्छे अच्छे ग्रन्थों के अनुवाद हो चुके हैं और हो रहे हैं। अनुवाद ही नहीं इतिहास, नाटक, उपन्यास कहानी आलोचना यात्रा विज्ञान आदि के मौलिक ग्रन्थ भी लिखे गये हैं। औपन्यासिकों में श्रीयुत प्रेमचन्द बी० ए० का नाम और नाटककारों में श्रीयुत जयशङ्कर प्रसाद तथा श्रीयुत नारायण प्रसाद बेताब का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इस समय सरस्वती माधुरी चाँद, सुधा, विश्वामित्र, गंगा, युगान्तर, वीणा, और वाणी आदि अनेक उच्च कोटि के सचित्र मासिक पत्र तथा पत्रिकाएँ निकल रही हैं। इन में सब विषयों पर अच्छे अच्छे लेख रहते हैं। बालकों

के लिए बालक, विद्यार्थी, बाल-सखा, चमचम, वानर, शिशु और स्त्रियों के लिए 'सहेली' निकल रही है। प्रताप, आज, विश्वामित्र, अर्जुन, हिन्दी-मिलाप और प्रभात आदि कई दैनिक भी प्रकाशित हो रहे हैं। साप्ताहिकों की तो कुछ गिनती ही नहीं। इस प्रकार हिन्दी-साहित्य-सरिता, जिस का आरम्भ विक्रम के आठवें शतक मे हुआ था और जो अपने उद्गम के पास एक बहुत क्षीण धारा थी, विकसित होते होते आज एक विशाल महानद बन गई है और इस का विस्तार दिन पर दिन बढ़ता ही जा रहा है।

विषय-सूची

संख्या　　विषय　　पृष्ठ

गोसाईं गोकुलनाथ जी

१. श्री गुसाईं जी के सेवक एक खंडन ब्राह्मण की वार्ता　३

सैयद इंशा अल्लाह खॉं

२. डोलडाल एक अनोखी बात का　.　५

श्री लल्लूलाल

३. वर्षा-शरद-ऋतु-वर्णन　...　८

संख्या विषय

राजा शिवप्रसाद, "सितारे हिन्द"

४ औरंगज़ेब की फ़ौज का वर्णन

श्री स्वामी दयानन्द सरस्वती

५ सत्यार्थ प्रकाश

श्रीयुत बालमुकुन्द गुप्त

६ एक दुराशा

'रसूम हिन्द' से

७ मनसुखी और सुन्दरसिंह का क़िस्सा

श्रीयुत बालकृष्ण भट्ट

८ माता का स्नेह

श्रीयुत महावीर प्रसाद द्विवेदी

९ पाण्डवों का विवाह

१० साहित्य की महत्ता

११ विषधर सर्प

१२ नेपालियन बोनापार्ट

श्रीयुत अयोध्यासिंह उपाध्याय

१३ दशरथ की मृत्यु

विषय-सूची

संख्या	विषय	पृष्ठ
	श्रीयुत कामता प्रसाद गुरु	
१४.	सम्भाषण मे शिष्टाचार	७३
१५.	हिन्दी मे विराम-चिन्हों का दुरुपयोग	८२
	श्रीयुत गदाधरसिह	
१६.	शुक की कथा	६४
	राय बहादुर श्यामसुन्दर दास, बी० ए०	
१७.	हिन्दी नाटक और रङ्गशाला	१११
१८.	सभ्यता का विकास	११८
	श्रीयुत रामनारायण मिश्र	
१९.	महापुरुषों के जीवन का रहस्य	१२३
	श्रीयुत माधवराव सप्रे, बी ए०	
२०.	नेता के कुछ गुण	१२८
२१.	समर्थ और शिवाजी	१३७
	श्रीयुत प्यारेलाल मिश्र, बार-एट-ला	
२२.	विलायती पत्रों का इतिहास	१४८
२३.	लन्दन के पार्क	१५३

संख्या	विषय	पृष्ठ
	श्रीयुत लक्ष्मीधर वाजपेयी	
२४	भगवान् बुद्ध का उपदेश और उनकी शिष्य मण्डली	१६२
	स्वामी सत्यदेव परिव्राजक	
२५	शिकागो का रविवार	१८१
	श्रीयुत प्रेमचन्द बी० ए०	
२६	अमावास्या की रात्रि	१९३
	श्रीयुत हरदयाल, एम० ए०	
२७	रामायण का महत्व	२०९
	श्रीयुत रामचन्द्र शुक्ल	
२८	अध्ययन	२२५
	सवश्री० बङ्किमचन्द्र चट्टोपाध्याय और रूपनारायण पाण्डेय	
२९	मन	२३८
३०	तुष्टि	२४३
	सवश्री० द्विजेन्द्रलाल राय तथा रूपनारायण पाण्डेय	
३१	राजपूतना का बदला	२४७

विषय-सूची

संख्या	विषय	पृष्ठ
	श्रीयुत भागीरथ प्रसाद दीक्षित	
३२.	हिन्दू जाति की पाचन-शक्ति .	२६०
	श्रीयुत सन्तराम बी० ए	
३३.	लाहौर मे रावी का उषाकालीन दृश्य	२७१
३४.	कान्हूजी आंग्रे	२८१
	श्रीयुत महावीरप्रसाद श्रीवास्तव, बी० ए०	
३५.	उन्नत देश के देहाती कैसे रहते हैं	२६६
	प्रोफेसर शिवाधार पाण्डेय, एम ए०	
३६.	कृष्ण-चरित .	३०८
	सर्वश्री० दिनेशचन्द्र सेन, भगवानदास हालना, तथा बद्रीनाथ शर्म्मा	
३७.	भरत ..	३३२
	श्रीयुत विश्वम्भर नाथ कौशिक	
३८.	रक्षा-बन्धन	३५२
	सर्वश्री० यतीन्द्रनाथ सोम और चण्डीप्रसाद 'हृदयेश'	
३६.	सुधा	३६६
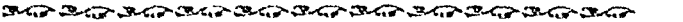
संख्या	विषय	पृष्ठ
	श्रीयुत पुराण पाठी	
४०	मध्य एशिया में खँडहरों की खुदाई का फल	३८१
	कुँवर नारायण सिंह	
४१	हमीर	३८८
	श्रीयुत हरिवल्लभ जोशी	
४२	हिन्दी-साहित्य और मुसलमान कवि	३९९
	सर्वश्री० नवीनचन्द्र सेन और सूर्य कुमार वर्मा	
४३	महाभारत	४१२
	डाक्टर लक्ष्मण स्वरूप, एम० ए०	
४४	जर्मन देश पर एक ऐतिहासिक दृष्टि	४२७
	श्रीयुत पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी, बी० ए०	
४५	त्रिमूर्ति	४३६
४६	हनरी फबर—('वैज्ञानिक जीवनी से)	४५२
	श्रीयुत शालग्राम पाण्ड्या	
४७	आकाश-गङ्गा	४५८
	श्रीयुत कृपानाथ मिश्र, एम० ए०	
४८	बर्लिन	४६८

विषय सूची
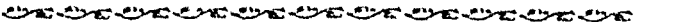
संख्या विषय

श्रीयुत जगन्नाथ प्रसाद 'मिलिन्द'

४९. राजपूतों की अद्भुत देशभक्ति

डाक्टर राम प्रसाद त्रिपाठी, एम० ए०

५०. अमेरिका की खोज

५१. दीर्घ जीवन

श्रीयुत गिरीन्द्र नारायण सिंह

५२. हरिद्वार

श्रीयुत शिवपूजन सहाय

५३ अभिमन्यु की वीरता

हिन्दी-गद्य-वाटिका

१

श्री गुसाईं जी के सेवक

(एक खण्डन ब्राह्मण की वार्ता)

लेखक—गोसाईं गोकुलनाथ जी

[गोकुलनाथ जी का स्फुरणकाल १६ वीं शताब्दी का अन्तिम काल माना जाता है। अनुमान से ये १५६८ ई० के लगभग रहे होंगे। इनके पिता विट्ठलनाथ श्रीवल्लभाचार्य जी (सन् १५२०) के पुत्र थे। इनकी दो पुस्तकें मिलती हैं—एक चौरासी वैष्णवों की वार्ता और दूसरी दो सौ बावन वैष्णवों की वार्ता। ये धर्म प्रचार के लिये लिखी हुई कहानियों का संग्रह हैं। इनका यह लेख प्राचीन काल की हिन्दी का नमूना है।]

सो श्रीनन्द गाम में रहतो हतो। सो खंडन ब्राह्मण शास्त्र पढ्यो हतो। सो जितने पृथ्वी पर मत हैं सबको खंडन करतो

ऐसो वाको नेम हतो। याही तें सब लोगन ने वाको नाम खंडन पाड्यो हतो। सो एक दिन श्री महाप्रभु जी के सेवक वैष्णवन की मंडली में आयो सो खंडन करन लाग्यो। वैष्णवन ने कही जो तेरो शास्त्रार्थ करनो होय तो पंडितन के पास जा, हमारी मंडली में तेरे आयबे को काम नहीं। इहाँ खंडन मंडन नहीं है। भगवद्वार्ता को काम है। भगवद्यश सुननो होवे तो ह्यां आयो। ताहू पर मानी नहीं। नित्य आयकें खंडन करे। ऐसी वाकी प्रकृती हती। पर एक दिन वैष्णवन को चित्त बहुत उदास भयो। जब वो खंडन ब्राह्मण घर में सूतो हतो तब चार जने वाकूं मुगदर लेकें मारन लगे। जब वाने कहो तुम मोकूं क्यों मारो हो, तब चार जनन ने कही तुम भगवद्धर्म खंडन करो हो। और भगवद्धर्म सर्वोपरि है। सब धर्मन ते श्रेष्ठ है। वैष्णव भगवत्परायण हैं। भगवत्स्मरण करत हैं। तन मन धन जिननें विनको कोऊ अपनो बाकी रह्यो नहीं है। सब सिद्ध भये हैं। ऐसे धर्मन कूं खंडन करे है। तासूं ताकूं मारें हैं। ये सुनके खंडन ब्राह्मण विन चार जनेन के पाँयन पड्यो। और दूसरे दिन भगवत मंडली में आयके वैष्णवन के पाँयन पड्यो और वैष्णवन सूं बीनती करी के मोकूं कृपा करके वैष्णव करो और वैष्णवन कृपा करि कें श्रीगोकुल आय के श्रीगुसाँई जी को सेवक भयो। सो वे खंडन ब्राह्मण श्रीगुसाँईजी की कृपा तें मंडन भयो।

—[दो सौ बावन वैष्णवों की वार्ता से]

२

डोलडाल एक अनोखी बात का

लेखक—सैयद इंशा अल्लाहखाँ

[इनके पूर्वज समरकंद से उठकर काश्मीर होते हुए दिल्ली आ गये थे। इनके पिता मीर माशाअल्लाह खाँ दिल्ली के राज दरबार में राजवैद्य थे। मुगल-साम्राज्य के अस्त होने पर वे मुर्शिदाबाद चले गये। वहाँ से पुनः दिल्ली में शाह आलम के दरबार में लौट आए। इंशा अल्लाखाँ बहुत अच्छे कवि थे। इनकी तबियत बड़ी रँगीली और चंचल थी। मुसलमान होते हुए भी इन्होंने जिस हिन्दी-पन से रँगी हुई भाषा लिखने में सफलता प्राप्त की है उसे देख कर आश्चर्य होता है। उनकी 'रानी केतकी की कहानी' में उनकी लेखनी का चुलबुलापन टपकता है।]

एक दिन बैठे बैठे यह बात अपने ध्यान में चढ़ी कि कोई कहानी ऐसी कहिए कि जिसमें हिन्दी की छुट और किसी बोली की पुट न मिले तब जाके मेरा जी फूल की कली के रूप में खिले। बाहर की बोली और गँवारी कुछ उसके बीच में न हो। अपने मिलने वालों में से एक कोई बड़े पढ़े लिखे पुराने-धुराने डाँग, बूढ़े घाग यह खटराग लाये। सिर हिलाकर, मुँह थुथाकर, नाक भौं चढ़ाकर, आँखें फिराकर लगे कहने—यह बात होते दिखाई नहीं देती। हिन्दीपन भी न निकले और भाखापन भी न हो। बस जैसे भले लोग आपस में बोलते चालते हैं ज्यों का त्यों वही सब डौल रहे और छाँह किसी की न हो, यह नहीं होने का। मैंने उनकी ठंडी साँस का टहोका खाकर झुँझला कर कहा—मैं कुछ ऐसा बढ़-बोला नहीं जो राई को परबत कर दिखाऊँ और झूठ-सच बोल कर उँगलियाँ नचाऊँ और बे सिर बे ठिकाने की उलझी-सुलझी बातें बताऊँ। जो मुझसे न हो सकता तो, यह बात मुँह से क्यों निकालता? जिस ढब से होता, इस बखेड़े को टालता। इस कहानी का कहने वाला आप को जताता है और जैसा कुछ उसे लोग पुकारते हैं, कह सुनाता है। दहना हाथ मुँह पर फेर कर आपको जताता हूँ, जो मेरे दाता ने चाहा तो वह ताव-भाव और कूद-फाँद, और लपट-झपट दिखाऊँ जो देखते ही आपके ध्यान का घोड़ा, जो बिजली से भी बहुत चंचल अच

डोलडाल एक अनोखी बात का

पलाहट मे है, अपनी चौकडी भूल जाय।

टुक घोड़े पर चढके अपने आता हूँ मै।

करतब जो कुछ हैं, कर दिखाता हूँ मै॥

उस चाहने वाले ने जो चाहा तो अभी।

कहता जो कुछ हूँ कर दिखाता हूँ मे॥

अब कान रखके, आंखें मिला के सम्मुख होके टुक इधर देखिए, किस ढब से बढ चलता हूँ और अपने फूल की पखड जैसे होठो से किस किस रूप के फूल उगलता हूँ।

["रानी केतकी की कहानी" मे]

३

वर्षा-शरद-ऋतु-वर्णन

लेखक—श्री लल्लूलाल

[लल्लूलाल का जन्म आगरे में सन् १७[illegible] ई० के लगभग हुआ था। आप फोर्ट विलियम कालेज कलकत्ता में अध्यापक थे। वहीं डाक्टर गिलक्राइस्ट की प्रेरणा से इन्होंने ब्रजभाषा मिश्रित खड़ी बोली के गद्य में प्रेम सागर नाम की पुस्तक लिखी। इस पुस्तक से हिन्दी-गद्य का बहुत प्रचार हुआ। इसीलिये इन को वर्तमान गद्य का जन्मदाता कहते हैं यद्यपि इन से पहले सन् १६७८ में जटमल ने खड़ी बोली गद्य में गोरा बादल की लड़ाई लिखी थी। लल्लूजी लाल ने यथाशक्ति उर्दू शब्दों को अपने गद्य में स्थान नहीं दिया। इससे इन के गद्य में एक प्रकार की मधुरता सी आ गई है।]

वर्षा-शरद्-ऋतु-वर्णन

श्रीशुकदेव मुनि बोले कि—महाराज! ग्रीष्म की अति अनीति देख नृप-पावस प्रचण्ड पशु, पक्षी, जीव, जन्तुओं की दशा विचार चारों ओर से दल बादल साथ ले लड़ने को चढ़ आया। तिस समय घन जो गरजता था सोई तो धौंसा बाजता था और वर्ण वर्ण की घटा जो घिर आई थी, सोई शूरवीर रावत थे। तिनके बीच बिजली की दमक शस्त्र की सी चमकती थी। बगपांत ठौर ठौर ध्वजा सी फहराय रही थी। दादुर,मोर कडखैतों की सी भाँति यश बखानते थे और बडी बडी बूँदो की झडी बाणों की सी झडी लगी। इस धूमधाम से पावस को आते देख, ग्रीष्म खेत छोड अपना जी ले भागा। तब मेघ पिया ने वर्षा.पृथ्वी को सुख दिया। उसने जो आठ महीने पति के वियोग मे योग किया था, तिसका भोग भर लिया। कुछ गिर शीतल हुए और गर्भ रहा। उसमे से अठारह भार पुत्र उपजे, सो भी फल-फूल भेंट ले ले पिया को प्रणाम करने लगे। उस काल वृन्दावन की भूमि ऐसी सुहावनी लगती थी कि जैसे शृङ्गार किये कामिनी। और जहां-तहां नदी, नाले, सरोवर भरे हुए, तिन पर हंस, सारस शोभा दे रहे, ऊंचे ऊंचे रूखों की डालियां झूम रही,उनमे पिक, चातक, कपोत, कीर, बैठ कोलाहल कर रहे थे और ठांव ठांव सूहे कुसुम्भे जोडे पहरे गोपी-ग्वाल झूलों पर झूल झूल ऊंचे सुरों से मलार गाते थे। उनके निकट जाय जाय श्रीकृष्ण, बलराम भी बाल-लीला कर कर अधिक सुख दिखाते थे।

४

औरंगजेब की फौज का वर्णन

लेखक—राजा शिवप्रसाद सितारेहिन्द

[राजा साहब का जन्म काशी में सन् १८२३ में हुआ था और सन् १८९५ में आपका देहान्त हो गया। आप यू० पी० में शिक्षाविभाग के इन्स्पेक्टर थे। सिक्खयुद्ध में सरकार का साथ देने के कारण आपको राजा तथा सी० आई० ई० की उपाधियाँ मिली थीं। आप हिन्दी के बहुत प्रेमी थे। आप की भाषा सरल होती थी परन्तु उस में उर्दू और फारसी के शब्द बहुत रहते थे।]

निदान अब जरा औरंगजेब की फौज पर निगाह करनी चाहिए, जरा इसके सर्दारों के ठाठ को देखना चाहिए। दुम और यालें बिल्कुल रंगी हुई, सोने-चांदी के साज सिर से पैर तक लदे हुए,

कलगियाँ बहुत लम्बी लम्बी, पैरों मे झांझनें बंधी हुई, मोटे इतने कि जितने लम्बे, शायद उसी के क़रीब क़रीब चौड़े, और फिर चारजामे, उन पर मखमली ज़रदोज़ी, बड़े भारी दोनों तरफ़ लटकते हुए। सवार घोड़ों से भी ज़ियादा देखने लायक हैं। कोई अपने से ज़ियादा भारी दगला और ज़िरह बकतर पहने हुए, कोई घेरदार जामा और शाल-दुशाले लपेटे हुए। लेकिन चेहरे ज़र्द, रात के जागे, नशे मे चूर या दवा खाते-पीते। दस क़दम घोड़ा चला, घोड़े को पसीना आया, सवार बेहोश हो गया। अगर दूर चलना पड़ा, दोनों बेदम हो कर गिर पड़े। जैसे सरदार वैसे ही उनके पियादे और सवार। लशकर मे जहाँ दस सिपाही तो सौ बनिये दूकानदार, भांड-भगतिये, रण्डी-छोकरे, नौकर-ख़िदमतगार, ख़ानसामाँ। रसद काहे को मिल सकती। डेरे-डण्डे, ऐश-इशरत के साज़-सामान इतने कि कभी अच्छी तरह बार बर्दारी की तदबीर न हो सकती। तलवार पीछे रह जाय मुज़ाइका नहीं, पर तम्बूरा साथ रहना चाहिये। दुश्मन वार किये जाय परवा नहीं, पर चिलम न जलने पावे। उस वक्त का एक फ़रांसीसी इस फ़ौज की खूब तारीफ़ लिखता है। वह लिखता है कि तनख्वाहें बहुत बड़ी बड़ी और चाकरी कुछ भी नही। न कोई पहरा देता है न दुश्मन से मुक़ाबला करता है। और बड़ी से बड़ी सज़ा हुई तो एक दिन की तनख्वाह कट जाती है। जिमेली करेरी (Gemelli Carreri) ने मार्च सन् १६६५ ई० मे औरंगजेब की छावनी गलगले

में देखी थी। वह लिखता है कि दस लाख से ऊपर आदमी थे और उस काल में तो केवल बादशाह और शाहजादों के डेरे खड़े थे। इनका काम पड़ा उन मरहट्टों से जो अँगरखा, जाँघिया चकपनी पगड़ी पहने, कमर कसे, हाथ में भाला दक्खनी, घोड़ों पर सवार, तीस कोस तो हवा खाने को घूम आते थे। न थकते, न मांदे होते थे। जौ बाजरे की रोटी प्याज के साथ उनका खाना था और घोड़े का जीन तकिया, ज़मीन बिछौना और आसमान शामियाना था।

—[इतिहास तिमिरनाशक से]

५

सत्यार्थ-प्रकाश

लेखक—श्री स्वामी दयानन्द जी सरस्वती

[आर्य समाज के प्रसिद्ध प्रवर्तक स्वामी दयानन्द जी का जन्म काठियावाड के अन्तर्गत टङ्कारा नगर मे संवत १८८१ विक्रमी में हुआ था। पहले इनका नाम मूलजी था। संन्यास लेने पर इनका नाम दयानन्द हुआ। स्वामी जी की मातृभाषा गुजराती थी तो भी आपने राष्ट्र भाषा हिन्दी मे अपने ग्रन्थ लिखे। स्वामी जी उच्चकोटि के धर्माचार्य, परम विद्वान्, समाज-सुधारक और सच्चे सन्यासी थे। आपने अपने सब अनुयायियो के लिये आर्य भाषा अर्थात् हिन्दी का सीखना आवश्यक ठहराया था। इनके एक ही ग्रन्थ, सत्यार्थ-प्रकाश, को पढ़ने के लिए लाखों मनुष्यों ने हिन्दी सीखी। स्वामी जी की हिन्दी संस्कृत-गर्भित है और मुहावरा भी संस्कृत का ही है। संवत् १९४० विक्रमी की दीवाली को विष-प्रयोग से आपका देहान्त हुआ।]

मेरा इस ग्रन्थ के बनाने का मुख्य प्रयोजन सत्य सत्य अर्थ का प्रकाश करना है अर्थात् जो सत्य है उसको सत्य और जो मिथ्या है उसको मिथ्या ही प्रतिपादन करना सत्य अर्थ का प्रकाश समझा है। वह सत्य नहीं कहाता जो सत्य के स्थान में असत्य और असत्य के स्थान में सत्य का प्रकाश किया जाय किन्तु जो पदार्थ जैसा है उस को वैसा ही कहना, लिखना और मानना सत्य कहाता है। जो मनुष्य पक्षपाती होता है वह अपने असत्य को भी सत्य और दूसरे विरोधी मत वाले के सत्य को भी असत्य सिद्ध करने में प्रवृत्त होता है। इसलिए वह सत्य मत को प्राप्त नहीं हो सकता। इस लिए विद्वान् आप्तों का यही मुख्य काम है कि उपदेश वा लेख द्वारा सब मनुष्यों के सामने सत्यासत्य का स्वरूप समर्पित कर दें। पश्चात् वे स्वयं अपना हिताहित समझ कर सत्यार्थ का ग्रहण और मिथ्यार्थ का परित्याग करके सदा आनन्द में रहें। मनुष्य का आत्मा सत्यासत्य का जानने वाला है तथापि अपने प्रयोजन की सिद्धि, हठ, दुराग्रह और अविद्यादि दोषों से सत्य को छोड़ असत्य में झुक जाता है। परन्तु इस ग्रन्थ में ऐसी बात नहीं रक्खी है और न किसी का मन दुखाना वा किसी की हानि पर तात्पर्य है। किन्तु जिस से मनुष्य जाति की उन्नति और उपकार हो, सत्यासत्य को मनुष्य लोग जान कर सत्य

का ग्रहण और असत्य का परित्याग करें, क्योंकि सत्योपदेश के बिना अन्य कोई भी मनुष्य-जाति की उन्नति का कारण नहीं है।

इस ग्रन्थ मे जो कहीं कहीं भूल चूक से अथवा शोधने तथा छापने मे भूलचूक रह जाय उसको जानने जनाने पर जैसा वह सत्य होगा वैसा ही कर दिया जायगा। और जो कोई पक्षपात से अन्यथा शङ्का वा खण्डन-मण्डन करेगा उस पर ध्यान न दिया जायगा। हां, जो वह मनुष्य-मात्र का हितैषी होकर कुछ जनावेगा उसको सत्य सत्य समझने पर उसका मत संगृहीत होगा। यद्यपि आज कल बहुत से विद्वान् प्रत्येक मतों मे हैं वे पक्षपात छोड सर्वतंत्र सिद्धान्त अर्थात् जो जो बातें सब के अनुकूल सब मे सत्य है उन का ग्रहण और जो एक दूसरे से विरुद्ध बातें है उन का त्याग कर परस्पर प्रीति मे वर्त्तें वर्त्तावें तो जगत् का पूर्ण हित होवे। क्योंकि विद्वानों के विरोध से अविद्वानों मे विरोध बढ कर अनेक विधि दुःख की वृद्धि और सुख की हानि होती है। इस हानि ने जो कि स्वार्थी मनुष्यों को प्रिय है सब मनुष्यों को दुःख-सागर मे डुबा दिया है। इस मे से जो कोई सार्वजनिक हित लक्ष्य मे धर प्रवृत्त होता है उस से स्वार्थी लोग विरोध करने मे तत्पर होकर अनेक प्रकार विघ्न करते हैं। परन्तु "सत्यमेव जयते नानृतं सत्येन पन्था विततो देवयानः"

अर्थात् सर्वदा सत्य का विजय और असत्य का पराजय और सत्य ही से विद्वानों का मार्ग विस्तृत होता है, इस दृढ़ निश्चय के आलम्बन से आप्त लोग परोपकार करने में उदासीन होकर कभी सत्यार्थ प्रकाश करने से नहीं हटते। इस ग्रन्थ में यह अभिप्राय रक्खा गया है कि जो जो सब मतों में सत्य सत्य बातें हैं वे वे सब में अविरुद्ध होने से उनका स्वीकार करके जो जो मत-मतान्तरों में मिथ्या बातें हैं उन उन का खण्डन किया है। इस में यह भी अभिप्राय रक्खा है कि सब मत-मतान्तरों की गुप्त वा प्रकट बुरी बातों का प्रकाश कर विद्वान् अविद्वान् सब साधारण मनुष्यों के सामने रक्खा है, जिससे सब से सब का विचार होकर परस्पर प्रेमी हो के एक सत्य मतस्थ होवें। यद्यपि मैं आर्यावर्त्त देश में उत्पन्न हुआ और बसता हूँ तथापि जैसे इस देश के मत-मतान्तरों की झूठी बातों का पक्षपात न कर याथातथ्य प्रकाश करता हूँ वैसे ही दूसरे देशस्थ वा मतोन्नति वालों के साथ भी वर्त्तता हूँ, तथा सब सज्जनों को भी वर्त्तना योग्य है, क्योंकि मैं भी जो किसी एक का पक्षपाती होता तो जैसे आज कल के स्वमत की स्तुति, मण्डन और प्रचार करते और दूसरे मत की निन्दा, हानि और बन्द करने में तत्पर होते हैं वैसे मैं भी होता, परन्तु ऐसी बातें मनुष्यपन से बाहर हैं।

[सत्यार्थ प्रकाश से]

६

एक दुराशा

लेखक—श्रीयुत बालमुकुन्द गुप्त

(सन् १८६३ से सन् १९०७ तक)

[बालमुकुन्द जी जिला रोहतक के गुरियानी ग्राम के निवासी थे। पहले उर्दू में ही लिखा करते थे। सन् १८८९ तक 'कोहनूर' और 'अवध पंच' आदि उर्दू पत्रों का संपादन करते रहे। फिर श्री० मदन मोहन मालवीय तथा श्री० प्रताप नारायण मिश्र के सत्सङ्ग में पड़ कर उन्होंने हिन्दी सीखी और उर्दू को एकदम छोड़ दिया। अब वे साप्ताहिक भारत मित्र तथा हिन्दी बंगवासी के संपादक हुए। इनके लेखों में हास्य और व्यङ्ग दोनों हैं। इनकी चुभीली भाषा की रोचकता उन्हीं गुणों पर निर्भर है।

बालमुकुन्द जी की शैली का झुकाव अधिकतर शुद्ध हिन्दी की ओर है राजा शिवप्रसाद की तरह उस में उर्दू शब्दों का भरमार नहीं। साधारणतः उन की भाषा में एक प्रकार की पैनाधार भी होती है।]

नारंगी के रस में जाफ़रानी वसन्ती बूटी छान कर शिव शम्भु शर्मा खटिया पर पड़े मौजों का आनन्द ले रहे थे। ख़याली घोड़े की बागें ढीली कर दी थीं। वह मनमानी जकन्दें भर रहा था। हाथ पांवों को भी स्वाधीनता दी गई थी। वह खटिया के तूल अरज की सीमा उल्लंघन करके इधर उधर निकल गये थे। कुछ देर इसी प्रकार शर्मा जी का शरीर खटिया पर था और ख़याल दूसरी दुनिया में। अचानक एक सुरीली गान की आवाज़ ने चौंका दिया। कन रसिया शिवशम्भु खटिया पर उठ बैठे। कान लगा कर सुनने लगे। कानों में यह मधुर गीत बार-बार अमृत ढालने लगा—

"चलो-चलो आज खेलें होली, कन्हैया घर"।

कमरे से निकल कर बरामदे में खड़े हुए। मालूम हुआ कि पड़ोस में किसी अमीर के यहाँ गाने बजाने की महफ़िल हो रही है। कोई सुरीली लय से उक्त होली गा रहा है। साथ ही देखा, बादल घिरे हुए हैं, बिजली चमक रही है, रिमझिम झड़ी लगी हुई है। वसन्त में सावन देख कर अक्ल ज़रा चक्कर में पड़ी।

विचारने लगे कि गाने वाले को मलार गाना चाहिये था न कि होली। साथ ही खयाल आया कि फागुन सुदी है, वसन्त के विकास का समय है, वह होली क्यों न गावे। इसमे तो गाने-वाले को नहीं विधि की भूल है, जिसने वसन्त मे सावन बना दिया है। कहां तो चांदनी छिटकी होती, निर्मल वायु बहती, कोयल की कूक सुनाई देती, कहां भादों की सी अंधियारी है, वर्षा की झडी लगी हुई है। ओह! कैसा ऋतु-विपर्यय है।

इस विचार को छोड कर गीत के अर्थ का जी मे विचार आया। होली खिलैया कहते है कि चलो आज कन्हैया के घर होली खेलेंगे! कन्हैया कौन? ब्रज के राजकुमार। और खेलने वाले कौन? उनकी प्रजा ग्वाल बाल। इस विचार ने शिवशम्भु शर्मा को और भी चौंका दिया कि एँ! क्या भारत मे ऐसा समय भी था जब प्रजा के लोग राजा के घर जाकर होली खेलते थे और राजा-प्रजा मिल कर आनन्द मनाते थे? क्या इसी भारत मे राजा लोग प्रजा के आनन्द को किसी समय अपना आनन्द समझते थे? यदि आज शिवशम्भु शर्मा अपने मित्रवर्ग सहित अबीर-गुलाल की झोलियां भरे, रङ्ग की पिचकारियां लिये, अपने राजा के घर होली खेलने जाये तो कहां जाये? राजा दूर, सात समुद्र पार है। न राजा को शिवशम्भु ने देखा न राजा ने शिवशम्भु को? खैर, राजा नहीं, उसने अपना प्रतिनिधि भारत भेजा है। कृष्ण द्वारिका ही मे हैं पर उद्धव को

प्रतिनिधि बना कर ब्रजवासियों को सतोष देने के लिये ब्रज में भेजा है। क्या उस राजप्रतिनिधि के घर जाकर शिव शम्भु होली नहीं खेल सकता? थाक! यह विचार वैसा ही बेतुका है जैसे अभी वर्षा में होली गाई जाती थी। पर इसमें गाने वाले का क्या दोष है? वह तो समय समझ कर ही गा रहा था। यदि वसन्त में वर्षा की झड़ी लगे तो गाने वाले को क्या मलार गाना चाहिये? सचमुच बड़ी कठिन समस्या है। कृष्ण हैं, उद्धव हैं, पर ब्रजवासी उनके निकट भी नहीं फटकने पाते। सूर्य है, धूप नहीं। चन्द्र है, चाँदनी नहीं। माई लार्ड नगर ही में है पर शिवशम्भु उनके द्वार तक नहीं फटक सकता है, उनके घर चल कर होली खेलना तो विचार ही दूसरा है। माई लार्ड के घर तक जाने की हवा नहीं पहुँच सकती! जहाँगीर की भाँति उसने अपने शयनागार तक ऐसा कोई घंटा नहीं लगाया जिसकी जंजीर बाहर से हिलाकर प्रजा अपनी फरयाद उन्हें सुना सके। उसका दर्शन दुर्लभ है। द्वितीया के चन्द्र की भाँति कभी-कभी बहुत देर तक नजर गड़ाने से उसका चन्द्रानन दिख जाता है तो दिख जाता है। लोग उँगलियों से इशारे करते हैं कि वह है। किन्तु दूज के चाँद का उदय का भी एक समय है। लोग उसे जान सकते है। माई लार्ड के मुखचन्द्र के उदय के लिये कोई समय भी नियत नहीं।

इन सब विचारों ने इतनी बात तो शिवशम्भु के जी मे भी पक्की कर दी कि अब राजा-प्रजा के मिल कर होली खेलने का समय गया। तो भी इतना संदेश भंगड शिवशम्भु अपने प्रभु तक पहुँचा देना चाहता है कि आपके द्वार पर होली खेलने की आशा वाले एक ब्राह्मण को कुछ नही तो कभी-कभी पागल समझ कर ही स्मरण कर लेना। वह आपकी गूँगी प्रजा का एक वकील है।

—("शिवशम्भु का चिट्ठा" से)

७

मनसुखी और सुन्दर सिंह का किस्सा

[इस ग्रन्थ के लेखक का नाम मालूम नहीं। इसकी भाषा मेरठ और दिल्ली जिले के ग्राम की है। ग्रामों की स्वाभाविक बोली हाल म इस में निगम खूब है।]

एक दफे बहार के मौसम में जब कि जाड़ा बीत गया और जङ्गल में तरह-तरह के बेल-बूटे और रंग-रंग के फूल खिलने लगे, अहीरपुर गाँव में सीतला का बड़ा मेला हुआ। वहाँ की तमाम औरतें और मर्द हाथ में पुजापा लिए अपने-अपने घरों से बाहर निकले। रस्ते में सम-वयस्क लड़कियाँ आपस में हँसती-बातती सीतला के सुहेले गाती जाती थीं। इन में एक अहीर की लड़की, जिसका नाम मनसुखी था, अपने चचा सुजानसिंह नम्बरदार और चची सुन्दरकौर के साथ घर से

बाहर निकली। इसी समय उनका पुरोहित ज्ञानचन्द मिश्र भी अपनी बेटी पार्वती को साथ लिये माताजी की पूजा करने उनके साथ हुआ। मनसुखी ने पार्वती को देखते ही उसका हाथ पकड लिया और दोनो की बातें होने लगी। इसमे पार्वती ने कहा—मनसुखी! तेरे ब्याह को तो पाँच बरस हो गये होंगे और तू भी पन्द्रह वर्ष की हुई, अब गौना कब होगा?

उसने उत्तर दिया—अब के बरसात मे बताते है। फिर पार्वती ने कहा—जीजी, तेरा बनडा तो बडा सुन्दर है। यह बात सुन कर मनसुखी मुस्कराई और कहने लगी—हाँ, जीजी! मैंने भी उसे कई बेर छुप-छुपा कर देखा था। मुझे भी उसकी सूरत भली लगी थी। पार्वती ने कहा—मनसुखी! अब तो तेरे गौने का महीना ही भर रह गया है। जब तू अपने बनडे के साथ चली जायगी तो मुझ से काहे को मिलेगी? छः सात महीने पीछे कभी आई, दो चार दिन रह गई। फिर तू कहाँ और हम कहाँ। मनसुखी बोली—नहीं री, मेरे चाचा ने यह सोचा है कि उसको अपने ही घर रक्खें। वह बडा निर्धन हो गया है। पार्वती ने कहा—जीजी, यह तो भगवान् की माया है। ढलती-फिरती छांव है। धन-दौलत किसके थिर रही है। पर यह अच्छा हुआ कि तेरा बनडा यहीं आ रहेगा। मनसुखी ने कहा—क्या मिट्टी अच्छा हुआ! जीजी, सब धन के गर्जी हैं। अब मेरे चाचा-चाची इसकी वैसी आव-

भगत वहीं कर हैं, जैसे पहले करते थे। फिर पार्वती ने पूछा—मनसुखी, तेरे चाचा-चाची किस कारण माता की *जात देने आए हैं? उसने कहा—तुझे खबर नहीं? जब मेरे भाई के माता निकली और सारी देह में कहीं तिल रखने की जगह न रही और उसके जीने की आस जाती रही, उस समय मेरी चाची ने †पलहँडे तले माता से ‡अरदास करके कहा था कि माता रानी, अपने गुलाम पर दया कर। जब यह पाँच बरस का होगा, मैं तेरी जात दूँगी, और तेरे नाम पर एक बछड़ा छोड़ूँगी, और भगत को जोड़ा पहनाऊँगी। सो अब मेरा मोहन भाई पाँच बरस का हो गया है। इसलिए हम जात देने आए हैं।

ये बातें इन लड़कियों में हो ही रही थीं कि इतने में सबके सब सीतला के मन्दिर के पास आ पहुँचे। मनसुखी पार्वती से जुदा होकर अपनी चची के साथ हो ली और अपने भाई मोहन को गोद में लेकर मन्दिर के भीतर गई। क्या देखती है कि वहाँ एक पीतल की मूर्ति फूल और हारों से लदी हुई रक्खी है। मनसुखी की चची ने अपने भाया से कहा—ले मोहन की माँ, पुजापा निकाल और छोरे के हाथ से छुआ के महारानी पर चढ़ा दे और भगत जी को जोड़ा पहना दे, और बछड़े को छोड़ दे।

---

* भेंट। † हँडियों की घड़ौंची। ‡ विनय।

मनसुखी की चची ने सब पुजापा चढा दिया। फिर सब के सब मन्दिर के बाहर निकले। एक भङ्गी ने आते ही मुर्ग फडफडाया और कहा—दाता की खैर! सदके का पैसा दिलाओ। दूसरी तरफ से एक और भङ्गी सुअर का बच्चा हाथ मे लिए हुए आया और दो चार बार लडके के सिर पर वार के छोड दिया। और कहा—घीटे की छुडवाई का पैसा मिल जाय। चन्द्रकौर ने इन दोनों को एक-एक पैसा दे दिया। ज़रा ही आगे बढे होंगे कि एक औरत मिट्टी की मूरती लिए हुए सामने से नज़र पडी और चन्द्रकौर को देख कर बोली—कलेजे वाली की भी भेंट चढाती जा। एक और बोली - फफोले वाली से भी डर। एक ने कहा—खुजली माता का भी पैसा रखती जा। मनसुखी की चची ऐसे भयानक शब्द सुन कर कांपती थी और हर एक के आगे पैसा रखती जाती थी। अन्त को जब पैसे देते-देते हैरान होगई तो जल्दी से पीछा छुडा कर एक तरफ़ को चली। और वहीं एक पेड के तले सब ने इकट्ठे हो कर बासी खाना खाया। जब खाना खा चुके और मेला कम हो गया, तो वे भी अपने घर की तरफ़ चले। और वहाँ पहुँच कर अपने-अपने काम मे लग गये।

उसी दिन रात्रि के समय जब घर के सब लोग एकत्र थे, सुजानसिंह एक खाट पर बैठा हुक्का पी रहा था और उसकी स्त्री एक ओर भूमि पर बैठी थी। दूसरी ओर मनसुखी मोहन

को खाना खिला रही थी। सुजानसिंह ने अपनी स्त्री से मनसुखी के गौने का जिक्र किया और कहा—मोहन की माँ, मनसुखी का लड़का एक महीने पीछे आयगा और वह यहीं रहेगा। उसकी स्त्री ने कहा—सामने की कोठरी खाली कर दूँगी। गौने का भी सारा सामान धरा है। थोड़ी देर तक उसमें यही बातें होती रहीं। फिर मनसुखी और मोहन भीतर के दालान में अपनी खाट बिछा कर सो रहे। बाहर के दालान में चन्द्रकौर अपने छोटे बेटे को लेकर लेट गई और सुजानसिंह इसी दालान की कोठरी में जा पड़ा।

—["रस्म रिवाज" से]

❖

८

माता का स्नेह

वात्सल्य-रस की शुद्ध मूर्त्ति माता के सहज स्नेह की तुलना इस जगत् मे, जहां केवल अपना स्वार्थ ही प्रधान है, कहीं ढूंढ़ने से भी न मिलेगी। दादी, दादा, चाचा, ताऊ आदि का स्नेह मर्यादा-परिपालन के ध्यान से देखा जाता है, किन्तु माता-पिता का स्नेह पुत्र मे निरे वात्सल्य-भाव के मूल पर है। अब इन दोनों मे विशेष आदरणीय, सच्चा और निःस्वार्थ प्रेम किसका है, इसी बात को हम यहां बतलाना चाहते हैं।

बहुत लोगों की अनुमति है कि लाड़-प्यार से लड़के बिगड़ जाते हैं, पर सूक्ष्म विचार से देखा जाय तो बालकों मे अच्छी-अच्छी बातों का अंकुर गुप्त रीति पर प्यार ही से जमता है।

यन के एक विद्वान ने लिखा है कि मेरी माँ के प्यार भरे चुम्बन ने मुझे चित्रकारी में प्रवीण कर दिया। गुरु जितना शाला में भय और ताड़ना दिखला कर वर्षों में सिखला ता है उतना अपने घर में लड़के माँ के अकृत्रिम सहज स्नेह क दिन में सीख लेते हैं। माँ के स्वाभाविक, सच्चे और त्रिम प्रेम का प्रमाण इससे बढ़ कर और क्या मिल सकता लड़का कितना ही रोता अथवा मुरझाया हुआ हो, माँ की में जाते ही चुप हो जाता है और जहाँ थोड़ी देर तक लड़के ध न पिया माँ के स्तन भर आते हैं, दूध टपकने लगता है वह विकल हो जाती है। दस मास तक गर्भ में धारण का क्लेश, जनने के समय की पीड़ा, उसके पालन ण की चिन्ता, उसे नीरोग और प्रसन्न देख कर चित्त का स, रोगी तथा अनमने देख अत्यन्त विकल होना इत्यादि माता ही में पाया जाता है। लड़का कुपूत और निकम्मा ल जाय तो बाप उसका साथ नहीं देता, वह उसे घर से ाल अलग कर देता है, पर माँ बहुधा पति का भी त्याग निकम्मे पुत्र का साथ देती है। दो चार नहीं वरन् हजारों माताएँ देखी गई हैं जिन्होंने बालक की अत्यन्त कोमल स्था ही में पिता के न रहने पर चक्की पीस-पीस कर अपने को पाला और उसे पढ़ा लिखा कर सब भाँति समर्थ और य कर दिया। पुत्र भी ऐसे सुयोग्य हुए हैं कि सब भाँति भरे

पूरे घरानों मे भी न निकलेंगे। महाकवि श्रीहर्ष के पिता ने, जब ये केवल पांच ही वर्ष के थे वाद मे पराजित होकर लाज से तन त्याग दिया तो इनकी मां ने चिन्तामणि-मन्त्र का इनसे जप करवाया और सरस्वती देवी का कृपापात्र बना इन्हे बड़ा भारी पण्डित बना दिया और पीछे से अपने पति के पराजित करनेवाले पण्डित को वाद मे हरा कर पूरा बदला चुकवाया।

पुराणों मे ऐसी अनेक कथाएँ मिलती है जिनमे माता का वात्सल्य टपक रहा है। माता का एक बार का प्रोत्साहन पुत्र के लिए जैसा उपकारी और उसके चित्त मे प्रभाव उत्पन्न करनेवाला होता है वैसी पिता की सौ बार की शिक्षा और ताडना भी नही। सौतेली मां सुरुचि के वज्रपात-सदृश वाक्प्रहार से ताडित और पिता की अवज्ञा और निरादर से अत्यन्त सन्तापित ध्रुव को, जब ये केवल पांच ही वर्ष के बालक थे—माता का एक बार का प्रोत्साहन ध्रुव पदवी की प्राप्ति का हेतु हुआ, जिसके समान उच्च और स्थिर पद आज तक किसी को मिला ही नहीं। पिता का स्नेह बहुधा बदला चुकाने की इच्छा से होता है। वह पुत्र को इसी लिए पालता-पोसता और पढाता-लिखाता है कि बुढापे मे वह हमारे काम आयेगा; जब हम सब भांति अपाहिज और अपङ्ग हो जायँगे तो हमारी सेवा करेगा और हमारे अन्न-वस्त्र की चिन्ता रक्खेगा। पर मां का उदार और अकृत्रिम प्रेम इन सब बातों की कभी इच्छा नहीं रखता।

माँ अपनी प्रिय सन्तान के लिए कितना कष्ट सहती है जिसको स्मरण कर चित्त में वात्सल्य भाव का उद्रेक हो आता है। माता के स्नेह में पिता के समान प्रत्युपकार की वासना भी नहीं है। दया माता देह धर सामने आकर खड़ी हो जाती है। टूटी फूस की झोपड़ी में जब मूसलाधार पानी बरस रहा है, फूस का ठाठ सड़ जाने से पानी टपकता है कि कहीं तिल भर भी जगह नहीं बची है, न कङ्गाली के कारण इतना कपड़ा-लत्ता पास है कि आप ओढ़े और प्रिय सन्तान को ढाँप कर वृष्टि से बचाये, इस समय में आधी धोती से अपने दुध-मुँहे बालक को ढाँपे माता उसको छाती से लगाये हुए है। अपने प्राण और देह की तनिक भी चिन्ता नहीं है, किन्तु वात और वृष्टि से पुत्र का कोई अनिष्ट न हो, इसलिए वह अत्यन्त व्यग्र हो रही है। पुत्र की रोगी और अस्वस्थ्य दशा में पलङ्ग के पास उदास बैठी मन मारे उसका मुँह ताक रही है। रात की नींद दिन का भोजन दुस्तर हो गया है। भाँति-भाँति की मिन्नतें मानती है। जो कोई कुछ कहता है वह सब कुछ करती जाती है। अपनी जान तक चाहे चली जाय पर पुत्र का स्वास्थ्य लाभ हो। पिता को अपने शरीर पर इतना कष्ट उठाना कभी न आयगा। यह माता ही है जो पुत्र के स्वाभाविक स्नेह के वश हो इतने-इतने दुःख सहती है। बुद्धिमानों ने इन्हीं सब बातों को सोच विचार कर लिख दिया है कि पिता से माँ का गौरव सौ गुना अधिक

है। माँ का केवल गौरव मान बैठ रहना कैसा। हम तो कहेंगे कि पुत्र जन्म भर तन, मन, धन से माँ की सेवा करे तो भी उससे उऋण नहीं हो सकता। भाई-बहन मे, भाई-भाई मे, या बहन-बहन मे परस्पर स्नेह का बन्धन और बहुधा समान शील का होना माँ ही के दूध का परिणाम है। एक ही माँ का दूध सब पीते है, इसीलिए वे इतने प्रेमबद्ध रहते है। रहस्य-लीला मे गोपियों ने भगवान् से तीन प्रश्न किए, जिनमें उन्होंने तीन तरह के प्रेम का मार्ग दिखाया है। एक तो वे जो प्रेम करने पर प्रेम करते हैं, दूसरे वे जो उनसे चाहो प्रेम करो वा न करो, तुम से प्रेम करते हैं, तीसरे वे जो ऐसे दुष्ट है कि उनसे कितना ही प्रेम करो तो भी नहीं पसीजते। इसके उत्तर मे भगवान् ने कहा है कि जो परस्पर प्रेम करते है वह तो एक प्रकार का बदला है, स्वच्छ स्नेह उसे न कहेंगे। काम पड़ने पर शत्रु मित्र बना ही करते है, उसमे सौहार्द धर्म-मूल नही है, किन्तु दोनों परस्पर स्वार्थी हुए तो कुछ न कुछ कपट उन मे अवश्य ही रहेगा। मन मे कपट का लेश भी आया कि स्वच्छ स्नेह की जड कट गई। केवल धर्म ही धर्म और स्नेह को दर्पण के समान प्रकाश कर देने वाला जिसमे बदला पाने की कही गन्ध भी नही वह स्नेह वही है जो दया के साक्षात् स्वरूप माँ और बाप पुत्र मे रखते है।

—बालकृष्ण भट

९

पाण्डवों का विवाह

लेखक—श्रीयुत महावीर प्रसाद द्विवेदी

[श्री द्विवेदी जी का जन्म सन् १८६४ ईसवी में रायबरेली ज़िले के दौलतपुर नामक गाँव में हुआ था। आप पहले तार विभाग में नौकर थे। फिर नौकरी छोड़ कर आप हिन्दी साहित्य की सेवा में लग गए। आपने प्रयाग की सुप्रसिद्ध हिन्दी पत्रिका, सरस्वती का लगभग बीस वर्ष तक सफलतापूर्वक सम्पादन किया। आप हिन्दी के आचार्य माने जाते हैं। आपकी भाषा बड़ी परिमार्जित और ज़ोरदार होती है। आप सदा सरल और छोटे वाक्य लिखते हैं। आपने संस्कृत तथा अँगरेज़ी के कई उत्तमोत्तम ग्रन्थों का हिन्दी में अनुवाद किया है। आपने ३० से ऊपर ग्रन्थ लिखे हैं। अस्वस्थ रहने के कारण अब आपने लिखना छोड़ रक्खा है।]

कुन्ती के साथ पाण्डव लोग रास्ते मे रमणीक सरोवर के पास ठहरते हुए, दक्षिण-पाञ्चाल देश की तरफ चलने लगे। रास्ते मे उनको बहुत से ब्राह्मण मिले जो स्वयम्वर देखने के लिए जा रहे थे। ब्राह्मण लोग यह न जानकर कि पाण्डव कहां जा रहे हैं और उनको भी अपनी ही तरह ब्राह्मण समझ कर कहने लगे—

"तुम लोग हमारे साथ पाञ्चाल चलो। वहां एक महा अद्भुत उत्सव होने वाला है। राजा द्रुपद ने यज्ञ की वेदी से एक कन्या पाई थी। उसी कमल-नयनी का स्वयम्वर रचा जायगा। हम उसी का अनुपम रूप और उसी के स्वयम्वर का ठाठ बाट देखने जाते हैं। वहां अनेक देशों से कितने ही बडे-बड़े योद्धा और अस्त्र-विद्य मे निपुण राजे और राजकुमार आवेंगे। मङ्गल-पाठ करने वाले सूत, पुराण जाननेवाले मागध, स्तुति करनेवाले बन्दीगण, नट, नाचनेवाले और अनेक देशों के योद्धा लोग वहां आकर अपने-अपने कर्तब दिखायेंगे।"

यह सुन कर पाण्डव लोग ब्राह्मणों के साथ हो लिये और शीघ्र ही पाञ्चाल नगर मे जा पहुंचे। देश देशान्तर से आये हुए राजा लोग जहां उतरे थे, वे सब स्थान और नगर अच्छी तरह देखकर पाण्डव ब्राह्मणों की तरह एक कुम्हार के घर मे जा कर उतरे। राजा द्रुपद ने मन ही मन मे यह ठान ली थी कि मैं अपनी कन्या उसी को दूंगा जो बहुत बड़ा धनुर्धारी होगा।

इस इरादे से उन्हों ने एक ऐसा धनुष बनवाया था जिस पर प्रत्यंचा चढ़ा कर झुकाना बड़ा कठिन काम था। उन्हों ने एक आकाश-यन्त्र भी तैयार कराया था। यह यन्त्र अधर में लटका हुआ फिरा करता था। उसी यन्त्र में, बहुत ऊँचाई पर, एक निशाना लटकाया गया था। यह सब करके राजा द्रुपद ने मुनादी करा दी थी कि जो कोई इस धनुष को तान कर पाँच ही बाणों में हिलनेवाले यन्त्र के छेद के भीतर से निशाना मार सकेगा, उसी को मैं कन्यादान दूँगा।

इस के लिये नगर से मिली हुई एक साफ चौरस ज़मीन पर स्वयम्वर-स्थान बनाया गया। सभा स्थल के घेरे और दीवार बनाई गई और खाइयाँ खोदी गईं। फिर उस में जगह जगह पर द्वार बनाये गये। रङ्गभूमि में चारों तरफ दूध के समान शुभ्र राजभवन, मणियों से जड़ी हुई उनकी छतें और आँगन, बराबर बराबर जगह पर बने हुए एक ही तरह के सब दरवाजे, मनोहर सीढ़ियाँ और विचित्र पुष्पों की मालाओं से शोभित चँदोवे आदि अपूर्व शोभा धारण किये हुए थे।

राजा द्रुपद के प्रण को सुन कर चारों तरफ से राजा लोग आने लगे। कर्ण के साथ दुर्योधन आदि कुरु लोग, तथा बलदेव और कृष्ण आदि यादव लोग भी आये। अनेक स्थानों से ऋषि और ब्राह्मण लोग उत्सव देखने के लिये आये। राजा द्रुपद ने सब का यथोचित सत्कार किया और स्वयम्वर का दिन

आने तक मेहमानों का मन बहलाने के लिए नाच, गाना-बजाना, तरह-तरह के कला-कौशल और कसरतें दिखलाने की व्यवस्था की।

इस तरह पन्द्रह दिन बीत गये। स्वयम्वर का शुभ दिन आ पहुँचा। रंगभूमि मे सुगंधित जल का छिडकाव हुआ। दर्शक लोगों के लिए बनाये गये मचानों पर जगह-जगह पर अच्छे-अच्छे आसन और दूध के समान सफेद सेजें बिछाई गईं, और अस्त्र-विद्या मे निपुण बडे-बडे वीर, बडे-बड़े बली, नौजवान राजा लोग बडे ही सुहावने वस्त्राभूषणों से सजकर और अस्त्र-शस्त्र धारण करके सभा मे आये और आसनों की सब से ऊपर वाली कतार में बैठ कर कुल, शील और ऐश्वर्य के घमंड मे चूर हो डाह-भरी आँखों से एक दूसरे का मुख देखने लगे। शुभ मुहूर्त आ गया। राजा द्रुपद के चन्द्रवंशी पुरोहितों ने यथा-विधि आहुति देकर अग्नि को तृप्त किया और ब्राह्मणों के द्वारा स्वस्तिवाचन कराया। उस के समाप्त होते ही एक दम से बाजा बजना बन्द हो गया। सभास्थल मे सन्नाटा छा गया। स्नान किये हुए, अनुपम वस्त्राभूषणों से सजी हुई, हाथ मे विचित्र काञ्चनी माला लिये हुए, अपूर्व लावण्यमयी द्रौपदी अपने भाई धृष्टद्युम्न के साथ रङ्गभूमि में पधारी। धृष्टद्युम्न ने मीठे और गम्भीर स्वर से हाथ उठाकर सब से कहा —

"हे उपस्थित नरेश गण ! आप लोग श्रवण कीजिये । यह धनुष-बाण और निशाना है । जो इस आकाश-यन्त्र के बीचों बीच के सुराख से पाँच बाण चला कर निशाना मार सकेगा, उसी को हमारी बहन जयमाला पहनावेगी ।"

उसी समय तीनों लोकों की सुन्दरियों में श्रेष्ठ द्रौपदी के दर्शन से मोहित हुए राजा लोग एक दूसरे को जीतने की इच्छा से अपने-अपने आसनों से उठे । सभा के सब लोग द्रौपदी की तरफ टकटकी लगा कर रह गये ।

उसी समय बुद्धिमान् कृष्ण ने इधर-उधर देखते देखते साधारण आदमियों के बीच में ब्राह्मण-वेशधारी पाँच तेजस्वी पुरुषों को देखा । इससे उनका ध्यान सहसा उसी ओर खिंच गया । कुछ देर सोच कर उन्होंने अपने प्राण मित्र अर्जुन को अच्छी तरह पहचान लिया और बलदेव को भी उधर देखने के लिए इशारा किया । बलदेव ने भी कृष्ण के अनुमान को सच समझा । तब कृष्ण और बलदेव दोनों को विश्वास हो गया कि पाण्डव लोग लाक्षागृह में जलने से बच गये हैं ।

परन्तु और राजकुमारों के प्राण तो द्रौपदी पर निछावर हो चुके थे । उन्हें किसी दूसरी तरफ ध्यान देने की फुरसत कहाँ ! वे ईर्ष्या और दुराशा के कारण अपने-अपने होंठ काट रहे थे और चंचल चित्त से इधर उधर घूम कर एक दूसरे के निशाना

मारने की चेष्टा का नतीजा देख रहे थे। एक-एक करके दुर्योधन शाल्व, शल्य, वंग-नरेश, विदेह-राज आदि अनेक राजकुमारों ने मुकुट, हार, बाजूबंद और कडे आदि अलंकारो से भूषित होकर अपना-अपना बल-वीर्य्य दिखलाया। किन्तु उस विकट धनुष को पूरी तौर से तान कर उस पर प्रत्यञ्चा चढाना तो दूर रहा, उसको ज़रा-सा झुकाते ही उस की कड़ी चोट से वे इधर-उधर गिरने और उन के मुकुट, कुण्डल, हार, और भुजबन्द आदि टूट-टूट कर चारों ओर बिखरने लगे। इस से राजकुमारों ने हार मानी। वे बडे ही लज्जित हुए। उनके चेहरे फीके पड गए। उन्होंने द्रौपदी को पाने की आशा छोडदी।

महाधनुर्धारी कर्ण, राजाओं को इस तरह अपना सा मुँह लिए लौटते देख, झपट कर धनुष के पास जा पहुँचे। सहज ही मे उन्हों ने उस प्रचण्ड धनुष को उठा लिया और झुका कर उस पर प्रत्यंचा चढा दी। इस से सब लोगों को बडा आश्चर्य्य हुआ। इस के बाद पांच बाण हाथ मे ले कर वे उस आकाश-यन्त्र के पास पहुँचे और निशाना मारने को तैयार हुए। उस समय सबने सोचा कि यही निशाने को मार कर वर-माला प्राप्त करेंगे। पाण्डव लोग कर्ण के कन्या पाने की सम्भावना से बहुत घबराये। द्रौपदी सब के मुँह से यह सुन कर कि यह राधा के पुत्र हैं, इनका पालन सारथी अधिरथ ने किया है,

इनका जन्म सूत वंश में है और उनके राजाओं के मुँह पर तिरस्कार-सूचक हँसी देख कर सहसा बोल उठीं—

"मैं सूत पुत्र के साथ विवाह न करूँगी।"

यह सुनते ही अभिमानी कर्ण को क्रोध-पूर्ण हँसी आई। उन्होंने उसी क्षण धनुष-बाण रख दिया और चुपचाप सूर्य की ओर टकटकी बाँध कर देखने लगे।

इस के बाद बाकी क्षत्रिय लोग एक एक कर के निशाना मारने को उठे, पर सब विफल मनोरथ हुए। चेदि-राज शिशुपाल ने उस धनुष को झुका जरूर दिया, पर उसकी चोट वे न सह सके। उससे उनका घुटना टूट गया। महाबली जरासन्ध भी धनुष के धक्के से जमीन पर आ रहे। मद्र देश के राजा शल्य भी घुटनों के बल गिर पड़े। मतलब यह कि सब ने ठंडी साँस भर कर हार मानी।

राजाओं की ऐसी दुर्दशा देख कर अर्जुन से बैठे न रहा गया। वे ब्राह्मण-वेष को भूल गए और अपने क्षत्रिय तेज तथा द्रौपदी की सुन्दरता के वश में हो कर सहसा उठ खड़े हुए। उठ कर वे उस तरफ बढ़े जिस तरफ से निशाना मारा जाता था। इस से ब्राह्मणों में बड़ा कोलाहल मच गया। कोई चिल्ला कर अर्जुन को उत्साह देने लगा। कोई दुःखी हो कर कहने लगा—

"अहा! कैसे आश्चर्य की बात है! बड़े-बड़े धनुर्धारी राजा

लोग जो काम न कर सके, उसको अस्त्र-विद्या न जानने वाला ब्राह्मण-कुमार कैसे कर सकेगा! चाहे घमण्ड मे चूर होकर हो या कन्या पाने की इच्छा से मोहित हो कर हो, यह आदमी अपनी शक्ति का विचार किये बिना ऐसा कठिन काम करने को तैयार हुआ है। यह सब ब्राह्मणों की हँसी करावेगा; इसलिए इसको इस कार्य्य से रोकना चाहिए।" अर्जुन के पक्षवालों ने कहा—

"इस जवान के ऊँचे कन्धों, लम्बी भुजाओं और चलने के उत्साह को देख कर हम लोगो को आशा होती है कि यह इस काम को ज़रूर करेगा। दुनिया मे ऐसा कौन काम है जिस को ब्राह्मण नही कर सकते! वे फलाहार और वायु-भक्षण कर के ही नही किन्तु अगर कुछ भी न खायँ, तो भी शरीर का तेज बनाये रह सकते हैं। देखो, महर्षि परशुराम ने तो पृथ्वी के सब क्षत्रियो को जीत लिया था। इसके सिवाय यह ब्राह्मण-कुमार यदि इस काम को न भी कर सका, तो भी कोई अपमान की बात नही। इसलिए सब लोग चुपचाप इसके काम को देखो।"

इस बात से सब लोग शान्त हो कर ध्यानपूर्वक अर्जुन को देखने लगे। इस के बाद अर्जुन ने पहले वरदायक महादेव जी को प्रणाम कर के उस विकट धनुप की प्रदक्षिणा की। फिर बाल मित्र कृष्ण को स्नेह-भरी दृष्टि से अपनी तरफ देखते हुए देख कर बड़े आनन्द और उत्साह के साथ उन्होंने धनुप उठा

लिया। ऐसा करते देख जिन अनुरागी और पराक्रमी राजाओं से हजार चेष्टा करने पर भी धनुष न उठा था, उन्हें बड़ी लज्जा मालूम हुई। अर्जुन ने धनुष को तान कर झट उस पर प्रत्यञ्चा चढ़ा दी और हिलनेवाले यन्त्र के छेद के बीच से पाँच बाण मार कर निशाने को जमीन पर गिरा दिया।

सभा में हलचल मच गई। देवता लोग अर्जुन के ऊपर फूल बरसाने लगे। हजारों ब्राह्मण अपने मृगचर्म और उत्तरीय हिला हिला कर बड़ी खुशी प्रकट करने लगे। बाजे वालों ने तुरही बजाना और सूत मागधों ने मधुर कण्ठ से स्तुति-पाठ करना आरम्भ किया।

द्रौपदी ने अर्जुन की अतुल कान्ति को देख कर खुशी के साथ उनके गले में जयमाला पहना दी। राजा द्रुपद भी अर्जुन के अद्भुत बल और फुर्तीलेपन से प्रसन्न हो कर कन्या दान करने की तैयारी में लगे।

द्रुपद को इस ब्राह्मण-कुमार के हाथों में कन्यादान देने के लिए तैयार देख कर आये हुए राजा लोगों को बड़ा क्रोध हो आया। वे एक दूसरे के मुँह की तरफ देख कर कहने लगे—

"राजा द्रुपद ने हम लोगों का निरादर किया। हम लोगों का बड़ा अपमान हुआ। देवताओं के समान राजाओं में इन्होंने किसी को अपनी कन्या देने योग्य न समझा। ब्राह्मणों को

वरमाला पाने का क्या अधिकार है? स्वयंवर की चाल केवल क्षत्रियों ही के लिए शास्त्र मे लिखी है। अपनी रीति छोड़ने वाले इस नीच राजा को, आओ, हम लोग मार डालें। इस के साथ इस के पुत्र को भी जीता न छोड़ें। कन्या यदि हम लोगों मे से किसी को भी न पसन्द करे, तो उसे अग्नि मे डाल कर हम लोग अपने-अपने राज्य को लौट जायँ।"

क्रोध से अन्धे हुए हज़ारों हथियारबंद राजे तब राजा द्रुपद की तरफ़ झपटे। इस से वे बहुत डर गए। अर्जुन और भीमसेन ने यह देख कर हथियार उठा लिए और पाञ्चाल-नरेश की रक्षा करने के लिए आगे बढ़े। भीमसेन ने पास के एक वृक्ष को उखाड़ लिया और उसके पत्ते तोड़ ताड़ कर उसे गदा की तरह काम में लाने लगे। अर्जुन ने परीक्षा के रक्खे हुए धनुष को उठा लिया।

ब्राह्मण लोग अपने सजातियों के स्नेह के वश हो कर कमण्डलु हिला-हिला कर कहने लगे—

"तुम लोग ज़रा भी न डरना, हम तुम्हारी सहायता करेंगे।" यह देख अर्जुन कुछ मुसकराये और उनको धीरज देकर बोले—"आप लोग एक तरफ़ खड़े होकर तमाशा देखिये, हम अकेले ही सब काम करेंगे।" महा तेजस्वी कर्ण ने अर्जुन पर और मद्र-नरेश ने भीम पर हमला किया। अर्जुन तेज़ बाणों की मार से कर्ण की नाक में दम करने लगे। ब्राह्मण

की एसी च शक्ति को देख कर कर्ण आश्चय म आगए।
उन्होंने क ।—

"हे ा ब्रग! तुम्हारा बल, हथियार चलान म तुम्हारी
योग्यता र तुम्हार शरीर की मजबूती देख कर हम बड़
प्रसन्न हुए मालूम होता है कि तुम साक्षात धनुर्वेद हो। हम
ऋोध आ पर खुद इन्द्र या कुन्ती क पुत्र अजुन को छोड़कर
हमारा को भी सामना नहीं कर सकता।'

अर्जुन न उत्तर दिया—

"हम । तो धनुर्वेद हैं, न इन्द्र; किन्तु शस्त्र विद्या जानन
वाले ए ब्राह्मण हैं। तुम को हरान क लिए लड़ाई क मैदान
में आय ह।"

इस बात क सुनते ही कर्ण न ब्रह्म तेज की श्रेष्ठता स्वीकार
की और युद्ध स पीछा छुड़ाया। इधर शल्य और भीम में घूँसों
और ला । क द्वारा और भी बढ़ा लड़ाइ होन लगी। अन्त
में भी ा एक ऐसी उखाड़ मारी कि शल्य जमीन पर
धारा खा चित्त गिर। इस स ब्राह्मण लोग मार हँसी क लोट
पोट हो गए। शल्य न भी लज्जित हो कर हार मानी। यह देख
कर बाकी राजा लोग डर गये। व आपस में बात चीत करन
लगे—

"ब्राह्मण कुमार कौन हैं? ये किस क पुत्र हैं और कहाँ क
रहन वाल हैं? यह जानना जरूरी है।"

कृष्ण ने मौका पाकर कहा:—

"हे नरेशगण ! ब्राह्मण-कुमार ने धर्म से राज गारी को प्राप्त किया है। इसलिए शान्त हूजिये। युद्ध की ेर जरूरत ही क्या है ?"

तब सब ने लड़ाई का विचार छोड दिया और पने अपने घर की राह ली।

१०

साहित्य की महत्ता

ज्ञान राशि के सञ्चित कोश ही का नाम साहित्य है। सब तरह के भावों को प्रकट करने की योग्यता रखने वाली और निर्दोष होने पर भी यदि कोई भाषा अपना निज का साहित्य नहीं रखती तो वह, रूपवती भिखारिनी की तरह, कदापि आदरणीय नहीं हो सकती। उसकी शोभा, उसकी श्रीसम्पन्नता, उसकी मान मर्यादा, उसके साहित्य पर ही अवलम्बित रहती है। जाति-विशेष के उत्कर्षापकर्ष का, उसके ऊँच-नीच भवों का, उसके धार्मिक विचारों और सामाजिक संगठन का, उसके ऐतिहासिक घटना-चक्रों और राजनैतिक स्थितियों का प्रतिबिम्ब देखने को यदि कहीं मिल सकता है तो

उसके ग्रन्थ-साहित्य ही मे मिल सकता है। सामाजिक शक्ति या सजीवता, सामाजिक अशक्ति या निर्जीवता और सामाजिक सभ्यता तथा असभ्यता का निर्णायक एक मात्र साहित्य है। जिस जाति-विशेष मे साहित्य का अभाव या उसकी न्यूनता आपको देख पड़े, आप यह निःसन्देह निश्चित समझिए कि वह जाति असभ्य किंवा अपूर्ण सभ्य है। जिस जाति की सामाजिक अवस्था जैसी होती है उसका साहित्य भी ठीक वैसा ही होता है। जातियों की क्षमता और सजीवता यदि कहीं प्रत्यक्ष देखने को मिल सकती है तो उनके साहित्य-रूपी आईने ही मे मिल सकती है। इस आईने के सामने जाते ही हमे यह तत्काल मालूम हो जाता है कि अमुक जाति की जीवनी-शक्ति इस समय कितनी या कैसी और भूतकाल मे कितनी और कैसी थी। आप भोजन करना बन्द कर दीजिए या कम कर दीजिए, आपका शरीर क्षीण हो जायगा और अचिरात् नाशोन्मुख होने लगेगा। इसी तरह आप साहित्य के रसास्वादन से अपने मस्तिष्क को वञ्चित कर दीजिए, वह निष्क्रिय होकर धीरे-धीरे किसी काम का न रह जायगा। बात यह है कि शरीर के जिस अङ्ग का जो काम है वह उससे यदि न लिया जाय, तो उसकी वह काम करने की शक्ति नष्ट हुए बिना नहीं रहती। शरीर का खाद्य भोजनीय पदार्थ है और मस्तिष्क का खाद्य साहित्य। अतएव यदि हम अपने मस्तिष्क को निष्क्रिय

और कालान्तर में निर्जीव सा नहीं कर ... चाहते तो हमें साहित्य का सतत ... करना चाहिए ... उसमें नवीनता तथा पौष्टिकता लाने के लिए उसको ... करते जाना चाहिए। पर, याद रखिए, विकृत भोजन ... से शरीर रुग्ण होकर बिगड़ जाता है उसी तरह विकृत ... से मस्तिष्क भी विकारग्रस्त होकर रोगी हो जाता है ... का बल वान और शक्तिसम्पन्न होना अच्छे ही सा... पर अवलम्बित है। अतएव यह बात निर्भ्रान्त है कि मस्तिष्क ... यथेष्ट विकास का एक मात्र साधन अच्छा साहित्य है। ... में जीवित रहना है और सभ्यता की दौड़ में अन्य जातियों ... बराबरी करना है तो हमें श्रमपूर्वक, बड़े उत्साह से, ... का उत्पादन और प्राचीन साहित्य की रक्षा करनी ... और यदि हम अपने मानसिक जीवन की हत्या करके ... समान दयनीय दशा में पड़ा रहना ही अच्छा समझते हो ... तो हो इस साहित्य सम्मेलन के आडम्बर को विसर्जन ... देना चाहिए।

आँख उठाकर जरा और देशों तथा ... तियों की ओर तो देखिए। आप देखेंगे कि साहित्य ने ... की सामाजिक और राजकीय स्थितियों में कैसे-कैसे परि... कर डाले हैं। साहित्य ही ने कहीं समाज की दशा कुछ का कुछ कर दी है, शासन प्रबन्ध में बड़े-बड़े उथल पुथल कर ... हैं, यहाँ तक कि अनुदार धार्मिक भावों को भी जड़ से उखाड़ फेंका है।

साहित्य मे जो शक्ति छिपी रहती है वह तोप, तलवार और बम के गोलों मे भी नहीं पाई जाती। योरप मे हानिकारिणी धार्मिक रूढियों का उत्पाटन साहित्य ही ने किया है, जातीय स्वातन्त्र्य के बीज उसी ने बोये है; व्यक्तिगत स्वातन्त्र्य के भावों को भी उसी ने पाला पोसा और बढाया है, पतित देशों का पुनरुत्थान भी उसी ने किया है। पोप की प्रभुता को किसने कम किया है? फ्रांस में प्रजा की सत्ता का उत्पादन और उन्नयन किसने किया है? पादाक्रान्त इटली का मस्तक किसने ऊँचा उठाया है? साहित्य ने, साहित्य ने, साहित्य ने। जिस साहित्य मे इतनी शक्ति है, जो साहित्य मुर्दों को भी जिन्दा करने वाली सञ्जीवनी औषधि का आकर है, जो साहित्य पतितों का उठाने वाला और उत्थितों के मस्तक को उन्नत करने वाला है, उसके उत्पादन और संवर्धन की चेष्टा जो जाति नहीं करती वह अज्ञानान्धकार के गर्त मे पडी रह कर किसी दिन अस्तित्व ही खो बैठती है। अतएव समर्थ हो कर भी जो मनुष्य इतने महत्वशाली साहित्य की सेवा और अभिवृद्धि नहीं करता अथवा उस से अनुराग नहीं रखता वह समाजद्रोही है, वह देशद्रोही है, वह जातिद्रोही है, किंबहुना वह आत्मद्रोही और आत्महन्ता भी है।

—महावीर प्रसाद द्विवेदी

११

विषधर सर्प

सृष्टि में सर्वकालीन पशु, पक्षी, कीट, पतङ्ग और पेड़ पौधे पाये जाते हैं। उनमें से किसी एक का भी सम्पूर्ण ज्ञान प्राप्त करना मनुष्य की ससीम शक्ति के बाहर की बात है। विद्वानों ने पता लगाया है कि जिन नैसर्गिक नियमों के अनुसार मनुष्य अपना जीवन धारण करता है, अधिकांश उन्हीं नियमों के अनुसार अन्य प्राणी भी जीते और जीवन-चर्य्या चरितार्थ करते हैं। आचार्य्य वसु ने तो इस बात तक के निर्भ्रान्त प्रमाण दिये हैं कि जीव जन्तु ही नहीं, उद्भिज्ज तक में वही चेतन-शक्ति अपना काम कर रही है जो मनुष्यों, पशु-पक्षियों और कीट पतङ्गों में विद्यमान रहती है। उस ज्ञानमय परमात्मा की

प्रभुता और अनन्त शक्ति को तो देखिए। उसने अपने व्यापक नियमों से समस्त संसार का नियमन करके अपनी अचिन्त्य शक्तिमत्ता का कितना प्रबल प्रमाण दे रक्खा है। फिर भी, हज़ारों नास्तिक किसी ईश्वर, जगन्नियन्ता या कर्त्ता के अस्तित्व मे सन्देह करते है। ये लोग जड-प्रकृति, स्वभाव या "नेचर" (Nature) को ही उसका आसन दे डालना चाहते हैं। यही सही। इस दशा मे आस्तिक जन नास्तिकों की प्रकृति को ही पुरुष मान लें तो क्या हर्ज ?

घर का ज्ञान प्राप्त करते-करते घर-निर्म्माता तक पहुँच जाना आश्चर्य की बात नहीं। छाते को लेकर ढूँढने वाला उस कारख़ाने तक ज़रूर पहुँच सकता है जहां से बन कर वह बाहर निकला था। वहां उसे उस छाते के निर्माण से सम्बन्ध रखने वाली सैकडों बातें मालूम हो सकती हैं यहां तक कि उसके निर्माता कारीगरों से भी उसकी जान-पहचान हो सकती है। इसी तरह ईश्वर की सृष्टि मे ये जो अनन्त जड-चेतन पदार्थ देखे जाते हैं उनके विषय मे ज्ञान प्राप्त करते-करते उनके निर्माता या नियन्ता का विचार चित्त मे थोड़ा बहुत अवश्य ही उत्पन्न हो जाता है और ऐसे विचार व्यर्थ नहीं। सौभाग्य से यदि उनका विकाश होता चला जाय तो किसी दिन विचार-कर्त्ता उसी कोटि की आनन्द-प्राप्ति का पात्र हो सकता है जिस कोटि की आनन्द-प्राप्ति के लिए योगी और तपस्वी योग साधन करते हैं।

इस दृष्टि से किसी छोटी से भी छोटे जीव जन्तु के विषय में ज्ञान सम्पादन करना सर्वथा लाभदायक है। ऐसे ज्ञान सम्पादन से लौकिक लाभ भी होते हैं। तितलियों और रेशम के कीड़ों का ज्ञान प्राप्त करना इसका उदाहरण समझिए। पर इस प्रकार के ज्ञान की भी प्राप्ति के लिए खोज और श्रम आवश्यक है। बिना श्रम के कुछ नहीं मिलता, अन्नग्रास भी मुँह में नहीं जाता। खेद है, हम लोग श्रम से बहुत डरते हैं, खोज से दूर भागते हैं। यदि हमें किसी साधारण चिड़िया घर के आँगन में फुदकने वाली गौरैया का भी कुछ हाल जानना होता है तो झट हम नेचुरल हिस्ट्री के ढँग की कोई अँगरेजी पुस्तक ढूँढने दौड़ते हैं और उस की नकल करके समाचार-पत्रों और सामयिक पुस्तकों के लिए लेख तैयार करते हैं। मामूली कौवे का हाल खुद देख भाल करके नहीं लिखते, अँगरेजी "जैकडा" के बयान की कापी करके मुलम्मा उन जैठन की ताक में रहते हैं।

भारत में अनेक प्रकार के सर्प पाए जाते हैं। पर आज तक किसी ने भी उन सब का ज्ञान प्राप्त करके कोई पुस्तक नहीं लिखी। परन्तु सात समुद्र पार रहने वाले अँगरेज, जो यहाँ कुछ ही समय के लिए आते हैं, साँपों को पालते, उनकी परीक्षा करते, उनकी जीवन-चर्या का ज्ञान प्राप्त करते और फिर बड़ी-बड़ी पुस्तकें और बड़े-बड़े लेख लिखते हैं। ऐसे ही

एस० एच० पी० नाम के किसी महाशय ने, टाइम्स आफ इण्डिया में, सांपों के विषय मे एक लेख लिखा है। हम भी ठहरे अपने अनेक अकर्म्मण्य भाइयों के देश-वासी। अतएव अपने नगर, गांव, खेत, बाग, जङ्गल इत्यादि मे विहार करने वाले सर्पो का ज्ञान स्वयं प्राप्त करने का प्रयास न उठा कर पूर्वोक्त लेखक के लेख की ही कुछ बातें उठा कर नीचे रक्खे देते है। सांपों और बिच्छुओं के बिलों मे कौन हाथ डालता फिरे!

जिन लोगों ने सांपों की जॉच-पड़ताल की है उनका कहना है कि हिन्दुस्तान मे सांपों की ३०० जातियां हैं। उन मे से कुछ जातियां विपधर है, कुछ निर्विष। जलचर या सागरवासी सर्प सभी विपधर है। उनको छोड देने पर थलचर सांपों मे से ४० जातियां ऐसी है जिनकी दंष्ट्राओं मे विप रहता है। विपधर होना, न होना, बहुत कुछ देश-विशेष से सम्बन्ध रखता है। किसी किसी देश मे विपधर सांप अधिक पाए जाते है, किसी किसी में विपविहीन। आस्ट्रेलिया मे विपधर सांपों की अधिकता है। पर जिस मैडेगास्कर टापू मे और सब देशों से अधिक सर्प निवास करते है वहां एक भी जाति ऐसी नही जिसमे विप हो।

हिन्दुस्तान मे दो प्रकार के काले सांप, बारह प्रकार के करैत, सात प्रकार के भूरे (वरजातिया) सांप पाए जाते हैं।

काले नागों में से एक जाति बहुत बड़ी होती है। उसे नागराज (King Cobra) कहना चाहिए। उसकी दाढ़ों में बड़ा ही तीव्र विष रहता है। यह साँप बहुत लम्बा होता है। बम्बई के अजायब घर में एक साँप है जिसकी लम्बाई १५ फुट ५ इन्च है। ये साँप बिना छेड़े भी मनुष्य पर आक्रमण करते हैं, विशेष करके इनकी मादी। जिस समय इस जाति की नागिन अण्डे रखती है उस समय वह जरा सी आहट पाने पर भी काटने दौड़ती है। उस समय उसकी हिंसक-वृत्ति बहुत बढ़ जाती है। कुपित होने पर यह साँप जब तन कर खड़ा हो जाता है तब इसके शरीर के उत्थित अंश की ऊँचाई मनुष्य के कद के बराबर पहुँच जाती है। उस समय इसकी काप-कराल फणा को देख और फुङ्कार को सुन कर अत्यन्त साहसी मनुष्य का भी हृदय दहल उठता है। इस जाति के साँप अपने ही भाई बन्धुओं को अपना भक्ष्य बनाते हैं। विषधर हो अथवा निर्विष सामने आ जाने पर किसी को नहीं छोड़ते। एक दफे एक नागराज ६ फुट लम्बा एक अजगर निगल गया था। इस प्रकार के साँप निर्जन घने जङ्गलों में पाये जाते हैं।

साधारण जाति के काले साँप प्रचुरता से सर्वत्र ही पाये जाते हैं। इनमें भी कई उपभेद हैं। किसी के फन पर कुण्डलाकार घेरा सा होता है, जिसे गोपद (गोखुर) कहते हैं। किसी में यह घेरा कुछ लम्बा होता है और किसी में होता ही नहीं।

यह सांप जिस समय क्रोधाविष्ट होकर अपना फन फैला देता है उस समय फन का दैर्घ्य बहुत बढ जाता है। इसकी नागिन जाडों मे अण्डे देती है। दो महीने मे बच्चे निकल आते है। उस समय उनकी लम्बाई कोई ८ इंच होती है। पैदा होने के कुछ ही दिन बाद इनकी डाढों मे विष पैदा हो जाता है और इनके काटने से प्राणियों की मृत्यु हो जाती है।

करैत जाति के सांपो का रग कुछ भूरा होता है। उनके शरीर पर थोडी थोडी दूर पर छल्ले से बने रहते हैं। यह सांप भी बस्तियों मे ही अधिक रहता है और विषधर है। इसी के काटने से अधिकांश मनुष्यों और पशुओं की मृत्यु होती है। बिना छेडे यह सांप मनुष्य पर कम आक्रमण करता है। पर छेडे जाने पर यह किसी की रियायत करना नहीं जानता।

धामन जाति के सांप बहुत कम देखने मे आते हैं। वे छिपे पडे रहते हैं और रात ही के समय डरते डरते बाहर निकलते है। उनसे मनुष्यों और पशुओं की प्राण-हानि बहुत ही कम होती है।

भूरे सांप बहुत अधिक पाये जाते है। ये कुछ काहिल होते हैं। भागते कम है। इनके भी कई उपभेद हैं। एक जाति के शरीर पर जगह जगह चक्र से होते हैं, पर सिर पर कोई चिह्न विशेष नहीं होता। एक और जाति के सिर पर त्रिशूल या वाण

के फन के सदृश चिह्न होता है। यह साँप अपने शरीर की कुण्डली बना कर बैठ जाता है और शरीर की कुण्डलियों को आपस में इस ओर से रगड़ता है कि रगड़ के कारण अपूर्व ध्वनि निकलती है।

विषधर साँपों के सिर में एक छोटी सी थैली रहती है। उसी में विष भरा रहता है। यह थैली आँख के पीछे मांस के भीतर होती है। काटते समय दबाव पड़ने से थैली का मुँह खुल जाता है और विष निकल पड़ता है। यह विष एक तन्तुमय नाली से बह कर दाँतों में पहुँचता है। ये दाँत किसी किसी जाति के साँप के जबड़े के पीछे और किसी किसी के आगे रहता है। दाँतों में छेद सा रहता है और काटते समय विष काटी हुई जगह में टपक पड़ता है।

सर्प विष का प्रभाव दूर करने के लिये आज तक अनेक ओषधियाँ तैयार हुई हैं। पर पूरी सफलता किसी से भी नहीं हुई। सर्प विष से ही डाक्टरों ने कुछ ओषधियाँ तैयार की हैं। पिचकारी से ये शरीर के भीतर पहुँचाई जाती हैं। पर जिस प्रकार के सर्प के विष से ये ओषधियाँ बनती हैं उसी प्रकार के सर्पदंश को ये लाभ पहुँचा सकती हैं, औरों को नहीं। सर्पदंश की सब से अच्छी दवा यह है कि साँप काटते ही उस जगह को तेज चाकू से काट दें। फिर उसमें जितना खून निकल सके दबा कर निकाल दें। उस जगह को गरम लोहे से दाग भी दें,

साथ ही, सांप काटते ही, काटी हुई जगह से कुछ दूर ऊपर, थोड़े थोड़े अन्तर पर, दो बन्द पतली रस्सी, सुतली या कपड़े के लगा दें। ऐसा करने से विष चढ़ने का डर नहीं रहता। क्योंकि खून का दौरा बन्द के इसी तरफ रहता है आगे नहीं बढ़ता।

केले की गाभ का रस, एक छटांक से आध पाव तक, घण्टे घण्टे भर बाद पिलाने से भी, सुनते हैं, विष की मादकता कम हो जाती है।

—महावीर प्रसाद द्विवेदी।

१२

नेपोलियन बोनापार्ट

यौरप के इतिहास में नेपोलियन एक अद्वितीय और प्रतिभाशाली महापुरुष हो गया है। अपनी वीरता, साहस और बुद्धिमत्ता से वह साधारण स्थिति से फ्रांस का सम्राट् हो गया और यौरप के सारे देशों में उसने अपनी धाक जमा ली। फ्रांस के छोटे से देश को उसने साम्राज्य में परिणत कर दिया और उसकी कीर्ति बढ़ा कर उसे यौरप के देशों में अग्रगण्य बना दिया।

नेपोलियन बोनापार्ट का जन्म कार्सिका नामक टापू में, जो इटली के दक्षिण में है, सन् १७६९ ई० में हुआ था। कार्सिका के निवासियों का जीवन विचित्र था। उनमें परस्पर इतना द्वेष था

कि वे सदा एक दूसरे के प्राण लेने की घात मे रहते थे और इसी विचार मे मग्न सासारिक सुख से पराङ्मुख हो कर अपने शत्रुओं से बदला लेने के लिए षड्यन्त्र रचा करते थे। हसी, मज़ाक, सङ्गीत और नृत्य कभी उसकी सडकों मे दिखाई नहीं देते थे। स्त्रियां स्वतन्त्रता से वंचित रक्खी जाती थीं और घर मे दिन भर कुलियों के सदृश काम करती थी। ऐसे समाज मे नेपोलियन ने अपनी बाल्यावस्था व्यतीत की और शिक्षा पाई, जिसका उसके जीवन पर गहरा प्रभाव पडा। विलक्षण पुरुषों के विषय मे बहुधा विद्वानों की यह धारणा है कि उनके चरित्र आप ही आप सङ्गठित हो जाते हैं और उनमे ऐसे गुणों का समावेश हो जाता है जिनका कारण इतिहासज्ञ और तत्त्व-वेत्ता भी नही बतला सकते। परन्तु सौभाग्यवश नेपोलियन बोनापार्ट को घरेलू शिक्षा अच्छी प्राप्त हुई थी। उसका पिता वकालत का काम करता था। यद्यपि वह अधिक धनी नहीं था, तो भी उसकी आय इतनी थी कि वह बिना किसी असुवि-धा के अपने परिवार का भरण-पोषण कर सकता था। उसकी माता लेटीज़िआ को कुछ भी शिक्षा नही मिली थी, परन्तु वह बचपन ही से बडी दृढप्रतिज्ञ, विचारशीला और वीर स्त्री थी। आपत्ति और दुःख के समय वह कभी व्याकुल नही होती थी और कठिनाइयों के उपस्थित होने पर बडे धैर्य और साहस से उनका सामना [illegible] यता प्रशंसनीय थी।

यह गुण नेपोलियन ने उसी से सीखा था; क्योंकि ज
फ्रांस का सम्राट् हुआ और असंख्य धन उसके हाथ
तब भी उसने कभी अपव्यय नहीं किया।

नेपोलियन शैशवावस्था में फौजी शिक्षा प्राप्त करने :
फ्रांस भेजा गया, परन्तु वहाँ रईसों के लड़कों के साथ
नहीं पटती थी। वह उनके अपमान-सूचक शब्दों को सु
दुःखी होता था और अपने देश की दुर्दशा को दे
सन्तप्त-हृदय होकर ईश्वर से उसकी मुक्ति के लिए :
करता था। परन्तु पढ़ने लिखने में उसकी प्रवीणता दे
कर उसके अध्यापक और अन्य लोग भी चकित हो ज
इतिहास से उसे ऐसा प्रेम था कि उसने अल्पावस्था ही
और रोम के वीरों के जीवन-चरित पढ़ डाले थे। उसकी
सिक शक्ति ऐसी प्रबल थी कि कठिन से कठिन विषय
वह शीघ्रता से समझ जाता था। अपने विद्यार्थी जी
उसने अपना अधिकांश समय अध्ययन में ही व्यतीत
और निबन्ध इत्यादि लिखने के लिये कई बार पारितोषि
पाया। प्रारम्भिक जीवन में नेपोलियन के विचार निवि
ईसाई धर्म में उसकी श्रद्धा अधिक रही थी। उसका उ
पूर्ण हृदय मनुष्य जाति के दौर्बल्य और राष्ट्रों की उदा
को देख कर दुःखी होता था। उसे यह इच्छा होती थी
भी कार्य-क्षेत्र में कूद कर मनुष्य जाति के हित-सम्पा

निमित्त प्रयत्न करूँ। कहते हैं कि ऐसे विचार होते हुए भी उसका स्वभाव नरम नहीं था। परन्तु वह अपने सम्बन्धियों और कुटुम्बियों से सदा प्रेम करता था और उनके साथ दया का बर्त्ताव करता था। अपनी पूज्य माता का उसने सदा आदर किया और फ्रांस के राजसिंहासन पर बैठने पर भी उसका भाव अपनी माता के प्रति ज्यों का त्यों बना रहा। वह बहुधा कहा करता था कि मेरी उन्नति का प्रधान कारण मेरी माता ही है। वास्तव मे बालक का भविष्य माता की शिक्षा पर बहुत कुछ निर्भर होता है।

फौजी स्कूल की पढाई समाप्त करके नेपोलियन ने सेना मे नौकरी करली और इस प्रकार जीविका उपार्जन कर वह अपने कुटुम्ब का पालन-पोषण करने लगा। उसका पद छोटा था और वेतन भी अधिक नही था परन्तु उसके भाग्य मे तो एक दिन फ्रांस का सम्राट् होना लिखा था। युद्ध के समय वह ऐसी असाधारण कुशलता दिखलाता था कि बडे-बडे सेनाध्यक्ष उसके शौर्य्य और साहस को देख कर चकित रह जाते थे। यद्यपि देखने मे वह हृष्ट-पुष्ट नहीं था, तथापि भीषण संग्राम और भयङ्कर परिस्थितियों मे उस की मानसिक और शारीरिक शक्ति को देख कर बडे-बडे युद्धविद्या-विशारद और अनुभवी सैनिक आश्चर्य प्रकट करते थे। उसने सहस्रों लडाइयां लडीं और अपने शत्रुओं को हराया। उसकी वीरता की सब लोगों

ने मुक्त कण्ठ से प्रशंसा की है। परन्तु यह समझना भूल होगी कि वह केवल योद्धा ही था। उसकी व्यावहारिक कुशलता और दूरदर्शिता उन संस्थाओं से सिद्ध होती है जो उसने फ्रांस में स्थापित की थीं।

नेपोलियन के शासक होने के पूर्व फ्रांस में एक महान् राष्ट्रीय विप्लव हो चुका था, जिसने देश की स्थिति ही बदल दी थी और योरप के सारे देशों में हलचल मचा दी थी। इस राज्य विप्लव के बाद वह फ्रांस का अधिष्ठाता बना और शासन का कार्य उसने अपने हाथ में लिया। राष्ट्र विप्लव के समय फ्रांस में बड़े परिवर्तन हो गए थे। रईसों के प्राचीन अधिकार जो माध्यमिक काल से चले आते थे, छीन लिये गए थे। स्वतन्त्रता, समानता और भ्रातृ भाव ये ही राज्य क्रान्ति के मूल मन्त्र थे और इन्हीं की विजय के लिए फ्रांस के लोगों ने असह्य यातनाएँ सही थीं और अज्ञानता-वश अपने ही देश भाइयों पर अनेक अत्याचार किए थे। इस आपत्ति के समय बड़े बड़े भीषण दृश्य देखने में आए। हजारों निर्दोष स्त्री पुरुषों के प्राण गए और प्राचीन संस्थाएँ नष्ट हो गईं। प्रजा-तन्त्र राज्य स्थापित हो गया और जिन रईसों और विद्वानों ने इसका विरोध किया, उन्हें फाँसी का दण्ड दिया गया। ईसाई धर्म की अवहेलना और निन्दा की गई। नए मत प्रचलित किए गए और प्राचीन धर्मानुयायी पादरियों की सम्पत्ति छीन ली गई।

राज्य की सभाओ का काम भी उचित रीति से नही होता था। उनमे पूरा गोलमाल था। भिन्न भिन्न राष्ट्रीय दलों मे पारस्परिक द्वन्द्व-युद्ध हो रहा था और प्रजा को महा कष्ट होता था। योरप के राष्ट्रों ने आत्म-रक्षा के निमित्त युद्ध करना प्रारम्भ किया। लाखों मनुष्यों के प्राण गए, परन्तु शाति और सुख तब भी सुलभ नही हुए। वयोवृद्ध मनुष्यों का तिरस्कार, तरुणों की ढिठाई, धनाढ्यों की दुश्चरित्रता, क्रांतिवादियों की उद्दण्डता, स्त्रियों का अनाचार, नाट्य-शालाओं की लज्जा-हीनता—ये विशेषताएँ उस समय फ्रांस के समाज मे थीं। जन साधारण के दुःख की सीमा नही थी। वेचारे इधर उधर मारे मारे फिरते थे। कोई बात नही पूछता था। न कर वसूल करने का यथोचित प्रबन्ध था, न न्याय का। व्यापार और शिक्षा की सुविधा नही थी। राष्ट्र के सारे अङ्ग विच्छृंखल थे। पद और प्रभुता के लिए राजनीतिज्ञ परस्पर युद्ध कर रहे थे। ऐसी अवस्था मे ईश्वर ने नेपोलियन बोनापार्ट को फ्रांस का स्वामी बनाया और उसकी अलौकिक वीरता और विलक्षण बुद्धि के कारण प्रजा ने मुक्त कण्ठ से स्वागत किया।

फ्रांस को इस राजनीतिक अस्थिरता के काल मे ऐसे शासक की आवश्यकता थी जो शासन-परिपाटी से खूब परिचित हो। राज्य मे चारों ओर अशाति थी। शिक्षा बन्द हो गई थी। अराजकता अपना विकराल रूप धारण किए लोगो को

शासन शिथिल हो रहा था। कानून का आदर नहीं था। आर्थिक दशा हीन था। धन के अभाव के कारण राष्ट्र के सारे श्रम शालीन लोग थे। अविश्वास और अश्रद्धा के कारण प्रत्येक नागरिक का जीवन दुःखमय हो रहा था। विदेशी व्यापारियों ने इस अविश्वास और आर्थिक संकीर्णता के कारण व्यापार बन्द कर दिया था। जहाजी बेड़े का नाश हो चुका था। किसी विभाग में भी योग्यता, दक्षता और उत्साह से काम नहीं होता था। बहिष्कृत राजाओं के षडयन्त्रों को रोकना, शक्ति विहीन राष्ट्रीय दल के असन्तोष को दूर करना, सम्पत्ति हीन लुटे हुए पादरियों के हृदय की धधकती हुई आग को बुझाना—ये सब कठिन समस्याएँ फ्रांस के नए शासक के सम्मुख उपस्थित थीं।

नैपोलियन ने शीघ्र ही उत्साह-पूर्वक अपना कार्य आरम्भ किया। शारीरिक अथवा मानसिक परिश्रम करने में कोई उसकी बराबरी नहीं कर सकता था। कभी कभी तो वह रात दिन काम करने में लगा रहता था और अविरत परिश्रम करने पर भी नहीं थकता था। छोटी छोटी बातों को भी वह स्वयं देखता था, और राज्य का कोई काम ऐसा नहीं था, जो उसकी सम्मति बिना होता हो। उसने यह समझ लिया था कि फ्रांस में दृढ़ और संगठित शासन की आवश्यकता है। इसीलिए उसने पुलिस को विशेष अधिकार दिया, और व्यक्तिगत स्वतन्त्रता पहले की अपेक्षा बहुत कम कर दी। समाचार पत्रों

के सम्पादकों को राज्य के विरुद्ध लेख लिखने पर कड़ा दण्ड देना आरम्भ किया और जो लोग अपमान-सूचक शब्दों से उसकी आलोचना करते थे, उन्हे देश से निकाल दिया।

परन्तु इस से यह न समझना चाहिए कि नेपोलियन ने फ्रांस के हित के लिए कुछ भी नही किया। उसने शिक्षा का प्रचार किया और बहुत से मदरसे स्थापित किए, जिनमे निश्चित सिद्धान्तों के अनुसार शिक्षा होने लगी। उसने कानून बनाने के लिए भी एक कमेटी नियुक्त की, जिसने महत्त्वपूर्ण काम किया। इस कानून के अनुसार पिता के अधिकार बढ़ा दिए गए और राष्ट्र की निरकुशता घरों मे दिखाई देने लगी। पिता १६ वर्ष से कम अवस्था के पुत्र को एक मास कारावास दे सकता था और १६ वर्ष से २१ वर्ष तक की आयु वाले को छः मास। ऐसा दण्ड देने के कारण बताने के लिए वह बाध्य नही था। २६ वर्ष से कम आयु वाले लड़कों और २१ वर्ष से कम आयु वाली लड़कियों का विवाह पिता की सम्मति के बिना नहीं हो सकता था। स्त्रियों का नेपोलियन विशेष आदर नही करता था। वह कहता था कि पति को अपनी स्त्री से यह कहने का अधिकार है—"तुम बाहर घूमने नहीं जा सकती हो, तुम अमुक पुरुष से भेंट नही कर सकती हो और तुम थियेटर देखने नही जा सकती हो।" घर के प्रबन्ध मे भी स्त्रियों को अधिकार नही दिया गया। स्त्रियों को अधिक शिक्षा देने के पक्ष मे भी वह नहीं

था। वह कहता था कि स्त्रियों के लिए घर का काम काज सीखना और थोड़ा पढ़ना लिखना ही पर्याप्त है—यही नेपोलियन में दोष था। उसने स्त्री शिक्षा के महत्व को अच्छी तरह नहीं समझा और इसी कारण उसने ऐसी सम्मति प्रकट की। आश्चर्य है कि जो महापुरुष आजन्म अपनी माता के उपकार को नहीं भूला, उसने स्त्रियों की उन्नति के लिए कुछ भी उपाय नहीं किया।

नेपोलियन ने धीरे-धीरे बहुत से देश जीत लिए। इटली, हालैंड और स्विटज़रलैंड आदि देश फ्रांस के अधीन हो गए, और वे उसे अपना अधिपति मानने लगे। जब नेपोलियन का राज्याभिषेक हुआ और उसने सम्राट् की उपाधि धारण की तब यूरोप के अन्य देशों को यह बात बुरी लगी। उन्होंने उसे पराजित करने के लिए कई संघ रचे और बहुत सी लड़ाइयाँ लड़ीं। इन लड़ाइयों में नेपोलियन ने कई बार अपने शत्रुओं के दाँत खट्टे किये और उन्हें रण-क्षेत्र से मार भगाया। परन्तु जब उसका प्रभुत्व अधिक बढ़ गया, तब उसने पराजित देशों के प्रति निर्दयता का व्यवहार करना आरम्भ किया। वह अपने लाभ के लिए दूसरों की किंचिन्मात्र भी परवाह नहीं करता था, और यही कारण है कि उसने अपनी स्वार्थ सिद्धि के लिए लाखों युवा पुरुषों को युद्ध की प्रचण्ड अग्नि में झोंक दिया। उसके ऐसे व्यवहार और स्वार्थ प्रियता के कारण अन्य देशों के

लोग उसके विरुद्ध हो गए। इँग्लैंड से नेपोलियन बड़ी शत्रुता रखता था और उसका नाश करने के लिए उसने अनेक उपाय किये थे, परन्तु एक भी सफल नहीं हुआ। अन्त में वाटरलू की लडाई मे इँग्लेड ने योरप के अन्य देशों की सहायता से नेपोलियन बोनापार्ट को युद्ध मे परास्त किया और योरोपीय राष्ट्रों के अस्तित्व की रक्षा की। इस युद्ध मे ड्यूक आफ् वैलिङ्गटन ने, जो भारत के प्रसिद्ध गवर्नर जनरल लार्ड वेलेज़ली का भाई था, बडी वीरता और बुद्धिमत्ता से शत्रु को हराया और विजय प्राप्त की। नेपोलियन कैद कर लिया गया और सेंट हेलीना नामक टापू मे भेज दिया गया, सन् १८२१ ई० मे जहाँ उसका देहान्त हो गया। आपत्ति-काल मे उसके इष्ट-मित्रों ने, जिन्हें उसने उच्च पदों पर नियुक्त किया था, उसका साथ नहीं दिया और इस शोचनीय अवस्था मे उसे अकेला ही रहना पडा।

यद्यपि नेपोलियन बोनापार्ट का साम्राज्य अधिक समय तक नहीं रहा और चंचला (लक्ष्मी) ने उसका परित्याग शीघ्र कर दिया परन्तु तो भी यह मानना पडेगा कि वह असाधारण मनुष्य था। उसके महापुरुष होने मे कोई सन्देह नहीं। उसने फ्रांस में सुराज्य स्थापित कर उसका बडा उपकार किया। फ्रांस की जो उन्नति हुई है, वह उसी की नीति का फल है। उसने फ्रांस के शासन की बागडोर ऐसे समय अपने हाथ मे ली

थी जब कि राष्ट्रीय संस्थाएँ चूर हो गई थीं और स्वतन्त्रता की पुकार मचाने वाले अपनी स्वार्थपरता से परतन्त्रता की जड़ पक्की कर रहे थे। असन्तुष्टों को सन्तुष्ट करना, निराशों को आशा दिलाना, जन साधारण के स्वत्वों की रक्षा करना और उनकी उन्नति का साधन निकालना सरल काम नहीं था। नेपोलियन ने अपनी बुद्धिमत्ता से इस महा कठिन कार्य को सम्पादन किया और इसी कारण उसका नाम संसार के इतिहास में सदा अमर रहेगा।

१३

देवबाला की मृत्यु

लेखक—श्रीयुत अयोध्यासिंह उपाध्याय

[आप का जन्म सन् १८८५ में निजामाबाद, ज़िला आज़मगढ़ में हुआ था। आप आज़मगढ़ की कलेक्टरी में सदर कानूनगो के पद पर बहुत वर्षों तक काम करते रहे हैं। आजकल आप काशी के हिन्दू विश्व-विद्यालय में हिन्दी के अध्यापक हैं। आपने ठेठ हिन्दी, साधारण हिन्दी और कठिन हिन्दी सभी प्रकार की भाषाओं में रचना की है। आपने २५ से अधिक ग्रन्थ रचे या अनुवादित किये हैं। गद्य की अपेक्षा आप पद्य अधिक अच्छा लिखते हैं।

कविता के लिए आपने अपना नाम "हरि औध" रख छोड़ा है।]

सूरज वैसा चमकता है, बयार वैसी ही चलती है, धूप वैसी ही

उजली हैं, रूख वैसे ही अपनी ठौर खड़े हैं, उनकी हरियाली वैसी ही है, बयार लगने पर उनके पत्ते वैसे ही धीरे धीरे हिलते हैं, चिड़ियाँ वैसी ही बोल रही हैं, रात में चाँद वैसा ही निकला, धरती पर चाँदनी वैसी ही छिटकी, तारे वैसे ही निकले, सब कुछ वैसा ही है। जान पड़ता है देवबाला मरी नहीं। धरती सब वैसी ही है, पर देवबाला मर गई। धरती के लिये देवबाला का मरना जीना दोनों एक सा है। धरती क्या गाँव में सहज पहले वैसा ही है। हँसना, बोलना, गाना, बजाना, उठना, बैठना, खाना, पीना, आना, जाना सब वैसा ही है। देवबाला के मरने से कुछ घड़ी के लिए दो एक जन का कलेजा कुछ दुखा था, पर अब उनको देवबाला की सूरत तक नहीं है। वह भी देवबाला को भूल गये। हाँ! अब तक एक कलेजे में दुःख की आग जल रही है। अब तक एक जन की आँखों में आँसू बहता है, वह देवबाला के लिये बावला बन रहा है। वह दूसरा कोई नहीं रमानाथ है। पीछे किरिया करम का झमेला हुआ, दूसरे काम काज की झंझट हुई। रमानाथ को ही यह सब कुछ सम्हालना पड़ा। धीरे धीरे उसका दुःख भी घटने लगा, धीरे धीरे वह भी देवबाला को भूल रहा है। एक एक करके दिन जाने लगे। देवबाला को मरे कई दिन हो गये, पर देवनन्दन अब तक नहीं भूले हैं। अब तक वह लड़कपन की हँसती-खेलती देवबाला, अब तक वह ब्याह के पहले की बिना

घबराहट की लजीली देवबाला, अब तब वह दुखिया रोनी कलपती देवबाला, उनकी आंखो मे, कलेजे मे, रोयें रोयें मे, घूम रही है। सो उठते, बैठते, खाते, पीते, देवबाला ही की सूरत उनको बनी रहती है। वह सोचते है। क्यों ? देवबाला की कोई ऐसी कमाई तो नही थी, जिससे उसको इतना दुःख मिले, फिर किस लिए उसका ब्याह ऐसे निठल्लू, निकम्मे, अनपढ बुरे के साथ हुआ, जिससे उसको कलप कलप कर दिन बिताना पड़ा ? क्यों उसके मां-बाप ने उसको ऐसे घर मे ब्याहा जहां वह एक मूठी नाज के लिए तरसती रही ? क्यों ब्याह के छही महीने पीछे ससुर मर गया ? बरस भर पीछे सास भी मर गई। मां बाप जगन्नाथ जी गये, फिर न लौटे। रमानाथ कहते थे, वह दोनों एक दिन कलकत्ते मे मर गये। क्यों एक के पीछे एक यह सब कलेजा कँपाने वाली बातें हो गई ? और क्यों जब उसके दिन फिर फिरने को हुए तो वह आपही चल बसी ? क्या जो इस पृथ्वी पर डर कर चलता है वही मुँह के बल गिरता है ? क्या धरम मे रहने वाले ही को सब कुछ भुगतनी होती है। राम जानें यह क्या बात है। पर जो ऐसा न होता, देवबाला को इतना दुःख न भोगना पड़ता। सास-ससुर सब दिन जीते नही रहते। मां, बाप, सास, ससुर के मरने से कभी देवबाला को इतना दुःख न भुगतना होता, जो रमानाथ भला होता। रमानाथ के बुरे और निकम्मे होने ही से देवबाला की यह सब दशा हुई।

इससे मैं समझता हूँ, देश की बुरी रीति जो रमानाथ के जी को डाँवाडोल नहीं कर सकती, अनसमझी से जो यह छोड़ ही को सब बातों में बढ़ कर समझते, झूठ घमण्डों के बस उतर कर ब्याह करके लोगों में हँसी जाने का जो उनको दुख न होता, तो वह हठ न करते और जो वह हठ न करते तो रमानाथ जैसे बूढ़े के साथ देवबाला का ब्याह न होता, और जो रमानाथ के साथ देवबाला का ब्याह न होता, तो कभी देवबाला जैसी भली तिरिया की यह दशा न होती। देश की बुरी रीतियों, झूठे घमण्डों से कितने फूल जो ऐसे ही बिना खिले कुम्हिला जाते हैं कितनी लहलही कलियाँ जो नुच कर सूख कर धूल में मिल जाती हैं, नहीं कहा जा सकता। राम! क्या यही चाहते हो, यह इन बुरी रीतियों से ऐसे ही दिन दिन मिट्टी में मिलता रहे। इतना कह कर देवनन्दन फिर सोचने लगा, जब मैंने जग से नाता तोड़ लिया जी के उबार से घर-दुआर छोड़ कर साधू हो गया। अपना ब्याह तक नहीं किया एक कौड़ी भी अपने पास नहीं रखता। काम लगने पर दूसरे का दुख छुड़ाने के लिए दो चार सौ अपने भाई से लेता था। अब वह भी नहीं लेता। उसी को समझा दिया मेरे ओट के रुपये से दीन दुखियों का भला करते रहना। जब इस भाँति मैं झमेलों से दूर हूँ, ढूँढा और सँभाली ही से काम करता हूँ—

तो फिर एक तिरिया की घडी घडी सुरत किया करना उसके दुःखों को सोच सोच कर मन मारे रहना, देस की बुरी रीति के लिये कलेजा पकडना, आँसू बहाना, मुझे न चाहिए। अब इन बखेडों से मुझको कौन काम है। धरती का ढंग ऐसा है, सब दिन सब का एक सा नही बीतता। उलट फेर इस जग मे हुआ ही करता है, इसको कौन रोकने वाला है। फिर उसने सोचा, भभूत लगाने से क्या होगा, गेरुआ पहनने से क्या होगा, घर दुआर छोडने से क्या होगा, लँगोटी किस काम आवेगी, तूँबा क्या करेगा, साधू होने ही से क्या, जो दूसरे का दु ख मै न दूर करूँ, दुखिया को सहायता न दूँ, जिस काम के करने से देस का भला हो उसमे जी न लगाऊँ। देस की बुरी बात के दूर होने के लिए जतन करना, लोगों के झूठे घमंड को समझा बुझाकर छुडाना, जिससे एक को कौन कहे लाखों का भला होगा, क्या मेरा काम नही है, क्या मेरे साधू होने का सब से बडा फल यह नहीं है? देवबाला भूल जावे, उसको अब भूल जाना ही अच्छा है। पर सांस रहते, मै दूसरों की भलाई के कामों को कैसे भूल सकता हूँ। पर क्या कभी मेरे मन की बात पूरी होगी? क्या कभी यहां वाले अपने देस की बुरी चालों को दूर करना सीखेंगे।

क्या दूसरों की भलाई का रंग यहां वालों पर चढ सकता है? क्या हठ छोड कर इस देश के लोग भली भांति बातों के करने में जी लगा सकते है? क्या जतन करने से कुछ होगा?

इसी बीच देवनन्दन ने सुना जैसे किसी ने कहा "हाँ होगा"। उन्होंने आँख उठा कर देखा, आकाश में एक जोत सामने उतरती चली आती है और उसी में बैठा जैसे कोई कह रहा है, "हाँ होगा"। देवनन्दन थिर होकर उसको देखने लगा। उसी में फिर यह बात सुन पड़ी, क्या तुम मुझको जानते हो? मेरा नाम आशा है? मेरे बिना धरती का कोई काम नहीं चल सकता, मैं तुमको बतलाती हूँ। जतन करो, जतन करने से सब कुछ होगा। देवनन्दन ने बहुत बिनती के साथ कहा, कब तक होगा, माँ? फिर यह बात सुनने में आई कि जतन करने वाले को कब तक की बात मुँह पर न लानी चाहिए। जब तक उस का काम न हो तब तक उसे जतन करते रहना चाहिए। देवनन्दन ने देखा, इतनी बातों के कहने के पीछे वह जोत फिर आँखों से ओझल हो गई। देवनन्दन कब तक जीते रहेंगे और किस किस ढंग से उन्होंने देस की बुरी चालों को दूर करने के लिए जतन किया, कैसे कैसे खोटों को छुटा कर अपने देश भाइयों का भला करना चाहा, इन सब बातों को यहाँ उठाने का काम नहीं है। पर जब तक वे जीते रहे उनका यह काम था। कुछ दिनों रमानाथ भी उसका साथी हो गया था।

बहुत दिन तक लोगों ने देवनन्दन को दूसरों की भलाई के लिए घूमते देखा था, पर पीछे उनको भी धरती छोड़नी पड़ी। जिस दिन उन्होंने धरती छोड़ी उस दिन चारों ओर से लोगों को यह बात सुन पड़ी थी "क्या फिर कोई देवनन्दन जैसा माई का लाल न जनमेगा?" —["ठेठ हिन्दी का ठाट" से]

१४

सम्भाषण में शिष्टाचार

लेखक—श्रीयुत कामता प्रसाद गुरु

[गुरु जी का जन्म संवत् १९३२ के पौष मास में सागर (मध्य प्रदेश) में हुआ था। आपके पूर्वज रानियों के गुरु थे। इसीलिए इनका परिवार 'गुरु' कहलाने लगा। गुरु जी हिन्दी के उच्च कोटि के लेखक हैं। आज कल आप जबलपुर के नार्मल स्कूल में अध्यापक हैं। आप ने कुछ काल तक सरस्वती और बाल सखा का भी संपादन किया है। आपकी भाषा व्याकरण-सम्मत तथा सरल रहती है और लेख न्याय-संगत तथा सारगर्भित होते हैं। उनमें विनोद की मात्रा भी अच्छी रहती है। आपने 'हिन्दुस्तानी शिष्टाचार" और "सुदर्शन" आदि कई ग्रन्थ लिखे हैं। पर आपका रचा हिन्दी-व्याकरण सब से महत्वपूर्ण और विद्वत्तासूचक है।]

मनुष्य की विद्या, बुद्धि और स्वभाव का पता उसकी बातचीत से लग जाता है, इसलिए उसे अपने विचार प्रकट करने के लिए बातचीत में बड़ी सावधानी रखना चाहिए। सम्भाषण में सावधानी की आवश्यकता इसलिए भी है कि बहुधा बात ही बात में कप बढ़ जाती है। यथार्थ में मनुष्य की बातचीत ही उसके कार्यों की सफलता अथवा असफलता का कारण होती है। किसी कवि ने कहा है—'कहैं कृपाराम सब सीखिबो निकाम एक बोलिबो न सीखो सब सीखो गयो धूल में।' जिसकी बातचीत में सभ्यता वा शिष्टाचार का अभाव रहता है उससे लोग बातचीत करना नहीं चाहते।

सम्भाषण करते समय श्रोता की मर्यादा के अनुरूप 'तुम', 'आप' अथवा 'श्रीमान्' का उपयोग करना चाहिए। इनमें 'आप' शब्द इतना व्यापक है कि वह 'तुम' और 'श्रीमान्' का भी स्थान ग्रहण कर सकता है। 'तुम' का उपयोग अत्यन्त साधारण स्थिति के लोगों के लिए या अधिक घनिष्ट परिचय वाले समवयस्क के लिए और 'श्रीमान्' का उपयोग अत्यन्त प्रतिष्ठित महानुभावों के लिए किया जाय। बहुत ही छोटे लड़कों को छोड़ कर और किसी के लिए 'तू' का उपयोग करना उचित नहीं। किसी के प्रश्न का उत्तर देने में 'हाँ' या 'नहीं' के लिए केवल सिर हिलाना असभ्यता है। उसके बदले "जी हाँ" या "जी नहीं" कहने की बड़ी आवश्यकता है। बातचीत

इस प्रकार रुक रुक कर न की जाय कि जिस से श्रोता को उकताहट मालूम पडने लगे। बातचीत करते समय इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि बोलने वाला बहुत देर तक अपनी ही बात न सुनता रहे, जिस से दूसरो को बोलने का अवसर मिले और वे बोलने वाले की बक बक से ऊब न जायँ। बातचीत बहुधा संवाद के रूप मे होनी चाहिए, जिस से श्रोता और वक्ता—दोनों का अनुराग सम्भाषण मे बना रहे।

सभ्य वार्तालाप मे इस बात का ध्यान रक्खा जाता है कि किसी के जी को दुखाने वाली कोई बात न कही जाय। सम्भाषण को, जहाँ तक हो सके, कटाक्ष, आक्षेप, व्यंग्य, उपालम्भ और अश्लीलता से मुक्त रखना चाहिए। अधिकार की अहम्मन्यता मे भी किसी के लिए कटु शब्द का प्रयोग करना अपने को असभ्य सिद्ध करना है। किसी नए व्यक्ति के विषय मे परिचय प्राप्त करने के लिए बातचीत मे उत्सुकता न प्रकट की जाय और जब तक बडी आवश्यकता न हो किसी की जाति, वेतन, वंशावली, वय आदि न पूछा जाय। किसी से कुछ पूछते समय प्रश्नों की झडी लगाना उचित नही। यदि कोई सज्जन आपका प्रश्न सुन कर भी उत्तर न दे तो उसके लिए उससे अधिक आग्रह न करना चाहिए। यदि ऐसा जान पड़े कि वह उत्तर देना भूल गया है तो अवश्य ही नम्रता-पूर्वक दूसरी बार उस से प्रश्न किया जाय।

बातचीत में आत्म प्रशंसा को यथा सम्भव दूर रखना चाहिए। साथ ही बातचीत का ढङ्ग भी ऐसा न हो कि श्रोता को उसमें अपने अपमान की झलक दिखाई दे। बातचीत में विनोद बहुत ही आनन्द लाता है, परन्तु सदैव हँसी ठट्ठा करने की टेव वक्ता और श्रोता दोनों के लिए हानिकारक है। सम्भाषण में उपमा और रूपक का प्रयोग भी बड़ी सावधानी से किया जाय, क्योंकि इससे बहुधा अर्थ का अनर्थ हो जाने का डर रहता है। यदि वार्तालाप करते समय रसीली व छोटे छोटे पद्यों और कहावतों का उपयोग किया जाय तो इनसे बोलचाल में सरलता और प्रामाणिकता आ जाती है। तथापि 'अति सब की बुरी होती है'।

यदि कोई दो-चार सज्जन इकट्ठे किसी विषय पर बातचीत कर रहे हों तो अचानक उनके बीच में जाना अथवा उनकी बातें सुनना अशिष्टता है। ऐसे अवसर पर लोगों के पास जाकर बिना कुछ पूछे ही बातचीत करने लगना अनुचित है। कभी कभी किसी मनुष्य को चुपचाप देखकर लोग उससे कुछ कहने का आग्रह करते हैं। ऐसी अवस्था में उस मनुष्य का कर्त्तव्य है कि वह कोई मनोरञ्जक बात या विषय छेड़ कर उनकी इच्छा-पूर्ति करे।

किसी की असम्भव बातें सुन कर भी उसकी हाँ में हाँ मिलाना चापलूसी है और न्याय-सङ्गत बातें मानकर भी उनको

खण्डन करना दुराग्रह है। लोगों को इन दोषों से बचना चाहिए। यद्यपि वार्तालाप मे दूसरे के मन का समर्थन करने से, अथवा उसकी प्रशंसा मे दो-चार शब्द कहने मे चापलूसी का कुछ आभास रहता है, तथापि इतनी 'चापलूसी' के बिना सम्भाषण नीरस और अप्रिय हो जाता है।

इसी प्रकार अपने मत का समर्थन करने और दूसरे के मन का खण्डन करने मे कुछ न कुछ दुराग्रह झलकता है तो भी इतना दुराग्रह सभ्य और शिक्षित समाज मे क्षन्तव्य है। किसी अनुपस्थित सज्जन की अकारण निन्दा करना शिष्टता के विरुद्ध है और परनिन्दक को सभ्य तथा शिक्षित लोग बहुधा अनादर की दृष्टि से देखते है। विद्वानों के समाज मे मत-भेद होने के अनेक कारण उपस्थित होते है, इसलिए जब किसी के मत का खण्डन करने का अवसर आवे तब बहुत ही नम्रता-पूर्वक और क्षमा-प्रार्थना करके उस मत का खण्डन करना चाहिए। खण्डन भी ऐसी चतुराई से किया जाय कि विरुद्ध मत वाले को बुरा न लगे। बातचीत मे क्रोध के आवेश को रोकना चाहिए। और यदि यह न हो सके तो उस समय मौन धारण ही उचित है। वचनों का उत्तर व्यग्य से ही देना नीति की दृष्टि से अनुचित नहीं है, तथापि शिष्टाचार कम से कम एक बार सहन करने का परामर्श देता है।

जिससे बातचीत की जाती है उसकी योग्यता का विचार

कर के कल्पनात्मक अथवा विचारात्मक विषय पर सम
किया जाय। नवयुवकों से एकान्त की चर्चा करना और
वृद्ध लोगों का शृङ्गार रस की विशेषतायें बताना शिष्टा
विरुद्ध है। सड़क पर खड़े होकर अथवा चलते हुए किसी
से (विशेषकर दूसरे घर की स्त्री से) बात-चीत करना अ
समझा जाता है। यदि कोई मनुष्य किसी विचारात्मक क
लगा हो तो उसके पास ही जोर जोर से बात न करना चा
रोगी मनुष्य से अधिक समय तक बातचीत करना उसके
हानिकारक है, और इससे उसके रोग की भयङ्करता का
करना रोग से भी अधिक भयानक है।

यदि अपने किसी अनुपस्थित मित्र या सम्बन्धी की नि
की जा रही हो तो निन्दक को नम्रता-पूर्वक इस कार्य से
कर देना चाहिए। और यदि इतने पर भी अपनी बात क
प्रभाव निन्दक पर न पड़े तो किसी बहाने उसके पास
कर चले आना उचित है। इससे उसे अपनी मूर्खता
आपकी अप्रसन्नता का कुछ आभास हो जायगा। जो म
स्वयं अकारण दूसरे की निन्दा नहीं करता उसके सामने
को भी ऐसी निन्दा करने का साहस बहुधा नहीं होता।

किसी सभा-समाज या जमाव में अपने मित्र अथवा
चित व्यक्ति से ऐसी भाषा का अथवा ऐसे शब्दों का उपय
करना चाहिए, जिन्हें दूसरे न समझ सकें, अथवा जो

विचित्र जान पड़े। ऐसे अवसर पर किसी विशेष विषय की अथवा अपने ही धन्धे या नौकरी की बाते करने से दूसरे लोगो को अरुचि उत्पन्न हो सकती है। यदि किसी विशेष अथवा गहन विषय पर बहुत समय तक सम्भाषण करने की आवश्यकता न हो तो थोड़े-थोड़े समय के अन्तर पर विषय को बदल देना अनुचित न होगा।

बातचीत करते समय भाषा की उपयोगिता पर भी ध्यान देने की आवश्यकता है। कई लोग साधारण पढ़े-लिखे लोगों के साथ बातचीत करने मे, 'विचार-स्वातन्त्र्य,' 'व्यक्तिगत आक्षेप,' 'वैयक्तिक धारणा' आदि शब्दों का उपयोग करते है, जो साधारण पढे लिखे लोगों की समझ मे नहीं आ सकते। इसी प्रकार पण्डितों के समाज मे मनुष्य के लिए 'मानस,' माता के लिए 'महतारी,' पिता के लिए 'बाप' और भोजन के लिए 'खाना' कहना असङ्गत है।

हिन्दी-भाषी लोग बहुधा श, ष और क्ष का अशुद्ध उच्चारण करने के लिए प्रसिद्ध है। इसलिए शिक्षित लोगों को इस उच्चारण-दोष से बचना चाहिए। कई 'उर्दूदाँ' सज्जन अपनी बातचीत मे सिर को 'सर,' आंगन को 'सहन, बजाज को 'बज्ज़ाज़' और कमल को 'कमल़' कह कर अपनी भाषा-विज्ञता का परिचय देते हैं, जो शिक्षित-हिन्दी-भाषी-समाज मे उपहासयोग्य समझा जाता है। हमारे कई हिन्दी-भाषी भाई उर्दू-उच्चारण-शुद्धता के

मान में पड़ कर, हिन्दी के 'ज' वाले शब्दों में 'ज' की अशुद्ध बिंदी लगाते हैं और कदाचित उसे अपनी उर्दूदानी का प्रमाण समझते हैं। पर यह उनकी भूल है। क्योंकि ऐसा उच्चारण अशुद्ध होने के कारण दोनों भाषा भाषियों-द्वारा उपहास्यमान होता है। हमने उर्दू न जाननेवाले एक वकील महाशय को 'जायदाद', 'मजदूर', 'हज और ताज' कहते सुना है। वह एक महाशय तो 'मुझ गरीब घर आना है' कह कर वकील साहब को भी मात कर देते हैं। यद्यपि हमने उपर्युक्त वकील साहब को शिष्टता के अनुरोध से उस समय उनकी भूल नहीं बताई, पर हमें उनकी यथार्थ 'उर्दूदानी' का पता चल गया। कई लोग भूल से हिन्दी के फ अक्षर को 'फ' कहते हैं, जिसका उदाहरण उनके 'फर्ज', 'फूल' और 'फन्दा' कहने में मिलता है।

शिष्ट भाषण में इन दोषों से बचने की बड़ी आवश्यकता है। बिना उर्दू पढ़े उस भाषा के ज फ क और ग का उच्चारण करने का किसी को साहस न करना चाहिए। क्योंकि इससे शिक्षित समाज में, विशेषकर शिक्षित मुसलमानों में हँसी होती है। ये लोग अपने शुद्ध उच्चारण पर बड़ा गर्व करते हैं और दूसरी जातियों के अशुद्ध उच्चारण की हँसी उड़ाया करते हैं। इसके लिए सब से उत्तम उपाय तो यही है कि उनके उर्दू-शब्दों का उच्चारण हिन्दी के प्रचलित अक्षरों में किया जाय। हिन्दी लिपि

मे (उर्दू के संसर्ग से) अक्षरों के नीचे जो बिन्दी लगाने की अनिष्ट प्रथा है उसी से उच्चारण सम्बन्धिनी ये सब भूलें होती है।

मातृभाषा मे बातचीत करते समय बीच बीच मे अँगरेजी शब्दों को मिला कर एक प्रकार की खिचडी भाषा बोलने की जो दूषित प्रथा है उसका तो सर्वथा त्याग किया जाना चाहिए। भारत वर्ष मे इस 'खिचडी-सम्भाषण-प्रथा' का तो इतना प्रचार है कि कदाचित् ही कोई प्रान्त इसके आधिपत्य से बचा हो।

इसी प्रकार मातृभाषा मे ऐसे प्रान्तीय शब्द भी न लाये जायँ जो या तो बिलकुल भद्देस हो या दूसरे प्रान्त वाले जिन्हें समझ न सके। बिना किसी कारण के अपनी मातृभाषा को छोड़ अन्य भाषा मे बातचीत करना शिष्टता के विरुद्ध है।

१५

हिन्दी में विराम-चिह्नों का दुरुपयोग

अँगरेज़ी भाषा की शिक्षा के कारण हिन्दी में उस के विराम चिन्हों का उपयोग होने लगा है। यह सुधार हिन्दी के सिवा, और दूसरी आर्य भाषाओं में भी हुआ है; परन्तु उनके उल्लेख की आवश्यकता नहीं है। हम यहाँ इस विषय पर भी कुछ नहीं कहते कि इन विराम चिन्हों से हिन्दी को क्या लाभ अथवा हानि हुई है। इस लेख में हम केवल यही बताना चाहते हैं कि हिन्दी की अधिकांश पुस्तकों और सामयिक पत्रों में इन विराम चिन्हों का दुरुपयोग होता है।

विराम चिन्हों के विषय पर हिन्दी में किसी ने विशेष रूप

और विस्तार से विवेचन नही किया है और अधिकांश विराम-चिन्हों के उपयोग मे लेखक लोग एकमत नही है. इसलिए केवल हिन्दी जानने वाले इनका उपयोग करते समय बहुधा भूलें कर डालते है, जिनका फल यह होता है कि कई एक लेखों के यथार्थ अर्थ-बोध मे पाठकों को भ्रम हो जाता है।

सब से अधिक दुरुपयोग आश्चर्य-चिह्न का होता है जो प्रायः प्रत्येक सम्बोधन-पद के साथ लगा दिया जाता है; जैसे "मित्र ! आप से मैं एक बात कहना चाहता हूँ।" इस प्रकार के वाक्यों मे जब तक कोई तीव्र मनोविकार सूचित करने का प्रयोजन न हो, तब तक निरे सम्बोधन मे आश्चर्य-चिह्न का उपयोग भ्रामक है। हां, यदि कोई यह कहना चाहे कि "मित्र ! इस समय मेरी लाज तुम्हारे ही हाथ है !", तो "मित्र" के साथ आश्चर्य-चिह्न उचित होगा। नई प्रणाली के पत्रों मे "श्रीमन्" !. "प्रियवर" !, "मान्यवर महोदय" !, "प्रभो"!, आदि शब्दों के साथ आश्चर्य-चिह्न देकर लेखक की रुचि पर अवश्य आश्चर्य होता है ! इसी प्रकार. वाक्य के अन्त मे जहां एक भी आश्चर्य-चिह्न की आवश्यकता नहीं है, वहां तीन-तीन चिह्न लगे हुए मिलते हैं!!! इस प्रकार के चिह्न केवल भडकीले विज्ञापनों ही में शोभा देते हैं; जैसे, "आइए ! देखिए !! लीजिए !!!" नीचे लिखे उदाहरणों मे आश्चर्य-चिन्हों का उचित उपयोग हुआ है क्योंकि उसमे लेखक

ने विलायती समाचार पत्रों और लेखकों के लेखों की जो प्रतिष्ठा सूचित की है उससे हम लोगों के चित्त में अद्भुत रस की उत्पत्ति होती है—

"सण्डे पिक्टोरियल नाम का एक समाचार-पत्र विलायत से निकलता है। वह साप्ताहिक है। विन्स्टन चर्चिल साहब ने उसमें—महायुद्ध के चार अध्याय—नामक चार लेख लिखे, उन के लिए उन्हें १५ हजार रुपया दक्षिणा मिली! जिन संख्याओं में उनके ये लेख निकले, उनमें प्रत्येक की २५ लाख कापियाँ बिकीं।" —सर०।

यदि इस विचार को कोई विलायत वाला लिखता, तो सम्भव था कि वह इसमें आश्चर्य का एक भी चिह्न न लगाता। सारांश यह है कि अनेक स्थानों में आश्चर्य चिह्न के शुद्ध पर्यायी विराम (,) और पूर्ण विराम (।) ही हैं, पर लोग यथार्थ की अपेक्षा अद्भुत से अधिक राज़ी हैं।

उलटे कामाओं (अवतरण चिन्हों) के उपयोग में भी बहुधा असावधानी और भूल होती रहती है। हिन्दी में इनके उपयोग की उतनी आवश्यकता नहीं है जितनी अँगरेजी में है क्योंकि पिछली भाषा में परोक्ष भाषण (Indirect Speech) की अधिकता होने के कारण, प्रत्यक्ष भाषण को चिन्हों द्वारा सूचित किए बिना, उस का अर्थ समझने में कठिनाई होती है। ऐसी अवस्था में हम लोगों को इन चिन्हों का उपयोग एक

उचित सीमा के भीतर ही करना चाहिए। अधिकांश लेखक "कहना", "पूछना", "बोलना", "बताना", आदि क्रियाओं के पश्चात आने वाले आश्रित वाक्यों को नियम-पूर्वक इन चिन्हों के भीतर रखते हैं, परन्तु सब लोग इस बात को आवश्यक नहीं समझते। इस विषय के नीचे जो उदाहरण दिए जाते हैं उन से जान पडेगा कि अवतरण-चिन्हों का उपयोग बहुत कर के ऐच्छिक है—

(क) स्वामी ने उत्तर दिया—"भाई, जो मनुष्य दीन, अतिथि और साधु-सन्त का आदर और सत्कार करता, उन को यथेच्छ भोजन देता और यथा-शक्ति द्रव्य-दान देकर उनको विदा करता हैं, उसी का जीवन सार्थक है"।—ना० प्र० प०।

(ख) उन्होंने कहा कि नई रोशनी के हमारे सजातीय नव-युवक हम लोगों का तो नहीं, परन्तु विजातीय कवियों का अत्यधिक आदर करते है।—सर०।

(ग) तब गुरु ने कहा कि तुमने हमारे बिना पूछे गायों का दूध क्यों पिया? ऐसा तुम्हें न करना चाहिए। तब गुरु से—"मैं दूध नही पीऊँगा"—ऐसी प्रतिज्ञा कर (यह) फिर गायें चराने को ले गया और लौटते समय गुरु के समीप आकर प्रणाम किया। —विद्यार्थी।

इनमे के [illegible] मे यह विशेषता है कि आश्रित [illegible] उसके कुछ शब्द पश्चायात् आया

है। ऐसी अवस्था में आश्रित वाक्य को, स्पष्टता के लिए, अवतरण चिन्हों के बीच में रखना आवश्यक है। इसके पूर्व जो आश्रित वाक्य आया है वह यथा स्थान लिखा गया है; इसलिए उसे अवतरण चिन्हों में रखने की आवश्यकता नहीं हुई।

कोई कोई लेखक अवतरण चिन्हों का काम डैश (—) से लेते हैं जिसके कारण संयोजक "कि" का लोप हो जाता है; जैसे, स्वामीजी ने हँस कर कहा—लोग कुछ दिनों के लिए गृहस्थ बनना छोड़ दें तो कुछ लाभ होने की सम्भावना है। —सर०।

डैश का यह उपयोग संवाद मय लेखों (और नाटकों) में तो सर्व-सम्मत है, परन्तु वर्णन के बीच में और विशेषकर प्रस्ताविक क्रिया (कहना, पूछना आदि) के पश्चात जो संवाद आते हैं उनमें विराम (कामा) ही उपयुक्त जान पड़ता है; जैसे, एक दिन उपमन्यु के परीक्षार्थ गुरुजी ने कहा, "वत्स उपमन्यो! आज तुम वन में जाकर हमारी गायें चरा लाओ।—विद्यार्थी।

किसी किसी पुस्तक में एक के बदले तीन तीन चिन्ह लगाए जाते हैं; जैसे, वह बच्चा एक दाई को देते समय उसने कहा था,—"इसका पालन पोषण बहुत अच्छी तरह करना क्योंकि यह विलक्षण और अमानुषी शक्ति का आदमी होगा"। —ना० प्र० प०।

इस उदाहरण में 'करना" और "क्योंकि" के बीच में तो लेखक ने अर्द्ध विराम (;) छोड़ दिया, पर जहाँ अकेले एक

कामा से काम निकलता था, वहाँ कामा, डैश, और उलटे कामा लगा दिये! यदि वाक्य लम्बा हो, और आश्रित वाक्य दूसरे पैरे मे लिखा जाय, तो मुख्य वाक्य के अन्त मे डैश लगाना ही ठीक होगा, जैसे, सब कुछ कहते कहते अन्त मे उन्होने यही कहा है कि कहाँ तक कहूँ—

यद्यद्विभूतिमत्सत्वं श्रीमदूर्जितमेव वा
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोऽशसम्भवम।

—ना० प्र० प०।

हम समझते है कि हिन्दी मे अवतरण चिन्हों का उपयोग केवल नीचे लिखे स्थानों मे होना चाहिये।

(क) व्याकरण तथा तर्क के उदाहरणों मे।

(ख) किसी के महत्त्व-पूर्ण वचन उद्धृत करने मे।

(ग) पुस्तक, समाचार-पत्र, चित्र, पदवी, लेख, आदि के नामो मे, जैसे, "गीतारहस्य", "पाटलिपुत्र", "वधू की सहेलियाँ", "रायबहादुर", "शिक्षा का माध्यम", आदि।

(घ) किसी शब्द अथवा अक्षर का प्रयोग केवल शब्द या अक्षर के अर्थ मे होने पर, जैसे, अनुवाद के अश मे "एक" शब्द "पहाड" के पहले रक्खा जाता तो ठीक था।

(ङ) किसी वस्तु के व्यक्तिवाचक नाम और लेखक के उपनाम मे; जैसे, "अरेबिया" (जहाज़), "मधुप"। —ह०।

(च) अप्रचलित विदेशी शब्द में, जैसे, 'रैड क्रास", राँटी।'—इ०।

(छ) किसी विशेष प्रचलित अथवा अप्रयोग्य शब्द या वाक्यांश में, जैसे, 'रामभटर", "प्रस्ताव","बायकाट", "नाटक', "स्वतन्त्र काव्य की बेड़ियाँ'। —इ०।

(ज) ऐसे शब्द के लिए जिसका आलय भी बताना हो; जैसे, विभक्ति का "विभक्त' करके लिखना चाहिए; इन्द्र "सिंहासन" पर बैठा।—इ०।

हम यहाँ यह कह देना आवश्यक समझते हैं कि ऊपर लिखे नियम सर्वथा पूर्ण और निरपवाद नहीं हैं।

अर्द्धविराम (;) के उपयोग में बहुधा यह भूल होती है कि कई लेखक "इसलिए", "परन्तु", "और',"क्योंकि' से आरम्भ होने वाले वाक्यों को सदा पूर्ण विराम के पश्चात् लिखते हैं; जैसे, "मछलियों पर इस परिवर्तन का और भी जल्दी और अधिक प्रभाव पड़ता है। और कीड़े मकोड़े आदि तो ऋतु परिवर्तन के अनुसार और भी शीघ्र परिवर्तित हो जाते हैं" ।—ना० प्र० प०।

बङ्गाली भाषा भी इस पद पर प्रतिष्ठित हो सकती है। क्योंकि फरांसीसी भाषा की तरह यह बड़ी मधुर है।—सर०। इ०।

ऊपर लिखे समुच्चय बोधक शब्दों से केवल किसी विशेष अवस्था में वाक्यों का आरम्भ हो सकता है, सर्वत्र नहीं।

यदि एक लेखाश में बहुत सी युक्तियाँ देकर किसी विषय का मण्डन किया जाय और दूसरे लेखांश मे उसका खण्डन किया जाय, तो इस लेखाश को भी "पर" से आरम्भ कर सकते है, पर छोटे-छोटे वाक्यों के पर नोचना अन्याय है। इस प्रक्रिया से तो व्याकरण और न्याय के "संयुक्त वाक्यों" का अस्तित्व ही लुप्त हो जाने का डर है!

हिन्दी मे कोष्ठक का प्रयोग बडी ही विचित्र रीति से होता है। इसके भीतर कभी कभी दो दो वाक्य रख दिये जाते है, पर यह विचार नही किया जाता कि इन वाक्यों के साथ दूसरे वाक्यों या शब्दों का कुछ सम्बन्ध मिलता है या नहीं। उदाहरण के लिए नीचे लिखा वाक्य देखिए--

"स्त्रियाँ भोजन बेगम साहबा के सम्मुख ले जा कर खोलतीं तब दस्तरख्वान (जिस कपडे पर भोजन रक्खा जाता है) पर भोजन विधिपूर्वक रखतीं"।

इस वाक्य मे जिस योग्यता से "दस्तरख्वान" का अर्थ समझाया गया है, उस योग्यता के सामने "खोलतीं" और "तब" के बीच का विराम उड गया! फिर "सम्मुख" के पीछे आने वाला "भोजन" उसके पहले ही आ बैठा! पर इन बातों से हमे यहाँ कोई सम्बन्ध नही है· हमारा आक्षेप कोष्ठकगत वाक्य पर है जो "दस्तरख्वान" का समानाधिकरण है। इस वाक्य के

पश्चात् "पर" शब्द पढ़ कर एक बार वैयाकरण भी चक्कर में आ जायगा। वह कहेगा कि क्या कभी वाक्य के पश्चात् भी विभक्ति अथवा सम्बन्ध-सूचक अव्यय आता है! विस्तार भय से हम यहाँ समानाधिकरण शब्दों और वाक्यों के विषय में कुछ न लिख कर, केवल इसी वाक्य को शुद्ध करते हैं, जो इस प्रकार होना चाहिए—

'तब दस्तरख़्वान (भोजन रखने के कपड़े) पर भोजन रक्खीं'। अथवा दूसरे प्रकार से, "तब दस्तरख़्वान पर (जिस कपड़े पर भोजन रखते हैं) भोजन रक्खीं'। बिना इस प्रकार के परिवर्तन के वाक्य का अर्थ केवल अटकल ही से लगाया जायगा।

कोष्ठक के इस दुरुपयोग के अनेकों उदाहरण मिलते हैं, और ऐसा जान पड़ता है कि लोग इसे कलाई घड़ी के समान शोभा की वस्तु समझते हैं, फिर चाहे वह ठीक समय बतलावे, चाहे गलत। इस दुरुपयोग का एक और उदाहरण यह है—

"इनके लिए सन् १८८४ में एक नाइट-स्कूल (रात्रि की पाठशाला) खोला गया"।

इस उदाहरण में दोनों समानाधिकरण शब्द एक ही लिङ्ग के होने चाहिए। "पाठशाला" के बदले "विद्यालय" लिखने से भूल शुद्ध हो सकती है।

कोष्ठक के समान डैश की भी दुर्गति है। यद्यपि डैश कभी

कभी विराम और अवतरण-चिन्हों का पर्यायी हो जाता है,तथापि उस का यथार्थ सम्बन्ध कोष्ठक से है और इसी के समान उस का प्रयोग होता है। दोनों में विशेष अन्तर यह है कि कोष्ठक बहुधा शब्दार्थ अथवा अतिरिक्त वर्णन में आता है और डैश कुछ अधिक सम्बद्ध विषय सूचित करता है। हिन्दी में डैश के उपयोग की बहुधा यह भूल होती है कि इसका उपाय (उपयोग ?) कहीं-कहीं सीमा के बाहर हो जाता है और डैशों की भरमार से पाठकों का मन ऊब जाता है। इस विषय मे सरस्वती के सम्पादक* महाशय की प्रवृत्ति सब से अधिक दिखाई देती है। डैश के योग से बने हुए वाक्य बहुधा व्याख्यान ही की भाषा मे शोभा देते हैं। इस विषय के दो उदाहरण नीचे दिए जाते है—

(क) अपनी इस इच्छा को—महत्वाकाक्षा को--प्रतिज्ञा को—सदैव जागृत रखने के लिए उसने अपने नेत्रों के सामने P अक्षर लिख रक्खा था!--विद्यार्थी।

(ख) अनेक प्रकार के व्यवहारों मे से जो अनुभव हुए हैं—

---

*हम समझते थे कि इससे समानार्थक शब्दों का ज्ञान बढ़ता है, आशय स्पष्टतर हो जाता है और सदा कदा मनोरञ्जन भी हो सकता है। पर अब मालूम हुआ कि यह ढग पाठकों के केवल जी उबाने का कारण होना है।—स० स०।

जो नज़र में हुए हैं—इन्हीं के आधार पर सम्पतिशास्त्र के सिद्धान्त निश्चित किए गए हैं।—स० सं०।

प्रश्नवाचक चिह्न के सम्बन्ध में भी हिन्दी में भूलें मिलती हैं। भूलें बहुधा दो स्थानों में होती हैं। एक भूल "बताना", "कहना", "समझाना" और "लिखना" आदि क्रियाओं के विधि-काल में होती है जिसे कुछ अर्द्ध शिक्षित परीक्षक भूल से प्रश्नवाचक समझ लेते हैं; जैसे, 'सिकन्दर ने भारतवर्ष पर जो चढ़ाई की थी, उसका संक्षिप्त वर्णन लिखो ?' दूसरी भूल उन प्रश्नवाचक शब्दों के कारण होती है जो अर्थ में केवल सम्बन्ध वाचक हैं, जैसे, वह लोग यह नहीं जानते कि रबर कैसे बनता है ? ऐसे स्थानों में प्रश्नचिह्न के बदले पूर्ण विराम का प्रयोग करना चाहिए। कभी कभी आश्चर्य और प्रश्न के चिन्हों की आपस में मुठभेड़ हो जाती है; जैसे वह मन में चिन्ता करने लगा कि अब मैं क्या करूँ ? इस वाक्य में प्रश्न के बदले आश्चर्य का चिह्न चाहिए।

हिन्दी में कोलन ( ) का स्वतन्त्र उपयोग नहीं होता; क्योंकि इसमें विसर्ग का भ्रम हो जाने की सम्भावना* है; पर डैश के

---

* इसी से हमने लेखक महाशय के इस लेख के कोलन डैशों (:—) में से कोलन निकाल डाले हैं। इनके कथन को स्पष्ट करने के लिए केवल इसमें और नीचे के पैरे में दोनों रहने दिये हैं। स० सं०

साथ यह चिह्न आगे आने वाली बात की सूचना देने के लिए प्रयुक्त होता है। इस मिश्रित चिह्न (:—) के उपयोग मे हम लोग कभी-कभी यह भूल करते है कि इस का प्रयोग एक ही पैरे के भीतर कर देते हैं: जैसे, शब्द दो प्रकार के होते हैं:-- सार्थक और निरर्थक। इस उदाहरण मे केवल डैश चाहिए। कोलन और डैश का उदाहरण नीचे दिया जाता है:--

इस लेख के लिखने में हमने नीचे लिखे मासिक पत्रों और पुस्तकों से कुछ उदाहरण चुने हैं:--

(१) सरस्वती।

(२) नागरी-प्रचारिणी पत्रिका।

(३) विद्यार्थी।

(४) सम्पत्ति शास्त्र।

(५) आत्मोद्धार।

—कामताप्रसाद गुरु

१६

शुक की कथा

अनुवादक—श्रीयुत गदाधर सिंह

[इनका जन्म सन् १८६९ में काशी में हुआ था वैसे आप रहने वाले सचेंडा जिला कानपुर के हैं। आप राजपूत सेना में नौकर हैं। आप चीन की लड़ाई में शामिल हुए थे। आप आर्य समाज के पुराने सभासद हैं। आपने चीन में १३ मास और हमारी एल्बर्ट तिलक यात्रा नामक दो पुस्तकें लिखी हैं। बंगला पुस्तक 'कादम्बरी' का हिन्दी में अनुवाद भी किया है।]

शूद्रक नामक एक परम बुद्धिमान् महाप्रतापी राजा अपने बाहुबल और पराक्रम से क्रमशः अनेक देश जीत कर वेत्रवती नदी के तीर पर विदिशा नामक नगरी में अकंटक राज्य करता

था। एक दिन प्रातःकाल राजा अपने मन्त्री कुमारपालित और अनेक राजाओं के संग सभा मे बैठा था कि द्वारपाल ने आ कर निवेदन किया—पृथ्वीनाथ, दक्षिण देश से एक तोता लिए हुए एक चाण्डाल-कन्या आई है। वह कहती है कि महाराज सब रत्नों के आकर है, इस हेतु मैं यह *पक्षि-रत्न उनके चरण-कमल* में अर्पण करने को लाई हूँ। द्वार पर खडी है। आज्ञा हो तो आकर आपके पदारविन्द के दर्शन करे। राजा प्रतिहारी का वाक्य सुनकर, चकित हो, सभासदो की ओर देख कर बोले—"कुछ हानि नही, आने दो।" प्रतिहारी राजाज्ञा पाते ही चाण्डाल कन्या को ले आया।

कन्या ने सभा-मण्डप मे प्रवेश करते ही देखा कि ऊपर एक मनोहर चँदवा टँगा है। उसके चारों ओर मोती की झालर लगी है। नीचे राजा हेममय आभरण धारण किए एक मणि-मय सिंहासन पर सुशोभित हैं और उनके चारों ओर सभासद-गण अपने अपने उचित स्थान पर बैठे हैं। उस समय की शोभा ऐसी जान पड़ती थी जैसे सुमेरु गिरि भूधरमण्डल के मध्य अपूर्व श्री धारण किए बैठा हैं। चाण्डाल-कन्या सभा की शोभा देख कर बड़ी चमत्कृत हुई। राजा की चितवन अपनी ओर फेरने की इच्छा से एक बाँस की छडी को, जो उसके हाथ में

से जैसे सब हाथी उसी की ओर देखने लगते हैं, उसी भाँति छड़ी का शब्द सुन कर सम्पूर्ण सभासदों ने चाण्डाल-कन्या की ओर देखने लगे। राजा ने भी उसी ओर दृष्टिपात करके देखा कि एक बूढ़ा मनुष्य और पीछे पिंजरा हाथ में लिए एक बालक और उन दोनों के मध्य एक परम सुकुमार कन्या खड़ी है। कन्या का रूप-लावण्य ऐसा था कि किसी भाँति वह चाण्डाल कुल की नहीं जान पड़ती थी। राजा उसकी अनुपम सुन्दरता और सुकुमारता को देख बड़े विस्मित हुए और एक टक देखने लगे। वे अपने मन में तर्कना करने लगे कि विधाता ने यह सोच कर कि लोग इस कन्या को हीन जाति जान कर न छुएँगे इसको इतना रूप-लावण्य दिया है। यदि ऐसा न होता तो ऐसी कान्ति और रूप का होना भी अनहोना है। जो हो, चाण्डाल के घर में ऐसी रूपवती का सम्भव असम्भव और बड़े आश्चर्य का विषय है। राजा इस प्रकार कल्पना कर रहे थे कि उसी समय कन्या ने आकर विनयपूर्वक प्रणाम किया। बूढ़ा हाथ में पिंजरा लेकर सम्मुख खड़ा होकर विनीत वचन कहने लगा—"महाराज, यह सुआ सकल शास्त्रवेत्ता, राजनीतिज्ञ, सद्वक्ता, चतुर, सकल कलाभिज्ञ, महा कवि और गुणी है। जो विद्या मनुष्यों को कठिनता से आती है, वह इसके कण्ठाग्र बसती है। इसका नाम वैशम्पायन है। संसार के समस्त राजाओं की अपेक्षा आप बड़े विद्वान और

गुण- ग्राही है। इस हेतु मै यह शुक पक्षी आप के पास लाया हूँ। यदि आप अनुग्रह कर ग्रहण करें तो यह कृतार्थ हो जाय । यह कह पिंजरा रख वह दूर जा खडा हुआ।

सुए ने पिजरे के भीतर से अपना दहिना चरण उठा कर "राजा की जय हो!" ऐसा आशीर्वाद दिया। राजा पक्षी के मुख से अर्थयुक्त वाक्य सुन कर बडे विस्मित और चमत्कृत हुए और कुमारपालित को पुकार कर कहने लगे, देखो मन्त्री! पक्षी भी मनुष्य की नाईं शुद्ध वर्णोच्चारण और मधुर स्वर से बात कर सकते है! मै जानता था कि ये केवल आहार, निद्रा और भय जानते है, बुद्धि-शक्ति और वाक्-शक्ति इनमे कुछ भी नहीं। परन्तु शुक का व्यापार देख कर हम को बडा आश्चर्य होता है। प्रथम तो यह आश्चर्य है कि पक्षी मनुष्य की चाल पर बात करता है। दूसरे यह कि जैसे ब्राह्मण दहिना हाथ उठा के आशीर्वाद देते है, उसी भांति शुक भी दहिना चरण उठा के यथा रीति आशीर्वाद देता है। कैसा आश्चर्य! इसकी बुद्धि और मनोवृत्ति भी मनुष्य के समान है।

राजा की बात सुन कर मन्त्री ने कहा--महाराज, पक्षी यदि मनुष्य की नाईं बोल सकता है, तो इसमें कुछ आश्चर्य नहीं, क्योंकि लोग तोता-मैना इत्यादि पक्षियों को बडे श्रम से शिक्षा देते है और वे भी पूर्व जन्म के संस्कार के कारण अनायास ही सीख लेते हैं। पहले ये भी मनुष्य की भांति बोल सकते थे, पर अग्नि

के शरीर में जड़ हो गए हैं। यही बातचीत होते होते सभा भङ्ग सूचक मध्याह्न काल का शंख बजा। स्नान का समय निकट आने राजा ने सभास्थित अपर राजाओं को विनीत वचन कह कर विदा किया। चाण्डाल कन्या को भी विश्राम करने की आज्ञा दी और ताम्बूल-वाहक से कहा कि तुम वैशम्पायन को महल में ले जाओ और स्नान भोजन कराओ।

अनन्तर इसके आप भी सिंहासन से उठ कर राजभवन में गए और स्नान पूजा आदि करके शयनागार में शय्या पर पौढ़े और प्रतिहारी को वैशम्पायन के लाने की आज्ञा दी। प्रतिहारी वैशम्पायन को शयनागार में ले आया। राजा ने पूछा—हे वैशम्पायन, तुम्हारा जन्म किस प्रकार से और कौन से देश में हुआ? तुम कोई सिद्ध हो या कोई महापुरुष हो? तपबल से कलेवर बदल देश देश में भ्रमण करते हो या किसी देवता की आराधना कर तुम ने वर पाया है? पहले तुम कहाँ रहते थे? किस भाँति चाण्डाल के हाथ पड़ कर पिंजरे में बन्द हुए? हम को इन सब बातों के सुनने की बड़ी इच्छा है। सो तुम अपना सम्पूर्ण वृत्तान्त कह कर हमारे चित्त को उद्वेग रहित करो।

वैशम्पायन ने राजा की यह बात सुन कर कहा कि यदि आपको सुनने की बड़ी अभिलाषा है तो सुनिए। भरतखण्ड के मध्य विन्ध्याचल के निकट विन्ध्य नामक एक जङ्गल है।

उस जङ्गल मे गोदावरी नदी के तीर पर अगस्त्य ऋषि का आश्रम था, जहां त्रेता मे भगवान् रामचन्द्र पिता के आज्ञानुसार सीता-लक्ष्मण समेत पञ्चवटी मे पत्तो की कुटी बना कर कुछ दिन टिके थे, जहां दुष्ट दशानन के भेजे हुए मारीच नामक निशाचर ने सोने का मृग बन कर सीताहरण कराया था, जहां जानकी-वियोग से व्याकुल राम और लक्ष्मण सजलनयन और गद्गद् वचनो से नाना प्रकार का विलाप और अनुताप करते हुए वहां के पशु-पक्षी और लताद्रुमादि को भी दुःखित करते थे। उसी आश्रम के समीप एक पम्पा नामक सरोवर है, जिसके पश्चिम ओर रामचन्द्र ने तीर से सात ताल को बेध कर वालि को मारा था। उसी के समीप एक बडा भारी शाल्मली का वृक्ष है। उसकी जड मे एक बडा अजगर बहुत दिनों से रहता था। उस वृक्ष की शाखा इतनी लम्बी और छतनार थी, मानो गगन-मण्डल के नापने के लिए हाथ फैलाए है, और उसकी पेडी इतनी ऊँची थी, जैसे कोई पृथ्वी के चतुर्दिक देखने को सिर उठाए हो। उस वृक्ष के खोखलों मे, फुनगी और पत्तों का खोता बनाकर, अनेक प्रकार के शुक, सारिका और अन्य पक्षी सुख से वास करते थे। वह वृक्ष बडा प्राचीन था और पतझाड होने पर भी रहने वाले पक्षियों के बच्चों के रात दिन उस मे रहने से पल्लवमय देख पडता था। उस पर के पंख-रहित बच्चे कहीं कहीं उस के फल समान जान पडते थे।

पक्षी सब अपने खातों में मात और प्रात काल आहार की खोज में गोल बाँध कर आकाश मार्ग में उड जाते। उस समय ऐसी शोभा जान पड़ती थी जैसे कोई हरी दूब-सम्पन्न गत उड़ा चला जाता है। वे सब दिग्दिगान्तरों में जाकर आहार एकत्र कर आप भी खाते और अपने बच्चों के लिए मुँह भर भर कर ले आते थे।

उस प्राचीन वृक्ष के खोखले में मेरे माता पिता भी रहते थे। दैव-संयोग से मेरी माता गर्भवती हुई और मेरे जन्म के उपरान्त प्रसव की पीड़ा से मर गई। मेरे पिता बड़े बूढ़े थे और स्त्री के मरने से यद्यपि बड़े व्याकुल और शोकचित्त हुए, परन्तु प्रीति-वश शोक त्याग कर मेरे लालन पालन में दिन व्यतीत करने लगे। उनको चलने फिरने की कुछ शक्ति न थी, तब भी धीरे धीरे उस वृक्ष के नीचे उतर कर जो कुछ आहार-द्रव्य पृथ्वी पर गिरा हुआ मिलता, उसे ला कर मुझे खिलाते और बचा खुचा आप खाते थे। एक समय प्रात काल जब चन्द्रमा अस्त हो गया था, पक्षी सब चहचहा रहे थे, सूर्य्य के उदय से गगन मण्डल रक्त-वर्ण हो रहा था, आकाश स्थित अन्धकार रूपी धूल सूर्य्य की किरण रूपी झाड़ू से परिष्कृत हो गई थी और सप्त ऋषि लोग स्नानादि के निमित्त मानसरोवर के तट पर उतर थे, उसी समय उस वृक्ष के रहने वाले सब पक्षी भी अपनी अपनी इच्छा के अनुसार देशदेशान्तर को चले। उन के

बच्चे चुपचाप खोतों मे बैठे थे और मैं भी अपने पिता के पास बैठा था कि एकाएक मृगया का शब्द सुनने मे आया। कहीं सिंह कडे स्वर से गरज रहे थे; कहीं घोडे, हाथी और मृग आदि बनैले पशु वन को मथन कर रहे थे; कहीं बाघ, रीछ और सूअर आदि भयानक जीव दौड रहे थे और कहीं महिप आदि बडे बडे जन्तु बड़े वेग से इधर उधर दौड रहे थे और उनके शरीर के धक्के से वृक्ष-लतादि टूट रहे थे। हाथी की चिंघाड से और घोडों के हिनहिनाने से, सिंह के गरजन और पक्षियों के कलरव से वन कोलाहलमय हो गया था और पेड सब भय के मारे कांपते थे। मैं उस कोलाहल को सुन कर बहुत डरा और कांपने लगा और अपने पिता की गोद में छिपकर वहीं से व्याध लोगों की बातें सुनने लगा। वे कहते थे कि देखो वह सूअर जाता है, यह हरिन दौडता है और वह हाथी जाता है, इत्यादि।

जब मृगया का कोलाहल बन्द हुआ और जंगल मे सन्नाटा हो गया, तो मैं धीरे धीरे पिता की गोद से निकल कर, खोते के बाहर सिर निकाल कर, जिधर शब्द होता था उसी ओर देखने लगा। तो क्या देखता हूँ कि यमराज के भाई के से विकट रूप के एक सेनापति के संग यमदूत की नाईं बहुत से व्याध चले आते हैं। उनको देख कर साक्षात भूत-मण्डस्थ भैरव अथवा दूत-संयुक्त कालान्तक का स्मरण होता था। सब

की उन्मत्तता से दोनों नेत्र रक्त-वर्ण हो गए थे, समस्त शरीर में रुधिर लगा हुआ था और संग में बहुत से बड़े बड़े कुत्ते थे। उन्हें देखने से यह जान पड़ता था, मानो कोई भयङ्कर असुर जङ्गल के पशुओं को पकड़ पकड़ कर खाता चला आता है। व्याधों को देख कर मैंने मन में विचार किया कि ये कैसे दुष्कर्मी और दुराचारी हैं। जङ्गल इनका घर है, धनुष धन, कुत्ते मित्र और बाघ सिंह आदि हिंसक जन्तुओं के साथ वास और पशुओं की प्राण हत्या इनकी जीविका है। इन के हृदय में दया का नाम भी नहीं है और न अधर्म का कुछ भय है। सत्कर्म तो ये जानते ही नहीं कि किसे कहते हैं। ये लोग सदा धर्म-पथ को छोड़ निन्दित और घृणित बने रहते हैं। मैं इस प्रकार तर्कना कर रहा था कि ये मृगया की थकावट को दूर करने की इच्छा से उसी वृक्ष के नीचे आ बैठे जिस में मैं रहता था; और एक निकटवर्ती सरोवर से जल और मृणाल ला कर उन लोगों ने जलपान किया और फिर चले गये।

उस सेना में से एक वृद्ध को उस दिन कुछ आखेट नहीं मिला था। वह उनका संग छोड़ उसी वृक्ष के नीचे खड़ा रहा। जब वे सब चले गये तो उसने अपनी लाल लाल आँखों से एक बार वृक्ष को नीचे से ऊपर तक देखा। उस के देखने ही से उस में के बच्चों के प्राण उड़ गये। हाय! दुष्टों को कोई कर्म असाध्य नहीं है। जैसे निसेनी द्वारा अटारी पर चढ़ने

मे किसी को क्लेश नही होता. उसी प्रकार वह दुष्ट कांटों ने घिरे हुए वृक्ष पर बडी सरलता से चढ़ गया और एक एक खोते मे से बच्चों को निकाल निकाल कर उन का प्राण ले ले कर पृथ्वी पर पटकने लगा। पिता हमारे वृद्ध तो थे ही इस अचिन्तित आपत्ति के आने से बडे दुःखी हुए। भय से शरीर कांपने लगा और तालू सूख गया। इधर उधर देखते थे, परन्तु प्राण-रक्षा का कोई उपाय देख नही पडता था। तब हम को अपनी छाती के नीचे छिपा कर बैठे। उस समय मैंने देखा कि उनके नेत्रों से आंसू की धारा बही चली जाती थी। उस व्याध ने धीरे धीरे हमारे खोते के पास के सब बच्चो को मारते हुए अपने कर-कराल-सर्प द्वारा मेरे पिता को पकडा। यद्यपि पिता ने उसको जहां तक बन पडा, ठोकरों से भली भांति मारा और काटा, परन्तु उसने छोडा नही, वरन् खोते से निकाल खूब मारा और अधमरा करके पृथ्वी पर फेंक दिया। मै भय के मारे पिता के पंख मे चिपट गया था। इससे उसने मुझे देखा नहीं। उस वृक्ष के नीचे सूखे पत्तो का ढेर लगा था। मै उसी पर गिरा और मुझे कुछ चोट न आई।

जब तक बालक अधिक दिन का नही होता स्नेह का संचार उसमे नही होता, पर भय जन्म-दिन से ही उत्पन्न होता है। इस हेतु मुझको पिता के मरने का कुछ सोच नही हुआ, परन्तु डर से व्याकुल हो कर मैं भागने की चेष्टा करने लगा।

अपने कम्पित चरण और छोटे छोटे पत्तों की सहायता से गिरता पड़ता चला आता था और मन में यह सोचता आता था कि अब तो कालग्रास में पड़ा, और जा कर एक निकटवर्ती तमाल वृक्ष की जड़ में छिपा। इतने में वह व्याध वृक्ष से उतर सब मरे हुए पक्षिशावकों को एक लता में बाँध जिधर वह सेना गई थी, उसी ओर चला गया।

ऊँचे से गिरने और भय के कारण मेरा शरीर थर थर काँपता था और पिपासा से कण्ठ सूखा जाता था। यह सोच कर कि अब वह व्याध दूर चला गया होगा, मैंने सिर निकाल कर चारों ओर देखा और डरते डरते धीरे धीरे चलने का उद्योग करने लगा। गिरते पड़ते चलते चलते शरीर मृत्तिका से लिप्त हो गया और साँस फूलने लगा। उस समय मैंने मन में सोचा कि चाहे किसी को कितना ही क्लेश क्यों न हो पर वह जीवन-आशा नहीं छोड़ता। मैंने अपने नेत्रों से देखा कि पिता स्वर्ग लोक को सिधारे, और मैं स्वतः इतने ऊँचे से विकलेन्द्रिय हो कर गिरा, पर अभी तक जीने की आशा कैसी मन में बनी है। हाय! हमारा-सा निर्दय और कौन है? माता जन्मते ही मर गई, पिता पत्नी विरह परित्याग कर मेरे लालन-पालन में नियुक्त थे और बुढ़ापे में भी मेरे लिए इतना क्लेश सहते थे। परन्तु मैं सब भूल गया। मुझ सरीखा कृतघ्न और दूसरा नहीं है और अपना-सा निर्दयी और दुराचारी भी मैं किसी को नहीं

देखता। कैसे आश्चर्य की बात है! इस अवस्था मे मुझ को प्यास लगी। दूर से सारस और हंस का शब्द सुन कर मैंने अनुमान किया कि सरोवर दूर है. कैसे वहां पहुँचूंगा और जल-पान करके अपनी पिपासा रूपी अग्नि को शान्त करूँगा।

इसी सोच-विचार मे दोपहर हो गया और सूर्य अग्निमय किरणों से संसार को उत्तप्त करने लगा। मार्ग लोहे की चद्दर की भांति उष्ण हो गया और बालू मे मेरा पांव भुनने लगा। यद्यपि मरने की कोई इच्छा न थी. पर उस समय के क्लेश से व्याकुल हो कर बारम्बार ईश्वर से यही प्रार्थना की कि प्राण ले ले। आंख के सामने अँधेरा छा गया और प्यास से कण्ठ शुष्क और अङ्ग शिथिल हो गया। वहां से थोडी ही दूर पर जाबालि नामक एक महा तपस्वी ऋषि रहते थे। उनके वीर पुत्र हारीत उसी ओर से सरोवर पर स्नान को जाते थे। उनका तेज ऐसा था जैसे सूर्य का। माथे पर जटा. ललाट मे त्रिपुण्ड. कान मे स्फटिक-माला. बायें हाथ मे कमण्डलु. दाहिने मे दण्ड, कंधे पर कृष्ण मृगछाला और गले मे यज्ञोपवीत सुशोभित था। उनकी शान्त मूर्ति को देख कर ऐसा जान पड़ता था कि जैसे शान्ति-सागर श्रीपार्वती-वल्लभ मेरी रक्षा को चले आते हैं। साधु लोगों का चित्त कृपालु तो होता ही है. मेरी यह दशा देख कर उनके मन मे दया आई और उन्हों ने मेरी ओर संकेत करके टहलुए से कहा—देखो यह एक सुए का बच्चा मार्ग मे

पड़ा है। ऐसा जान पड़ता है कि किसी शाल्मली के वृक्ष पर से गिरा है। इस का साँस फूल रहा है और नत्र बन्द हो रहे हैं। जान पड़ता है कि बड़ा प्यासा है। यदि थोड़ी देर जल न मिलेगा तो अवश्य मर जायगा। चलो हम इसे सरोवर पर ले चल कर जल पिलावें। सम्भव है कि बच जाय। यह कह कर उन्होंने मुझ को मार्ग में से उठा लिया। उनके स्पर्श मात्र से मेरा शरीर शीतल हो गया। अनन्तर इसके मुझे मानसरतीर ले जा कर मेरा मुँह खोल अपनी उङ्गली से जल पिलाया। जल पीने से पिपासाग्नि शांत हुई। फिर मुझ स्नान कराके नलिनी पत्र की शीतल छाया में बैठा दिया। आप भी स्नान कर सूर्य को अर्घ्य दान दे, गीला वस्त्र उतार, पुनीत नवीन वस्त्र धारण कर, मुझको ले तपोवन की ओर धीरे धीरे चले।

तपोवन के निकट पहुँच कर मैंने देखा कि वहाँ के वृक्ष सब कुसुमित और पल्लवित हो रहे थे और फल भार से भूमि स्पर्श करते थे। इलायची और लौंग की सुगन्ध चारों ओर छा रही थी और मधुप झङ्कार करते हुए एक पुष्प से दूसरे पुष्प पर भ्रमण कर रहे थे। अशोक, चम्पक, किंशुक, मल्लिका और मालती आदि नाना प्रकार के वृक्षों और लताओं के एकत्र होने और उनकी डालियों के मिल जाने से स्थान स्थान पर सुन्दर रमणीय गृह बन गये थे, जिनमें सूर्य की किरण प्रवेश नहीं कर सकती थी। बड़े बड़े ऋषि लोग मन्त्र पढ़ पढ़ कर होम कर रहे थे

अग्नि की ज्वाला से वृक्षों की पत्तियाँ मलिन हो रही थी और वायु होम-गन्धमय होकर धीरे धीरे बह रही थी। कोई तो उच्च स्वर से वेद पढ़ रहे थे और कोई शान्त भाव से धर्मशास्त्र पढ रहे थे। मृग-गण निःशक चारों ओर भ्रमण कर रहे थे।

तपोवन को देख कर मैं बड़ा प्रसन्न हुआ। उसके भीतर देखा कि रक्त-पल्लव-सम्पन्न रक्ताशोक वृक्ष के नीचे एक पवित्र स्थान मे बेत के आसन पर महातपी जावालि ऋषि बैठे है और उनके आस पास और और मुनि लोग बैठे है। जावालि ऋषि बड़े बूढ़े थे और उनके बाल और रोएँ सब पक गये थे। ललाट मे खली पड गई थी, सिर नीचा हो गया था। पञ्जर और मस्तक की हड्डी निकल आई थी और श्रवण-सम्पुट श्वेत लोम से ढक गये थे। उनकी मूर्त्ति देखने से जान पडता था, ये करुण-रस के प्रवाह, क्षमा और सन्तोप के आधार, शान्ति रूपी लता के मूल, क्रोध-भुजङ्ग के महा-मन्त्र, सत्पथदर्शक और सत्स्वभाव के आश्रय है। उनको देख कर मेरे मन मे एक बार भय और विस्मय दोनों उत्पन्न हुए और मैंने कहा कि इनका कैसा प्रभाव है! इनके प्रभाव से वन मे हिंसा, द्वेप, वैर और मात्सर्य आदि का नाम भी नहीं है। हरिन के बच्चे सिंह के बच्चों के सग सिंहनी का दूध पीते हैं, हाथी और सिंह परस्पर प्रेम से खेल रहे हैं, मृग सब स्थिर-चित्त होकर शृगाल के संग चर रहे हैं और सूखे वृक्ष

भी कुसुमित हो रहे हैं। मानो सत्ययुग कलियुग के भय से भाग कर इसी तपोवन में आ छिपा है। वृक्षों की शाखा में मुनियों की छाला, कमण्डलु और माला लटक रही थी और नीचे बैठने के लिए वेदी बनी थी। मानो सब वृक्ष भी तपस्या का वेष धारण करके तपस्या करते थे।

ऋषिकुमार मुझको उसी रक्ताशोक के नीचे रख, अपने पिता के चरण कमल की वन्दना कर, स्वतन्त्र हो कर आसन पर बैठे। सब ऋषिकुमारों ने मुझे देख कर बड़ा आश्चर्य माना और हारीत से पूछा कि हे सखा! इस शुक के बच्चे को तुमने कहाँ पाया? उन्होंने कहा कि जब मैं स्नान करने को जाता था, तब इसको देखा कि अपने खोते से गिर कर पृथ्वी पर लोट रहा था। इसकी वह दशा देख कर मुझे दया आई। परन्तु जिस वृक्ष पर से यह गिरा था, उस पर का चढ़ना कठिन समझ मैं इसे अपने संग लेता आया। अब चाहिए कि हम सब यत्न पूर्वक इसकी रक्षा करें।

हारीत की यह बात सुनकर जाबालि ऋषि ने मेरी ओर देखा। उनकी दृष्टि पड़ते ही मैंने अपने को कृतार्थ जाना। उन्होंने परिचित की भाँति बारम्बार मेरी ओर देख कर कहा कि यह अपने किये का फल भोग रहा है। महर्षि त्रिकालदर्शी थे। तपस्या के बल से उनको भूत, भविष्य और वर्तमान समान जान पड़ता था और ज्ञानदृष्टि द्वारा सम्पूर्ण संसार उनको

करतल-पदार्थ की भांति था। सब लोग उनका प्रभाव जानते थे इसलिए किसी को अविश्वास नहीं हुआ, वरन् सब व्यग्र होकर पूछने लगे—महाराज, इसने क्या दुष्कर्म किया है और क्या पाप कर उसका फल भोग करता है? पूर्व जन्म मे यह कौन जाति था और किस प्रकार इसने पक्षिकुल मे जन्म लिया? कृपा कर इन सब बातों का वर्णन कर के हमारी उद्वेगाग्नि को शान्त कीजिए।

महर्षि ने कहा कि निःसन्देह इसकी कथा उद्वेगजनक है; परन्तु थोडे समय मे समाप्त नहीं हो सकती। अब सन्ध्या होती है। मुझको स्नान करना है और तुम लोगों के भी देवार्चन का समय हो गया। आहारादि सम्पूर्ण नित्य-क्रिया समाप्त करके निश्चिन्त हो कर बैठो तो मैं इसका आद्योपान्त वर्णन करूँ। ऋषि की यह बात सुन कर मुनिकुमार सब स्नान, पूजा आदि कर्मों मे नियुक्त हुए।

अब सन्ध्या हो गई। मुनिकुमारों ने रक्त चन्दन से अर्घ्य दिया था; वह उनके अंग मे लग कर ऐसी शोभा देता था जैसे लोहित वर्ण सूर्य्य। तमारि की किरणों ने धीरे-धीरे पृथ्वी से कमलवन मे और कमलवन से वृक्षों के शिखर पर और वहां से पहाड़ों की चोटी को जा कर उस को स्वर्ण-वर्ण किया। वायु से चलायमान पत्र रूपी हस्त द्वारा मानो वृक्ष पक्षियों को अपने अपने खोतों मे बुलाने लगे और विहङ्गों ने भी कलरव करके

उत्तर दिया। मुनि सब ध्यानस्थित होकर और हाथ बाँध कर सन्ध्या-वन्दन करने लगे। कामधेनु के दुहे जाने का शब्द चारों ओर सुनाई देने लगा। हरी कुशा अग्निहोत्र की वेदी पर बिछाई गई। तिमिर-नाशक के भय से छिपा हुआ तिमिर प्रकट हुआ। सन्ध्या के क्षय होने के शोक में दुःखित रात्रि अन्धकार रूपी मलिन वस्त्र धारण करके दृष्टिगोचर हुई। ग्रह रूपी चोर भी, जो सूर्य के प्रताप से छिपे थे, बाहर निकले। पूर्व दिशा में चन्द्रमा का थोड़ा थोड़ा प्रकाश होने लगा। इस से उसकी शोभा ऐसी जान पड़ती थी मानो वह मुसकिरा रही हो। सुधाधर की पहले कला मात्र फिर आधा और फिर क्रमशः समस्त मण्डल प्रकाशित हुआ और अन्धकार का नाश हुआ। कोई पूली और मन्द मन्द समीर के बहने से मृग आच्छादित हुए। जीव जन्तु आनन्दमय, कुमुद गन्धमय और तपोवन प्रकाशमय हुआ।

हारीत भोजन आदि समाप्त करके मुझ को ऋषिकुमारों के साथ पिता के समीप जा पहुँचे और देखा कि वे एक बेंत के आसन पर बैठे हैं और जालपाद नामक शिष्य पंखा झल रहा है। वे पिता के सम्मुख हाथ जोड़ कर खड़े हुए और बोले कि हे पिता, हम लोगों को इस सुए के बच्चे का वृत्तान्त सुनने की बड़ी इच्छा है। यदि आप कृपा कर वर्णन करें तो हम सब बड़े कृतार्थ हों।

महर्षि ने ऋषिकुमारों की वह दशा देख कर कथा आरम्भ की जिसे सुन कर ऋषि कुमारों को बड़ा आश्चर्य हुआ।

१७

हिन्दी नाटक और रङ्गशाला

लेखक—रायबहादुर बाबू श्यामसुन्दर दास, बी० ए०

[बाबू श्यामसुन्दर दास के पूर्वज अमृतसर से जाकर काशी में बसे थे। आप का जन्म यहीं सन् १८७५ में हुआ था। आप पहले एक हाई स्कूल में हेडमास्टर थे, पर अब हिन्दू-विश्वविद्यालय, बनारस में हिन्दी के प्रोफ़ेसर हैं। काशी की नागरी-प्रचारिणी सभा आप ही के उद्योग का फल है। आपकी हिन्दी बहुत साफ़ और मँजी हुई होती है। आपने कई विद्वत्तापूर्ण ग्रन्थ लिखे हैं। उन में से हिन्दी कोविद रत्नमाला, साहित्यालोचन और भाषा-विज्ञान बहुत प्रसिद्ध हैं। हिन्दी शब्द सागर, मनोरञ्जन पुस्तक-माला, और पृथ्वीराजरासो का आपने संपादन किया है।]

यों कहने को तो चाहे हिन्दी में नेवाज कृत 'शकुन्तला'
नाटक, हृदयराम कृत 'हनुमान' नाटक, या ब्रजवासी दास कृत
'प्रबोध चन्द्रोदय' आदि कई ग्रंथ पहले के बने हुए कई
नाटक वर्तमान हों, पर वास्तव में नाट्यकला की दृष्टि से वे
नाटक नहीं कहे जा सकते, क्योंकि उन रचनाओं में नाटक के
नियम का पालन नहीं किया गया और वे काव्य ही काव्य
हैं। हाँ, 'प्रभावती' और 'आनन्द रघुनन्दन' आदि कुछ नाटक
अवश्य ऐसे हैं जो किसी प्रकार नाटक की सीमा में आ सकते
हैं। कहते हैं कि हिन्दी का पहला नाटक बाबू हरिश्चन्द्र के
पिता श्रीयुत बाबू गोपालचन्द्र उपनाम गिरधर दास कृत 'नहुष'
नाटक माना जाना चाहिए। पर वह भी साधारण बोल चाल
की हिन्दी में नहीं, बल्कि ब्रज भाषा में है। इसके उपरान्त
लक्ष्मण सिंह ने शकुन्तला नाटक का अनुवाद किया था।
यद्यपि वह नाटक भाषा आदि के विचार से बहुत अच्छा है,
किन्तु मौलिक नाटक नहीं कहा जा सकता, क्योंकि वह कालि
दास कृत शकुन्तला नाटक का अनुवाद है। भारतेन्दु बाबू
हरिश्चन्द्र ने तो मानो नाटक रचना से ही आधुनिक हिन्दी
को जन्म दिया था। उन्होंने लगभग बीस नाटक लिखे थे,
जिन में से अधिकांश अनुवाद नहीं तो छायानुवाद अवश्य थे,
तो भी उनके कई नाटक बहुत अच्छे हैं और अब भी अनेक
स्थानों पर खेले जाते हैं। लाला श्रीनिवास दास कृत रणधीर

प्रेम मोहिनी नाटक अवश्य अच्छा है। पर वह इतना बडा है कि उसका पूरा पूरा अभिनय नही हो सका। यही दशा बल्कि इससे भी कुछ बढ कर पण्डित बदरी नारायण चौधरी कृत 'भारत सौभाग्य' नाटक की है। पण्डित बालकृष्ण भट्ट कृत कई नाटक है सही, पर कई कारणों से उनका भी सर्व साधारण मे कोई विशेष आदर नही। हिन्दी मे मृच्छकटिक नाटक के तीन अनुवाद है, पर एक भी रङ्गशाला के योग्य न होने के कारण सर्व प्रिय नही हो सका।

बाबू राधा कृष्णदास का "महाराणा प्रताप" नाटक अवश्य ऐसा है जिसका हिन्दी मे बहुत कुछ आदर हुआ है और जिसका अनेक स्थानो पर अभिनय भी हुआ करता है। इन नाटकों के अतिरिक्त हिन्दी मे गिनती के कुछ और मौलिक या संस्कृत से अनूदित नाटक भी है जो विशेष उल्लेखयोग्य नहीं जान पडते। लाला सीताराम बी० ए० ने संस्कृत के कई नाटकों का अनुवाद किया है पर वे अनुवाद उतने अच्छे नहीं हैं। स्वर्गवासी पण्डित सत्यनारायण कविरत्न कृत मालती-माधव और उत्तर-रामचरित्र के अनुवाद अवश्य ऐसे हैं जो स्थायी साहित्य में स्थान पाने योग्य है। भारतेन्दु जी के कुछ काल अनन्तर हिन्दी में अनुवाद की धूम मची और बंगला से अनेक उपन्यासों तथा नाटकों के अनुवाद प्रकाशित हुए। विशेपतः काशी के भारत-जीवन प्रेस से ऐसे कई नाटकों के अनुवाद

निकले। इधर कुछ दिनों से इन अनुवादों की संख्या और भी बढ़ गई है जिन में से विशेष उल्लेख योग्य बंगला के सुप्रसिद्ध नाटककार श्रीयुत द्विजेन्द्र लाल राय तथा गिरीश घोष के नाटकों के अनुवाद हैं। राय महाशय के प्रायः सभी नाटकों के सुन्दर अनुवाद बम्बई के हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय से प्रकाशित हुए हैं। पर इधर दस बीस वर्षों के अन्दर हिन्दी में मौलिक नाटक प्रायः बन ही नहीं। इधर कुछ दिनों से काशी के श्रीयुत बाबू जयशङ्कर 'प्रसाद' ने साहित्य के इस अङ्ग की पूर्ति की ओर ध्यान दिया है और उनको मौलिक नाटक लिखने में अच्छी सफलता भी हुई है। उनके लिखे हुए नाटकों में से अजात शत्रु, जनमेजय का नागयज्ञ और विशाख आदि नाटक बहुत अच्छे हैं। आज कल कुछ धनवानों की कृपा से हिन्दी के लेखकों को अनेक प्रकार के पुरस्कार आदि मिलने लगे हैं। इस से आशा होती है कि शीघ्र ही हिन्दी में मौलिक रचना का आरम्भ हो जायगा और साहित्य के अन्यान्य अङ्गों के साथ ही साथ इस अङ्ग की भी शीघ्र ही और अच्छी पूर्ति होगी।

जहाँ नाटकों का ही अभाव हो, वहाँ नाटक मण्डलियों और रङ्गशालाओं के अभाव का क्या पूछना है। बँगला, मराठी और गुजराती भाषा भाषियों ने बहुत दिनों से अपनी अपनी भाषा में अच्छे अच्छे मौलिक नाटकों की रचना आरम्भ कर रक्खी है

और उन नाटकों के साथ ही अपने अपने ढंग की रंगशालाएँ भी स्थापित कर ली है। उनकी अनेक अच्छी अच्छी नाटक-मण्डलियाँ भी स्थापित है। उन रंगशालाओ और नाटक-मण्डलियों के देखने से इस बात का ठीक अनुमान हो सकता है कि उन लोगों ने इस सम्बन्ध मे कितनी उन्नति की है और हिन्दी भाषा इस विषय मे कितनी पिछडी हुई है। भारत मे आधुनिक ढग की रंगशालाओं और नाटक-मण्डलियों की स्थापना बहुत थोडे दिन पहले से अर्थात् गत शताब्दी के प्रायः मध्य मे आरम्भ हुई है। इन पचास साठ वर्षों मे ही यहाँ अँगरेज़ी ढङ्ग की रंगशालाएँ बनने लगी है और उसी ढंग पर अभिनय होने लगे है। बँगला, मराठी और गुजराती नाट्य-शालाओ और नाटक-मण्डलियो आदि का आरम्भ और विकास इन्ही थोडे दिनों मे हुआ है। यद्यपि उसी समय के लग-भग पहले पहल आधुनिक ढग की रंगशालाओ मे हिन्दी नाटको का भी प्रवेश हुआ था, तथापि हिन्दी के दुर्भाग्य से लोगों ने इस ओर विशेष ध्यान न दिया, जिस के कारण आज कल हिन्दी मे नाटकों की दशा इतनी गिरी हुई है। यदि यह बात न होती तो आज हिन्दी के नाटक भी अन्यान्य भारतीय भाषाओं के नाटकों के समान बहुत उन्नत दशा मे होते। सब से पहले बनारस के बनारस थियेटर मे सन् १८६८ मे पण्डित शीतला प्रसाद त्रिपाठी का बनाया हुआ "जानकी मगल नाटक" बहुत धूम धाम से खेला गया था। इसकी देखा देखी प्रयाग और

कानपुर के लोगों ने भी अपने अपने यहाँ "रणधीर प्रेम मोहिनी" और "सत्य हरिश्चन्द्र" का अभिनय किया था। इसके उपरान्त हिन्दी में अच्छे नए नाटकों के न बनने के कारण रंगशालाओं में हिन्दी का प्रवेश न हो सका और हिन्दी भाषा-भाषी प्रायः पारसी थियेटरों के उर्दू नाटक देख कर ही सन्तुष्ट रहने लगे। कदाचित् यहाँ यह बतलाने की आवश्यकता न होगी कि बंगाली, मराठी या गुजराती आदि के नाटकों को देखते हुए पारसी थियेटरों के उर्दू नाटक कितने अधिक कुरुचि पूर्ण और निकृष्ट होते हैं। पर फिर भी हिन्दी भाषा भाषी उन्हीं नाटकों के अभिनय देखकर अपने आप को धन्य माना करते थे। इधर पाँच सात वर्षों से पारसी कम्पनियों के थियेटरों में भी हिन्दी का प्रवेश हो चला है और दिन पर दिन उनमें खेले जाने वाले हिन्दी नाटकों की संख्या बढ़ती जाती है। अब तो कुछ ऐसी व्यवसायी मण्डलियाँ भी तैयार हो गई हैं जो बहुधा केवल हिन्दी के ही नाटक खेला करती हैं। पारसी कम्पनियों में तो अब कदाचित् ही कोई ऐसी हो जो दो चार हिन्दी नाटकों का अभिनय न करती हो। इस सम्बन्ध में दिल्ली के पण्डित नारायण प्रसाद बेताब का उद्योग परम प्रशंसनीय है, जिन्होंने पहले पहल 'महाभारत' नाटक की रचना करके और एक पारसी कम्पनी की रंगशाला में उसका अभिनय कराके लोगों का ध्यान कुरुचिपूर्ण नाटकों की ओर से हटाया और

उन्हें सुरुचिपूर्ण हिन्दी नाटकों की ओर प्रवृत्त किया। अब प्रायः सभी स्थानों मे लोग हिन्दी नाटकों का अभिनय बडे चाव से देखा करते हैं, जिस से आशा है कि थोडे ही दिनो मे हिंदी भी नाट्य-क्षेत्र मे भारत की अन्य भाषाओं के समकक्ष हो जायगी। इधर हिन्दी मे मौलिक नाटकों की रचना भी आरम्भ हो चली हैं, और दिन पर दिन ऐसे नाटकों की संख्या बढ़ने की संभावना हैं। हमारे लिये दोनों ही बातें बहुत आशाजनक और उत्साहवर्द्धक हैं।

१८

सभ्यता का विकास

ईश्वर की सृष्टि विचित्रताओं से भरी हुई है। जितना ही इसे देखते जाइए, इसका अन्वेषण करते जाइए, इसकी छान बीन करते जाइए, उतनी ही नई नई श्रृङ्खलाएँ विचित्रता की मिलती जायँगी। कहाँ एक छोटा सा बीज और कहाँ उससे उत्पन्न एक विशाल वृक्ष, कहाँ एक विन्दुमात्र पदार्थ और कहाँ उस से उत्पन्न मनुष्य। दोनों में कितना अन्तर और फिर दोनों में कितना घनिष्ठ सम्बन्ध! जरा सोचिए तो सही, एक छोटे से बीज के गर्भ में क्या क्या भरा हुआ है। उस नाम मात्र के पदार्थ में एक बड़े से बड़े वृक्ष को उत्पन्न करने की शक्ति है जो

समय पाकर पत्र, पुष्प, फल से सम्पन्न हो वैसे ही अगणित बीज उत्पन्न करने मे समर्थ होता हैं जैसे बीज से उसकी स्वयं उत्पत्ति हुई थी। कैसे बिन्दुमात्र पदार्थ से मनुष्य का शरीर बनता है! कैसे क्रम क्रम से नवजात बालक के अंग पुष्ट होते जाते हैं, उस में नई शक्ति आती जाती है, उसके मस्तिष्क का विकास होता जाता हैं, उसमे भावनाएँ उत्पन्न होती जाती हैं और समय पाकर वह उस शक्ति से सम्पन्न हो जाता है जिस से वह अपनी ही सी सृष्टि की वृद्धि करता जाय! फिर एक ही प्रणाली से उत्पन्न अनेक प्राणियों की भिन्नता कैसी आश्चर्य-जनक है! कोई बलवान है, तो कोई विचारवान, कोई न्यायशील हैं तो कोई अत्याचारी, कोई दयामय हैं तो कोई क्रूरातिक्रूर, कोई सदाचारी है तो कोई दुराचारी, कोई ससार की माया मे लिप्त हैं तो कोई परलोक-चिन्ता मे रत। पर क्या इन विशेषताओं के बीच कोई सामान्य धर्म्म भी है या नहीं ? विचार करके देखिए। सब बातें विचित्र, आश्चर्य-जनक और कौतूहल-वर्द्धक होने पर भी किसी शासक द्वारा निर्धारित नियमावली से बद्ध है। सब अपने अपने नियमानुसार उत्पन्न होते, बढ़ते, पुष्ट होते और अन्त मे उस अवस्था को प्राप्त हो जाते है जिसे हम मृत्यु कहते हैं: पर यही उनकी समाप्ति नहीं है, यही उनका अन्त नहीं हैं। वे सृष्टि के कार्य-साधन मे निरन्तर तत्पर हैं। मर कर भी वे सृष्टि-निर्माण मे योग देते हैं। योंही ये जीते-मरते चले जाते

हैं। इन्हीं सब बातों की जाँच विकासवाद का विषय है। यह शास्त्र हमको इस बात की छान बीन में प्रवृत्त करता है और बतलाता है कि कैसे ससार की सब बातों की सूक्ष्मातिसूक्ष्म रूप में अभिव्यक्ति हुई, कैसे क्रम क्रम से उन की उन्नति हुई और किस प्रकार उनकी सकुलता बढ़ती गई। जैसे ससार की भूतात्मक अथवा जीवात्मक उत्पत्ति के सम्बन्ध में विकास-वाद के निश्चित नियम पूर्ण रूप से घटते हैं वैसे ही वे मनुष्य के सामाजिक जीवन के उन्नति क्रम आदि को भी अपने अधीन रखते हैं। यदि हम सामाजिक जीवन के इतिहास पर ध्यान देते हैं तो हमें विदित होता है कि पहले मनुष्य असभ्य या जगली अवस्था में थे। वे झुण्डों में घूमा करते थे और उनके जीवन का एक मात्र उद्देश उदर की पूर्ति था, जिसका साधन वे जानवरों के शिकार से करते थे। क्रमश शिकार में पकड़े हुए जानवरों की सख्या आवश्यकता से अधिक होने के कारण उनको बाँध रखना पड़ा। इस का लाभ उन्हें भूख लगने पर स्पष्ट विदित हो गया और यहीं से मानों उनके पशु-पालन विधान का बीजारोपण हुआ। धीरे धीरे वे पशु-पालन के लाभों को समझने लगे और उनके चारे आदि के आयोजन में प्रवृत्त हुए। साथ ही पशुओं को साथ लिये लिये घूमने में उन्हें कष्ट दिखलाई पड़ने लगे और वे एक नियत स्थान

पर रह कर जीवन-निर्वाह का उपाय करने लगे। अब वृत्ति की ओर उनका ध्यान गया। कृषि-कर्म होने लगे, गांव बसने लगे, पशुओं और भू-भागों पर अधिकार की चर्चा चल पड़ी। लोहारों और बढ़इयों की संस्थाएं बन गईं। आपस में लेन देन होने लगा। एक वस्तु देकर दूसरी आवश्यक वस्तु प्राप्त करने का उद्योग हुआ और यही मानो व्यापार की नींव पड़ी। धीरे धीरे इन गांवों के अधिपति हुए जिन्हें अपने अधिकार को बढ़ाने, अपनी सम्पत्ति को वृद्धि देने तथा अपने बल को पुष्ट करने की लालसा उत्पन्न हुई। सारांश यह है कि आवश्यकतानुसार उनके रहन-सहन, भाव-विचार सब में परिवर्तन हो चला। जो सामाजिक जीवन पहले था वह अब न रहा। अब उसका रूप ही बदल गया। अब नये विधान आ उपस्थित हुए। नई आवश्यकताओं ने नई चीज़ों के बनाने के उपाय निकाले। जब किसी चीज़ की आवश्यकता आ उपस्थित होती है तब मस्तिष्क को उस कठिनता को हल करने के लिए कष्ट देना पड़ता है। इस प्रकार सामाजिक जीवन में परिवर्तन के साथ ही साथ मस्तिष्क-शक्ति का विकास होने लगा। सामाजिक जीवन के परिवर्तन का दूसरा नाम असभ्यावस्था से सभ्यावस्था को प्राप्त होना है अर्थात् ज्यों ज्यों सामाजिक जीवन का विकास, विस्तार और उसकी संकुलता बढ़ती गई त्यों त्यों सभ्यता देवी का साम्राज्य स्थापित

होता गया। जहाँ पहले असभ्यता या जंगलीपन ही में मनुष्य सन्तुष्ट रहते थे वहाँ उन्हें सभ्यतापूर्वक रहना पसन्द आने लगा। सभ्यता अवस्था सामाजिक जीवन में उस स्थिति का नाम है जब मनुष्य को अपने सुख और चैन के साथ साथ दूसरे के स्वत्वों और अधिकारों का भी ज्ञान हो जाता है। आदर्श सभ्यता यह है जिसमें मनुष्य का यह स्थिर सिद्धान्त हो जाय कि "जितना किसी काम के करने का अधिकार मुझे है उतना ही दूसरे को भी है" और उसे इस सिद्धान्त पर दृढ़ रखने के लिए किसी बाहरी अंकुश की आवश्यकता न रह जाय। यह भाव जिस जाति में जितना ही अधिक पाया जाता है उतनी ही अधिक वह जाति सभ्य समझी जाती है। इस अवस्था की प्राप्ति बिना मस्तिष्क के विकास के नहीं हो सकती अथवा यह कहना चाहिए कि सभ्यता की उन्नति और मस्तिष्क की उन्नति साथ ही साथ होती है। एक दूसरे का अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। एक का दूसरे के बिना आगे बढ़ जाना या पीछे पड़ जाना असम्भव है। दोनों साथ साथ चलते हैं। मस्तिष्क के विकास में साहित्य का स्थान बड़े महत्त्व का है।

१९

महापुरुषों के जीवन का रहस्य

लेखक—श्रीयुत रामनारायण मिश्र

[आपका जन्म १ अगस्त सन् १८७६ ईसवी को दिल्ली में हुआ था। आप इस समय हिन्दू-विश्वविद्यालय के हिन्दू स्कूल, काशी, के हेडमास्टर हैं। आपने "जापान का इतिहास," "पारसियों का इतिहास," "महादेव गोविन्द रानडे," "बालोपदेश" और "योरप यात्रा में छः मास," आदि पुस्तकें लिखी हैं।]

प्रातःकाल का समय था और जंगल का स्थान था। चारों ओर सन्नाटा था। सूर्य भगवान उदय हो चुके थे। कुछ युवागण जो पैमाइश करने वहाँ गये थे एक पहाड़ी नदी के किनारे जलपान कर रहे थे। इतने में एक स्त्री के ज़ोर से चिल्लाने की

आवाज़ आई और यह आवाज़ बार बार आने लगी। परन्तु झाड़ियों के सबब से कुछ दिखाई नहीं देता था। गाँव के सब जिधर से आवाज़ आ रही थी उधर ही दौड़े। इतने में एक जिसकी अवस्था १८ वर्ष की थी पहले पहुँच गया। उसको देखते ही स्त्री ने कहा, 'हे सज्जन मेरा प्यारा लाड़ला वह देखो नदी में डूब रहा है और मुझे ये लोग नदी में कूदने नहीं देते, मुझे छुड़ाओ और जाने दो।' 'जाने कैसे दें यह तो नदी के बहाव में बहकर चट्टानों से टक्कर खा कर एक क्षण में रसातल को चली जायगी, जाने कैसे दें?' यह बोलने उनमें से एक आदमी के थे जो उसको पकड़े हुए थे।

१८ वर्ष के जवान ने तुरन्त अपना कोट उतार दिया और किनारे की तरफ जाकर एक दृष्टि चट्टानों और पानी के भँवरों पर डाली। फिर डूबते हुए बालक के वस्त्रों को देख कर वह उसकी तरफ कूदा।

'हे भगवन्, यह मेरे बच्चे को अवश्य बचायेगा। हा! वह देखो मेरा प्यारा बच्चा अब डूबा। वह डूबा, डूबा, हा!' सब लोग नदी के किनारे की चट्टान पर आकर देखने लगे। अब तक तो लोगों को बच्चे की चिन्ता थी, अब उस नौजवान की भी फ़िक्र पड़ी। कभी तो मालूम होता कि वह भँवर में पड़ गया, कभी चट्टानों के पास से पैरा निकल जाता मानों भगवान् ही उसकी

रक्षा कर रहे है। दो वेर वह लडका नैनों से ओझल हो गया पर फिर दिखाई देने लगा। तीन वेर वह इस नौजवान के हाथ मे आकर फिर बहाव मे पड गया। बहादुर नौजवान ने अपना ज़ोर बढा दिया। सबके चेहरे पर घबराहट थी। सब भगवान् का नाम ले रहे थे। इतने मे दोनो एक सूखी चट्टान पर दिखाई दिए। बालक वेहोश था, जवान थका हुआ था। लोग उधर की तरफ़ दौडे। बच्चे की नाडी ठीक थी। स्त्री ने हर्ष के आँसू बहा कर कृतज्ञतापूर्वक कहा, "परमेश्वर तुमको इसका फल देगा। आज के काम के बदले मे वह तुम्हारे लिए बडे बडे काम करेगा। मेरे अतिरिक्त सहस्रो नर-नारी तुम्हारी भलाई के लिए प्रार्थना करेगी।"

यह युवा जार्ज वाशिङ्गटन था, जिसने आगे चल कर अपने देश को स्वतन्त्र करने का यश पाया।

दक्षिण देश मे एक हिन्दू-परिवार था। एक दिन माता अपने पुत्र को मिठाई दे रही थी। सामने मज़दूरनी के बच्चे को खडा देखा। आधी मिठाई अपने पुत्र को देकर वह कहने लगी—"लो, उस लडके को भी दे दो।" पुत्र ने बडी मिठाई मज़दूरनी के बच्चे को दे दी और छोटी आप खा ली। माता ने पूछा, "यह क्या किया"? उत्तर दिया, "यही तो आपने कहा था"। यही बालक आगे चल कर भारतमाता का सुपुत्र महादेव गोविन्द रानडे हुआ जिनके परोपकार की कथाएँ सदा चिरस्मरणीय रहेगी।

स्वयम, स्वदेश और स्वराज्य के हित के लिए प्रयत्न करने वाले हमारे प्राचीन नेता का यही स्वरूप था।

स्मरण रहे कि नेता के उक्त सब आवश्यक गुणों में आध्यात्मिकता ही प्रधान सूत्र है। ये गुण जैसे सांसारिक काम में, वैसे ही पारमार्थिक कामों में भी उपयोगी हैं। नेता चाहे समाज का हो, धर्म का हो, राजनीति का हो या व्यापार व्यवसाय का हो, परन्तु जब तक उसमें आध्यात्मिकता के आधार पर—ईश्वर के अधिष्ठान पर—उक्त गुण का विकास न होगा, तबतक उसका आन्दोलन सफल न होगा। माना कि आन्दोलन में शक्ति है, रामदास स्वामी भी इस तत्व का समर्थन करते हैं, परन्तु उनका कथन स्पष्ट है :—

"जो कोई आन्दोलन करेगा उसमें शक्ति है, परन्तु उसमें ईश्वर का अधिष्ठान होना चाहिए"।

तात्पर्य यह है कि हमारे नेता अपने प्रत्येक कार्य और आन्दोलन में 'ईश्वर के अधिष्ठान' का अनुभव करें। यही आध्यात्मिकता नेता का प्रधान और सर्वश्रेष्ठ गुण है।

२१

समर्थ और शिवाजी

जिस समय श्रीरामदास स्वामी लोकोद्धार करने के लिए कृष्णा नदी के किनारे पहुँच चाफल मे निवास करने लगे उस समय वहाँ पर सोमलनाथ नाम के तहसीलदार रहते थे। उन्होंने समर्थ की योग्यता जान कर उनसे मन्त्रोपदेश लिया। कुछ ही दिनो मे वहाँ रामदासी सम्प्रदाय की बहुत प्रसिद्धि होने लगी। धीरे धीरे यह समाचार शिवाजी को मालूम हुआ। उस समय शिवाजी की राजसत्ता महाराष्ट्र मे खूब बढ रही थी। उन्होंने रायगढ का किला बनवा कर वहाँ भवानी देवी की मूर्ति स्थापित की थी।

शिवाजी नें पूना को मुख्य स्थान बना कर नासिक से

कर्नाटक तक का सारा प्रान्त और कोकण का कुछ भाग जीत लिया था। यद्यपि इस प्रकार वे राज्य सम्पादन के काम में लगे थे, तो भी सन्त-समागम की उन्हें विशेष रुचि थी। बाल्यपन में ही साधु और सन्तजनों के विषय में पूज्यभाव होने के कारण वे साधु समागम के लिए सदा उत्कण्ठित रहते थे। वे अपना राज-काज करते हुए भी चिंचवड़ देव, आलन्दी आदि प्रसिद्ध स्थानों में साधु जनों के दर्शनों को बार बार जाया करते थे और उन के उपदेश श्रद्धायुक्त अन्तःकरण से सुनते थे। जहाँ जहाँ हरि भजन या कीर्त्तन होता था वहाँ वहाँ वे अवश्य जाते थे। उनकी माता जीजाबाई ने उन्हें बचपन से ही अपने सनातन धर्म के शास्त्र, वेद पुराण और वेदान्त आदि के गम्भीर तत्त्व और सिद्धान्त तथा शिक्षादायक कथाओं की शिक्षा दिलाई थी। इस लिए अपनी माता की शिक्षा और साधु-समागम के कारण उनके मन में अपने जीवन की सार्थकता के विषय में अनेक उच्च विचार भर गए थे। वे सदा इस बात का चिन्तन करते रहते थे कि जीवन की सार्थकता उत्तम रीति से कैसे की जाय। उन्होंने एक बार सुप्रसिद्ध साधु तुकाराम बाबा से सन्यासोपदेश की प्रार्थना की थी, पर उन्होंने शिवाजी को श्रीरामदास स्वामी की शरण में जाने की आज्ञा दी। इस प्रकार मन की मुमुक्षु अवस्था में जब शिवाजी ने श्रीसमर्थ की साधु कीर्ति सुनी, तब उन्हें उनके दर्शन की बहुत अभिलाषा हुई।

इस लिए उन्होंने श्रीसमर्थ को एक पत्र भेज अपनी राजधानी मे बुलाया। परन्तु समर्थ वहां नही गए। उन्होंने शिवाजी के पत्र का उत्तर भेज दिया।

जिस पत्र का उल्लेख किया गया है, वह इतिहास की दृष्टि से बहुत महत्व का है। उस मे शिवाजी को समर्थ ने जो उपदेश किया है वह ध्यान मे रखने योग्य है। इसलिए उस पत्र के कुछ अंश का भावार्थ यहां देना आवश्यक है। समर्थ शिवाजी को लिखते है—इस समय भूमण्डल मे ऐसा कोई नहीं है जो धर्म की रक्षा करे। महाराष्ट्र-धर्म तुम्हारे ही कारण बचा है। जहां जो कुछ थोडा बहुत धर्म देख पडता है और साधु जनों की रक्षा हो रही है, वह सब तुम्हारे ही कारण बचा है। तुम धन्य हो। तुमने दुष्ट जनों का संहार किया है। वे लोग तुम से डरते है। बहुतेरे जन तुम्हारे आश्रय मे रहने लगे हैं। अब तुमको धर्म-स्थापन का काम सँभालना चाहिए। यह बात सच है कि तुमको राज-काज बहुत करना पडता है, जिस से चित्त-वृत्ति व्यग्र हो जाती है। ऐसी दशा मे राजा और मन्त्री का विचार एक होना चाहिए। यदि एकता न होगी तो कार्य-नाश होगा। सब लोगों को राजी रखना, भले-बुरे की खूब जांच करना, न्याय और नीति का कदापि त्याग न करना, लालच मे कभी न फँसना, सदा सावधान रहना। हमारा बोलना स्पष्ट है, इस लिए क्रोध न आने देना। जो कुछ हमने कहा है उसे उचित रीति से श्रवण करना हो तो

हमारे बतलाये हुए मार्ग को स्वीकार करो। श्रीरामचन्द्र जी कृपा करेंगे तुम्हारा कार्य सिद्ध होगा, तुम्हारे सारे मनोरथ पूर्ण होंगे। इस विषय में सन्देह बिलकुल मत करना।

समर्थ का पत्र पढ़ कर शिवाजी के धार्मिक और निष्ठायुक्त अन्तःकरण में श्री रामदास स्वामी के दर्शन की उत्कण्ठा और भी तीव्र हो गई। तब वे अपने संग कुछ आदमी लेकर समर्थ के दर्शन को चाफल गये। परन्तु समर्थ का दर्शन न हुआ, क्योंकि वे एक स्थान में न रह कर चाफल के आस पास कृष्णा नदी के किनारे जङ्गल दरी और खोरियों में विचरते रहते थे। महीपति ने अपने "सन्त विजय" में लिखा है कि इस प्रकार शिवाजी महाराज को कई बार निराश होना पड़ा तो भी उन्होंने यत्न करना न छोड़ा। अन्त में एक दिन वे यह निश्चय कर के घर से निकले कि जब तक समर्थ का दर्शन न होगा और उनका प्रसाद न मिलेगा तब तक भोजन न करूँगा। इस तरह दृढ़ निश्चय कर के समर्थ का पता लगाते हुए चाफल के जंगलों में भटकते भटकते जब शिवाजी बहुत विह्वल और श्रान्त हो गये, तब समर्थ के शिष्य द्वारा उन्हें पता लगा कि समर्थ शिंगणवाड़ी के बाग में हैं। शिवाजी ने वहाँ जाकर दर्शन किया। दोनों की प्रेम पूर्वक बातें हुईं। शकाब्द १५७१ वैशाख शुक्ल गुरुवार के दिन समर्थ ने शिवाजी को मन्त्रोपदेश दिया और

"दासबोध" के तेरहवे दर्शक का "लघुबोध" नामक छठवां समास अद्वैत ज्ञान बताने के लिए सुनाया।

यह बात ऊपर कही गई है कि समर्थ एक स्थान मे बहुत समय तक नही रहते थे। कभी चाफल के मठ मे रहते थे, कभी कृष्णा नदी के किनारे पर वन-पर्वतों की झाड़ियो मे रहते थे। इस कारण शिवाजी अपने गुरु का दर्शन नित्य नियमपूर्वक नही कर सकते थे। उनकी यह इच्छा थी कि समर्थ मेरे समीप किसी स्थान मे रहे तो नित्य समागम का लाभ हो। उन्होंने कई बार प्रार्थना भी की, पर समर्थ ने विशेष ध्यान नही दिया।

तब शिवाजी ने एक पत्र भेजा जिस मे भिन्न भिन्न अनेक प्रसङ्गो का उल्लेख था। यह पत्र शिवाजी और समर्थ के पारस्पारिक सम्बन्ध का ऐतिहासिक प्रमाण है। इस पत्र से जो बातें प्रकट होती हैं, उनका कुछ साराश नीचे दिया जाता है। इस पत्र के पढने वाले स्वय निश्चय कर लेंगे कि समर्थ और शिवाजी का कैसा घनिष्ट सम्बन्ध था। श्रीसमर्थ ने शिवाजी को मन्त्रोपदेश देकर यह आज्ञा दी थी कि तुम्हारा मुख्य धर्म राज्य-सम्पादन करके धर्म स्थापित करना, देव और ब्राह्मणों की सेवा करना, प्रजा की पीडा दूर करके उसका पालन और रक्षा करना है। उसी समय समर्थ ने यह आशीर्वाद भी दिया था कि तुम्हारे मन मे जो इच्छा होगी, पूर्ण होगी। समर्थ की आज्ञा के अनुसार शिवाजी ने राज्य-सम्पादन का जो उद्योग

किया, वह सफल हुआ। शिवाजी का यह दृढ़ विश्वास था कि दुष्ट, दुरात्मा जनों का नाश और विपुल द्रव्य प्राप्ति श्री गुरुचरणों के प्रताप का फल है। एक समय सद्गुरु रामदास स्वामी के चरण-कमलों में अपना सारा राज्य अर्पण करके शिवाजी ने यह इच्छा भी की थी कि नित्य गुरुचरणों की सेवा करने का अवसर मिलना चाहिए। उस समय भी समर्थ ने यही कहा कि हमारे बताए सनातन धर्म के अनुसार बर्ताव करना ही सेवकाई है। इसके बाद शिवाजी ने यह प्रार्थना की कि स्वामी किसी निकट के स्थान में रहें तो बार बार दर्शन का लाभ होगा और किसी स्थान में श्रीराम की मूर्ति स्थापित करके मठ का प्रबन्ध किया जाय तो सम्प्रदाय की वृद्धि होगी। इसके अनुसार समर्थ ने चाफल में श्रीराम की स्थापना तो की परन्तु स्वयं आस पास के गह्वरों में ही रहा करते थे। इसके बाद शिवाजी ने यह प्रार्थना की—

श्रीराम की पूजा महोत्सव आदि धर्म-कृत्य साङ्गोपाङ्ग करने के लिए कितने गाँव नियत किए जाएँ सो आज्ञा दीजिए। इस पर समर्थ ने कहा, किसी विशेष उपाधि की आवश्यकता नहीं है। यदि श्रीराम की सेवा करने का तुम्हारा निश्चय हुआ है तो यथावकाश जो कुछ नियत करने की इच्छा हो सो करो। तब शिवाजी ने श्री समर्थ-सम्प्रदाय की सेवा करने के हेतु गाँव और भूमि-दान की सनद लिखकर समर्थ को भेज दी और यह

निवेदन किया कि श्रीराम का उत्सव सदा करते रहने की मुझे आज्ञा दीजिए।

शिवाजी का बहुत आग्रह देख कर समर्थ सातारा के पास सज्जन गढ के किले में रहने लगे। शिवाजी ने वहां एक मठ बनवा दिया। शिवाजी और समर्थ के सम्बन्ध में जितनी बातें लिखी जांय, सब थोडी ही होंगी। अब सिर्फ और दो तीन बातों का उल्लेख करके यह विषय समाप्त करेंगे।

एक दिन समर्थ माहुली सङ्गम में स्नान-सन्ध्या करके भिक्षा मांगते हुए सातारा में शिवाजी के महल में गये और 'जय जय श्री रघुवीर समर्थ' की गर्जना करके भिक्षा मांगी। समर्थ की वाणी सुनते ही शिवाजी का हृदय गद्‌गद हो गया। वे विचार करने लगे कि ऐसे सत्पात्र सद्‌गुरु की झोली में क्या भिक्षा डाली जाय। तुरन्त ही उन्होंने एक कागज में यह लिखा कि—'श्री समर्थ के चरणों में सब राज्य अर्पण कर दिया है।' समर्थ ने शिवाजी से पूछा—क्यों शिवा, राज्य तो तुमने हम को दे दिया, अब तुम क्या करोगे? शिवाजी ने हाथ जोड कर विनती की कि आपकी चरण-सेवा में रह कर समय व्यतीत करूँगा। यह सुन कर समर्थ हँसे। उन्होंने कहा—बाबा, जो जिसका काम है, वह उसी को करना उचित है। ब्राह्मणों को जप-तप करके ज्ञान-सम्पादन करना चाहिए और क्षत्रियों को क्षात्र-धर्म का पालन करना चाहिए। इस प्रकार अपना अपना कर्तव्य करते रहने ही में मोक्ष-प्राप्ति होती है।

अपना उन्हें यथोचित रीति से करने में ही जन्म की सार्थकता है। पूर्व समय में रामचन्द्र जी ने भी अपने कुलगुरु (वशिष्ठ) को आधा राज्य अर्पण कर दिया था। उस समय वशिष्ठजी ने श्रीराम को योगवासिष्ठ रूप से नीति न्याय और धर्म का उपदेश किया और उनका राज्य उन्हें लौटा दिया। राजा जनक ने भी याज्ञवल्क्य को राज्य अर्पण कर दिया था। उस समय उन्होंने जनक को राजधर्म का उपदेश किया। शिवा, हम बैरागियों को राज्य की क्या जरूरत है? कदाचित हमने अंगीकार किया, तो उसके सम्पादन के लिए प्रधान (मन्त्री) की जरूरत होगी। प्रधान तू ही उन और राज्य हमारा समझ कर उसका प्रबन्ध कर। यह उपदेश सुनते ही शिवाजी का अन्तःकरण गद्गद् हो गया।

जब शिवाजी ने समझा कि अब बिना राज्य वापस लिए और उपाय नहीं है, तब उन्होंने समर्थ से कहा—अब कृपा पूर्वक आप अपनी पादुकायें मुझे दीजिए। उन्हीं को स्थापन करके मैं आपके मन्त्री की तरह राज-काज करूँगा। समर्थ ने यह प्रार्थना स्वीकार की। उसी समय से शिवाजी महाराज ने अपने राज्य की निशानी, अर्थात झण्डा भी भगवे रंग का कर दिया। मराठों का 'भगवा झण्डा' इतिहास में प्रसिद्ध ही है। शिवाजी महाराज जब सामन्तगढ का किला बनवा रहे थे तब

एक दिन किले मे लगे हुए सैकड़ों आदमियों को देख कर उनके मन मे यह विचार आया कि मै इतने मनुष्यों का पालन कर सकता हूँ, इसलिए मुझे धन्य है। इस विचार के साथ ही साथ शिवाजी के मन मे एक प्रकार का अभिमान भी आ गया। इतने मे ही अकस्मात् समर्थ वहाँ आ पहुँचे। उन्हें देख कर शिवाजी ने दण्डवत् प्रणाम किया और अकस्मात पधारने का कारण पूछा। समर्थ ने कहा कि तू श्रीमान् है। हज़ारों मनुष्यों का पालन करता है। इसलिए मै तेरा कारखाना देखने आया हूँ। शिवाजी ने कहा कि यह सब आपकी ही कृपा का फल है। इस प्रकार वार्तालाप करते हुए समर्थ की दृष्टि समीप पड़े हुए एक पत्थर की ओर गई। इस पत्थर को देखकर समर्थ ने कहा कि इस पत्थर को वेलदार से अभी तुड़वा डालो। शिवाजी की आज्ञा पाकर सब वेलदार उस पत्थर को तोड़ने लगे। समर्थ ने कहा—"इस मे धक्का न लगने पावे और दो टुकडे बराबर करो।" पत्थर के दो टुकडे होते ही भीतर के पोले भाग से कुछ पानी और एक जीवित मेंडकी निकल पड़ी। यह चमत्कार देख कर सबको परम आश्चर्य हुआ। समर्थ ने कहा-'शिवा, तुम्हारी योग्यता बहुत बडी है, और तुम्हारी लीला अगाध है। देखो ऐसी आश्चर्यकारक बात किस से हो सकती है! शिवाजी ने कहा—इसमे मेरा क्या है? समर्थ ने कहा—क्यों नहीं? तुम्हारे सिवा और कर्ता कौन है? तुम्हारे बिना

जीवों का पालन और कौन कर सकता है ? शिवाजी महाराज अपने मन में समझ गए, और बोले—मुझ पामर से कुछ नहीं हो सकता। इस दास को क्षमा कीजिए। समर्थ ने कहा—मैं क्षमा करने के लिए ही इस समय आया हूँ। परन्तु इतना कह देना आवश्यक है कि भैया, तुम उस सरकार (आराम) के बड़े नौकर हो। तुम्हारे हाथ से वह औरों का देता है, इतनी बात से तुम्हें इस प्रकार का अभिमान कभी न करना चाहिए। यह सुन कर शिवाजी महाराज को बड़ा पश्चात्ताप हुआ और उन्होंने समर्थ के चरणों पर गिर बार बार क्षमा मांगी।

एक दिन सज्जनगढ़ में भोजन के बाद समर्थ शिष्य मण्डली के प्रश्नों का उत्तर देते हुए आसन पर बैठे थे। इतने में सहज ही उन्हें अपने शरीर पर एक चट्टा उठा हुआ देख पड़ा। उसे देख कर समर्थ को स्मरण हुआ कि हमारी माता ने हमारे लिए देवी जी को सोने के पुष्प अर्पण करने का संकल्प किया था, वह संकल्प पूरा नहीं हुआ। अतएव प्रतापगढ़ को, जहाँ शिवाजी ने देवी की स्थापना की थी समर्थ स्वर्ण-पुष्प अर्पण करने को गए। वहाँ समर्थ ने देवी जी की जो स्तुति की उस में उनके आत्म-चरित्र का भी कुछ उल्लेख है। अन्तिम चार पद्यों में शिवाजी के सम्बन्ध में जो प्रार्थना की है, वह ध्यान में रखने योग्य है। उसका भावार्थ यह है—हे माता, मेरी सिर्फ एक प्रार्थना है। यदि वरदान देना है, तो यहाँ

वरदान दे कि जिस का तू अभिमान रखती है, और जो तेरा सर्वस्व है, उस शिवाजी को रक्षा कर। उसको हमारे देखते देखते वैभव के शिखर पर चढा दे। मैंने सुना है कि आज तक तूने अनेक दुष्टों का संहार किया है, परन्तु अब इस समय उस बात की प्रतीति मुझे करा दे। सब देवगण हम सब लोगों को भूल से गये हैं। तू अब हम लोगों के सत्त्व की कितनी परीक्षा लेगी! हे देवि, तू अपने भक्तों का मनोरथ शीघ्र पूर्ण कर। मै अत्यन्त आतुर हो गया हूँ, इसलिए क्षमा कर और मेरी इच्छा सफल कर'। धन्य है शिवाजी महाराज को, जिनकी ऐश्वर्य-वृद्धि के लिए उनके सद्गुरु समर्थ देव इस तरह प्रार्थना करते हैं। इससे बढकर और कौन बात समर्थ और शिवाजी के पारस्परिक सम्बन्ध मे लिखी जाय? जिस महत् कार्य के लिए श्रीरामदास स्वामी ने अपना सारा पुण्य खर्च किया, अपना सामर्थ्य लगाया, उसे उनके इच्छानुसार श्रीरामचन्द्र जी महाराज ने पूरा किया, यह बात सिंहावलोकन मे प्रकट हो जायगी।

माधवराव सप्रे

२२

विलायती समाचार-पत्रों का इतिहास

लेखक—श्रीयुत प्यारेलाल मिश्र, बारिस्टर एट-ला

[आप छिन्दवाड़ा में बैरिस्टरी करते थे। कुछ वर्ष हुए आपका देहान्त हो गया। आपकी शैली बड़ी ही सरल और स्वाभाविक है। आप छोटे छोटे वाक्य लिखते हैं। श्री० महावीर प्रसाद द्विवेदी आपकी लेखन शैली की बहुत प्रशंसा किया करते हैं।]

टाइम्स के बाद दूसरा इज्जतदार दैनिक "डेली टेलीग्राफ" समझा जाता है। इसका डील डौल टाइम्स से कुछ बड़ा है। इसमें सदैव २० पृष्ठ रहते हैं। इसका कागज टाइम्स से कुछ हलका पर मोटा रहता है। छपाई अच्छी रहती है। ग्राहक-संख्या में यह टाइम्स से बढ़ कर है। इसकी दैनिक बिक्री अनुमान तीन लाख है। इसके लेख किसी किसी के विचार में टाइम्स से

भी पुख्ता और प्रभावशाली समझे जाते हैं। इसका निकलना सन् १८५५ ई० से आरम्भ हुआ। कुछ काल तक इसकी दशा बुरी रही। पहले पहल यह एक ही ताव पर छपता था। टेक्स के मारे यह और भी पनप नही पाया। कर्नेल स्ले ने, जो इसके जन्मदाता थे, इसे हरा भरा रखने के बहुत यत्न किये। पर पीछे इसके अच्छे दिन आये। अखबारों का टेक्स रद्द हुआ। टेलीग्राफ ने भी अपना मूल्य दो आने से एक आना कर दिया। मूल्य घटते ही इसने अपना आकार बढाया और होनहार समझ कर कई लोग आर्थिक सहायता देने को आगे आये। आज कल इसके स्वामी लार्ड बर्नहम है, जो सन् १९०६ वाली इम्पीरियल प्रेस कानफ्रेन्स के अध्यक्ष चुने गये थे। इसका दफ्तर फ्लीट स्ट्रीट में आसमान से बातें करता है। इस पर लोगों का असीम प्रेम है। वे इसके विना नही रह सकते। चाहे टेम्स नदी का बहना बन्द हो जाय, पर टेलीग्राफ का बन्द होना उन्हें मजूर नही। सन् १८८६ ई० तक यह पत्र लिबरल (उदार) रहा; बाद टोरी (अनुदार) दल मे जा घुसा। पार्लामेण्ट की विस्तार पूर्वक रिपोर्ट टाइम्स के बाद टेलीग्राफ ही मे प्रकाशित होती हैं। इसके सम्पादकों तथा लेखको की गणना बड़े विद्वान् और विख्यात पुरुषो मे से है—जैसे सर एडविन आर्नल्ड, एडवर्ड डाइसी, मैथ्यु आर्नल्ड, आगस्टस साला, सर कानन डायल,

मि० मर पचाहित इत्यादि। मि० मर पचाहित दक्षिण अफ्रीका के युद्ध में टेलीग्राफ के सैनिक संवाद-दाता थे। इसके स्थायी सैनिक सम्पादक मिस्टर बैनेट बर्ले हैं। इन्होंने अनेक रणक्षेत्र देखे हैं। आप स्काटलैंड निवासी एक बढ़ई के पुत्र हैं। आपका स्वास्थ्य बहुत अच्छा है। आप सदैव प्रसन्न मुख रहते हैं। आयु आपकी ५५ वर्ष की है। विद्या और परिश्रम ने इन्हें इस उच्च पद पर पहुँचाया है। टेलीग्राफ के मुख्य प्रबन्धकर्ता मिस्टर राज हैं। इनका भी टेलीग्राफ से पुराना संबंध है। ये टेलीग्राफ के मुख्य स्तम्भ माने जाते हैं। टेलीग्राफ की उन्नति का विशेषांश आप ही के उद्योग की बदौलत है। हैं मैनेजर, ये समय पड़ने पर आप सम्पादकी भी करते हैं। युद्धों में सैनिक संवाद-दाताओं का कार्य्य भार आपही के जिम्मे रहता है। आप स्वयं जाकर समाचार भेजने का प्रबन्ध करते हैं।

विलायती समाचार पत्रों में बड़ा ज़ोर है। ये भले को बुरा और बुरे को भला बना सकते हैं। उनकी कलम में ऐसी शक्ति है कि वह महाभारत करा सकती है, और यदि चाहे तो शान्ति भी स्थापन कर सकती है। उससे देश का बड़ा उपकार भी हो सकता है। दक्षिण अफ्रिका के युद्ध के समय टेलीग्राफ ने विधवाओं और अनाथ बालकों के लिए जो अपील की थी उस से ४० लाख रुपया इकट्ठा हुआ था। लन्दन के कई अस्पतालों को

भी टेलीग्राफ़ द्वारा अनुमान ६ लाख रुपया सहायतार्थ मिला। इसी तरह समय समय पर उस की अपीलें देशहितार्थ हुआ करती हैं। टेलीग्राफ को विज्ञापन द्वारा जितनी आमदनी है उतनी और किसी पत्र को नहीं। इसके ६५ से ७५ कालम केवल विज्ञापनों से भरे रहते हैं, जिससे इसकी दैनिक आमदनी कम से कम पांच हज़ार रुपए हैं। ग्राहक-संख्या से जो आमदनी हैं वह अलग है। टेलीग्राफ मे हर तरह के विज्ञापन छपते है—विशेष कर किराए के मकानो के। इसी से लोग बतौर हँसी के इसे लैण्ड लेडीज पेपर (Land-ladies' paper) कहते है। लैण्ड-लेडी का सीधा मतलब किराए से मकान चलाने वाली स्त्रियो है। कई लोग हँसी मे इन्हे भटियारिन कहते हैं। भटियारिन इस कारण कहते हैं कि ये सिवा मकान किराए पर देने के भाड़े वालों को भोजनादि भी देती हैं। टेलीग्राफ के विज्ञापन पायोनियर की भाँति मोटे दूर दूर अक्षरो में नहीं छपते। उनके अक्षर बहुत छोटे और लकीरें बहुत निकट निकट रहती हैं। विज्ञापन-छपाई विलायत मे बहुत महँगी है। एक अमेरिकन ने लन्दन मे एक बडी दूकान खोली। उसकी प्रख्याति के लिये उसने कई दैनिक पत्रों मे विज्ञापन छपाए। इनमे से दो चार प्रसिद्ध दैनिक पत्रों मे पूरे एक सफे मे दूकान का विज्ञापन छपाया, जिसकी छपाई एक हज़ार रुपए रोज पडी। इस प्रकार एक सप्ताह तक रोज विज्ञापन निकले। इस [illegible]र से वहाँ के अखबारो की आमदनी और दूकानदारों के खर्च

का अन्दाजा किया जा सकता है। पर इस थोड़े से खर्च के कारण आज उस दूकान की आमदनी सहस्रों रुपए रोज की है। लार्ड बर्नहम के निकटवर्ती रिश्तेदार मिस्टर हैरी लासन टेलीग्राफ के सुपरिण्टेण्डेण्ट हैं। यानि सब खर्च का कुल भार इन्हीं पर है। लासन साहेब को इस विषय का अनुभव भी अच्छा है। ये सम्पादक भी रह चुके हैं। सब साधारण में उनकी इज्जत अच्छी है। दोनों पत्र से सम्बन्ध रखने पर भी सब दलों के लोग उनसे प्रसन्न रहते हैं। सन् १६०६ के सम्पादक सम्मेलन के समय दोनों दलों ने उन्हें अपना मुख्य प्रतिनिधि चुना था।

२३

लन्दन के पार्क

लन्दन दुनिया मे एक अद्भुत नगर हैं। अतएव इसकी कुल बातें भी अद्भुत हैं। इस विशाल नगर मे छोटे बडे सौ से अधिक पार्क हैं. जिनका कुल रकबा आठ हज़ार एकड से अधिक हैं. और जिनकी मरम्मत वगैरह के लिए सालाना दो लाख पौंड याने ३० लाख रुपया कौंटी कौंसिल अर्थात म्यूनिसीपिलेर्टी खर्च करती है। यदि ये पार्क इस नगर मे न हों तो मनुष्य को सांस लेना कठिन हो जाय। यहां यदि आराम. खेल-कूद वगैरह के कोई स्थान हैं तो यही पार्क है। कलकत्ते का इंडन गार्डन और जयपुर का रामबाग यहां के छोटे छोटे पार्क के मुकाबिले मे कुछ नहीं है। फिर लखनऊ. कानपुर.

और बनारस के पास तो कोई चीज ही नहीं। उन्हें तो पार्क कहना ही अन्याय है। यहाँ परम सुन्दर और सुहावने चार पाँच पार्क हैं। हाइड पार्क सबका शिरोमणि है। इसका रकबा ६३८ एकड़ है। बाद इसके रीजेण्ट्स पार्क सेंट जेम्स पार्क और ग्रिनविच पार्क है। परन्तु इन सबका रकबा १०० एकड़ से भी कम है। पार्कों का पूरा वर्णन करना कठिन है। उन पर एक पोथी लिखी जा सकती है।

पार्क एक उच्च श्रेणी के बाग को कहते हैं। परन्तु बाग और पार्क में जो भेद है वह आगे मालूम होगा। हर एक पार्क के चारों ओर लोहे के खम्भों में तार खिंचे हैं। मौके मौके पर खूबसूरत फाटक बने हैं, जिनमें से गाड़ी वगैरह आसानी से आ जा सकती है। फाटक में तीन दरवाजे होते हैं। बीच वाला दरवाजा बग्घी आदि के लिए और बाकी दो पैदल आने जाने वालों के लिए हैं। ये दरवाजे कुछ तंग होते हैं। हर एक पर "बाहर जाने का रास्ता" और "अन्दर आने का रास्ता" बड़े बड़े मोटे अक्षरों में लिखा रहता है। दरवाजे पर पुलिस या कौंटी कौंसिल का चपरासी देख रेख के लिए खड़ा रहता है। आने जाने वाले चुपचाप अपने अपने रास्तों से बिना रोक टोक निकलते या घुसते चले जाते हैं। फाटक पर पार्क खुलने या बन्द होने का समय लिखा रहता है। जाड़ों में, जल्द दिन डूबने से, करीब सवा पाँच बजे पार्क बन्द हो जाते हैं।

कोई कोई कुछ देर के बाद बन्द होते है । पर हाईड पार्क सब रात खुला रहता है । बन्द करने के पहले पुलिस वाले जगह जगह से घंटी बजाते है, जिसे सुन कर लोग तुरन्त बाहर निकलने लगते हैं । बहुत से तो बजने के पहले ही लौट पडते है।

हर एक पार्क मे दो प्रकार के रास्ते बने रहते है—एक पैदल चलने वालों के लिए, दुसरा खूब चौडा गाडी वगैरह के लिए । किसी किसी पार्क मे पैदल चलने वालो के रास्ते, जिन्हें "फुट-पाथ" कहते है, पक्के चूने के बने रहते है । यह बात यहां केवल फिन्सबरी पार्क मे है । अन्दर लेडियों और जैनटलमैनों के लिए अलग अलग बहुत साफ पाखाने, पेशाबघर जगह जगह बने है, जिनमे सफाई का ऐसा उत्तम प्रबन्ध है कि बदबू का नामोनिशान तक नही । जगह जगह नल लगे हुए हैं जो आपही आप, या इशारा करते ही, खुल पडते है और सब मल-मूत्र उसी दम बहा देते है । एक साहब मेहतर बैठा रहता है जो इसकी देख भाल करता है। लेडियों के लिए लेडी मेहतरानी रहती है । परन्तु लेडियो और जेण्टलमैनों के पाखानों और पेशाब-घरों के अलग नाम होते हैं । जिस जगह "क्लोक रूम" लिखा हो वह लेडी वाला समझो, जहां "लवेटरी" हो वह जैण्टलमैनों वाला । इनके विषय मे कलकत्ता कार्पोरेशन के भूतपूर्व

सेक्रेटरी ने हम से एक दिन कहा कि कलकत्ते जैसे शहर में भी यह बात नहीं है।

पार्क के अलग अलग स्थानों में पानी पीने के नल लगे हैं। इन नलों के खम्भे बड़े सुन्दर बने हैं। हर एक नल पर दो या चार छोटे छोटे कटोरे लोहे की जंजीर में बँधे पड़े रहते हैं जिनसे जिसकी तबीयत चाहे पानी पीता जाय। पानी सदैव बहता रहता है। बीच बीच में बड़े बड़े लम्बे चौड़े हरी दूब से ढँके हुए मैदाननुमा खूबसूरत टुकड़े छूटे हुए हैं, जिन पर लोग बैठे या लेटे हुए दिखाई देते हैं। बैठने को पार्क भर में बेंचें पड़ी रहती हैं। घास बड़ी नहीं होने पाती, बराबर समय समय पर काट दी जाती है। तरह तरह के फूल और पौधे आदि अलग अलग क्यारियों में लगे हुए बड़े प्यारे लगते हैं। परन्तु यहाँ के फूल सुवास में बड़े मन्द होते हैं।

कुल पार्क बहुत साफ रक्खा जाता है, कूड़ा कचड़ा लेश मात्र को भी नहीं रहने पाता। बहुत से नौकर इसी काम पर नियत हैं। जगह जगह रद्दी कागज वगैरह डालने के लिए लोहे की टोकरियाँ लटकी रहती हैं जिन पर "रद्दी कागज" लिखा रहता है। कोई गलती से कागज यदि यहीं डाल देता, नौकर उसी दम उसे उठा लेते हैं। ये लोग हाथ में एक डेढ़ गज लम्बा लोहे का नुकीला पतला टुकड़ा लिये फिरा करते हैं। जहाँ कोई कागज का टुकड़ा पड़ा देखा उसकी नोक से उठा लेते हैं। वृक्षों

के पत्ते इसी भाँति उठा लिये जाते है। गरज यह कि सफाई हद दर्जे की रहती है, यहाँ तक कि लोग थूकने नही पाते। यदि उन्हें ऐसा ही करना है तो अपने रूमालों मे करे। यथार्थ मे थूकने की सभी जगह मुमानियत है। सिवा मजदूर और गँवारों के रास्तों वगैरह पर कोई नही थूकता। ऐसा करना बुरा और असभ्य समझा जाता है। कही ककड-पत्थर पडा हो तो वह भी बीन कर एक तरफ रख दिया जाता है। पुराना सूखा वृक्ष फौरन उखाड दिया जाता है। बेचें, कुर्सियाँ इत्यादि बे-मरम्मत की हुई नही रहने पातीं। सडको की मरम्मत हमेशा हुआ करती है।

स्कूल के लड़के-लडकियों के अखाड़े बने है, जहाँ झूला, पेरलल बार सब मौजूद है। सबको मुफ्त खेलने-कूदने देते है। परन्तु यह सुभीता केवल एक ही दो पार्क मे देखा है। लेडियों और जेण्टलमैनों के लिए टेनिस, क्रिकेट, फुटबाल, हाकी खेलने की अलग जगहें है। इन पर भी कोई चार्ज, टेक्स या महसूल नही देना पडता है। गर्मी मे लोग बूढे बारे सभी पतंग उडाते है। बीच मे एक छोटी-सी नहर बनी रहती है, जिसे नाम झील' कहते है। यह कहीं कहीं उथली, कही कही गहरी होती है। हाईड पार्क वाली झील सब से बडी और गहरी है। साँप के आकार की लहरियेदार बनी है। दूसरे पार्कों मे एक छोटा सा टापू बीच मे रहता है और आस पास उसके नहर रहती है। नहर का पानी स्वच्छ

रहता है और समय समय पर बदल दिया जाता है। यह पानी नलों द्वारा आता जाता है। इन नहरों में दस बीस पचास छोटी छोटी किश्तियाँ पड़ी रहती हैं। जो की घंटे अमुक किराए पर सैर करने के लिए लोग घुमाते फिरते हैं।

इनका किराया कहीं एक आना, कहीं दो तीन आने घंटा है। एक एक में चार छः नौजवान लेडी जण्टलमैन बैठ कर हवा खाते फिरते हैं। नावों को वे स्वयं चलाते हैं। किश्ती खड़ी होने की जगह घड़ी लगी रहती है, जिसे देख कर लोग अपना समय पूरा हो जाने पर बाहर आ जाते हैं।

जलाशय के किनारे, कगार में पीठदार बेंचें पड़ी रहती हैं, जिन पर स्त्री-पुरुष बैठे झील की बहार देखा करते हैं। कोई कोई अपने छोटे छोटे बच्चों को सुन्दर गाड़ियों में रक्खे बाग और स्वच्छ हवा खिलाते फिरते हैं। एक आध शौकीन लेडी या जण्टलमैन जंजीर से बँधा हुआ कुत्ता लिये घूमता है। उधर कुछ दूर चल कर बैंड बाजा बजता है, जहाँ सैकड़ों नर-नारियाँ खड़े चाव से बाजा सुनते हैं। बैण्ड के आस पास कुर्सियाँ पड़ी रहती हैं। जिसे इन पर बैठने की इच्छा हो एक आना दे कर बैठ सकता है। साथ ही उसके जो गीत गाया जाता है उसका एक छपा हुआ परचा मिलता है। जो पैसा नहीं देना चाहते वे दूर खड़े रहकर सुनते हैं। बहुत सा रुपया इस प्रकार इकट्ठा

हो जाता है। हाईड पार्क मे बैण्ड से बाहर पडी हुई कुर्सियों पर बैठने वालों को भी एक आना देना पडता है। इस लिए यहां और भी अधिक रुपया इकट्ठा हो जाता है। पैसा बटोरने को पार्क वाले नौकर चमडे की थैलियां टांगे फिरा करते हैं। खाने-पीने का भी यहां आराम रहता है। बीच मे एक अच्छा घर बना है, जहां जिसे जो खाना-पीना हो पैसा दे कर खावे पीवे।

हर इतवार को प्रायः प्रत्येक पार्क मे खूब लेकचर बाजी उडती है। बड़ी धूम होती है। अच्छा आनन्द आता है। उस दिन सुबह से शाम तक सारा पार्क लेडियों और जेण्टलमैनों से लबालब भर जाता है। उस दिन सभी को फुरसत रहती है। सब लोग तरह तरह की पोशाके पहन कर आते हैं। इतवार को स्त्री-पुरुष यहां खास पोशाक पहनते है, जो देखने मे बहुत भव्य मालूम होती हैं। उस दिन सब अपने कपडे बदलते है। आज की पोशाक को "इतवार की पोशाक" कहते हैं। लेकचर के लिए खास खास मौके होते है, जहां जिसका जी चाहे लेकचर दे। जिसे अपने लेकचर द्वारा कुछ चन्दा इकठ्ठा करना हो उसे कौंटी-कौंसिल की आज्ञा लेनी पडती है परन्तु कोई महसूल नहीं देना पडता। ऐसी आज्ञा दो चार हफ्ते अथवा अधिक समय के लिए दी जा सकती है। उतना समय हो जाने पर फिर मांग ली जाती है। इन लेकचरों मे बडा मजा आता है। अपना अपना गिरोह अपनी मेज-कुरसी (या जिने

प्लेटफ़ार्म कहते हैं) लिए व्याख्यान अर्थात् लेक्चर देता दिखाई देता है। यह प्लेटफार्म टीन या लकड़ी का ढाँचा होता है जिसमें एक स्टूल या सोढ़ा लगा रहता है। मोटे व आगे दो टाँगें चार पाँच फुट ऊँची रहती हैं, जिन पर हाथ रखने या पुस्तक-कागज धरने के लिए मेजनुमा लकड़ी की पट्टी लगी रहती है। इस प्लेटफार्म को एक आदमी आसानी से उठा ले जा सकता है। इसके आगे के भाग पर बड़े बड़े अक्षरों में "सामाजिक दल" या "मुक्ति फौज" या "स्वच्छन्दवादी" या "स्त्रियों का वोट" या "ईसाई मत" इत्यादि लिखा रहता है। जो जिस फ़िरके का होता है, या जो जिस लिए लेक्चर देता है वही इन पर लिखा रहता है। कोई कोई अपने फ़िरके के झण्डे लगाते हैं। मुक्ति-फौज वाले बाजे गाजे से आते हैं और गा बजा कर रिझाते हैं। परन्तु इन बेचारों के पास श्रोताओं की भीड़ नहीं होती है। ये सब अपनी अपनी तान बड़े उत्साह से छेड़ते हैं। स्वच्छन्दता-वादी क्रिस्तानी धर्म की बड़ी मिट्टी पलीद करते हैं। इनके मुक़ाबले में आर्यसमाजी कुछ भी नहीं। समाज-वादी माल्दार लोगों पर बड़े कठोर आक्रमण करते हैं और साथ ही भारत पर कुछ दया दिखाते हैं। "स्त्रियों का वोट" के झण्डे में स्त्रियाँ कहती हैं कि हम पत्नी हैं, वैसी हैं इसलिए क्यों नहीं हम मर्दों की भाँति पार्लिमेंट के चुनाव पर मेम्बर चुनने के हक़ मिलते? इस तरह की वे वक्तृतायें

देती है। कभी कभी बौद्ध धर्म वाले भी दिखाई पड़ते हैं। ईसाई अपनी नमक हलाली दिखाते हुए हर एक धर्म पर कटाक्ष करते है। कोई कोई वक्ता बड़े योग्य होते है, जिन की वक्तृताओं से हमे कितनी ही बातों का लाभ होता है। वे लोग अपनी वक्तृतायें खूब तैयार करके लाते हैं और प्रश्नकर्त्ता को तुरन्त उचित उत्तर देते है। वे अपनी बातो का प्रचार करने के लिए छोटी मोटी पुस्तकें और समाचार-पत्र वेचते है, जिनकी क़ीमत बहुत कम होती हे। अपने शत्रु को भी वे बोलने का मौका देते है। जिसे चन्दा इकट्ठा करना होता है उसके झुण्ड के दो एक आदमी अपनी हैट (टोपी) या थैली श्रोताओं मे घुमाते है। एक एक पेनी प्राय: सभी देते हैं। सिवा इन लोगो के जगह जगह पर लोग राजनैतिक विषयो पर बहस करते दिखाई देते हैं। राजनीति तो इस देश के स्त्री-पुरुषों का जीवन है। ज़रा ज़रा से बच्चे भी इन बातों को थोड़ा बहुत समझते है। मतलब यह है कि यहां के पार्क मे सभी प्रकार का आनन्द आता है।

प्यारेलाल मिश्र

२४

भगवान् बुद्ध का उपदेश और उनकी शिष्य मण्डली

लेखक—श्रीयुत लक्ष्मीधर वाजपेयी

[श्री० लक्ष्मीधर जी कानपुर जिले में मथा नामक गाँव के रहने वाले हैं। आपका जन्म सन् १८७७ ई० में हुआ था। १८ वर्ष की उम्र में आपने स्कूल छोड़ दिया था। इसके बाद आपने अपने ही उद्योग से इतनी उन्नति की।

आप श्रीयुत माधवराव सप्रे के साथ हिन्दी केसरी का सम्पादन करते रहे। फिर कोई ६ वर्ष तक अगारे के साथ मित्र तथा एन के हिन्दी चित्रमय जगत् का सम्पादन किया। अब कुछ समय से

आप इलाहाबाद में 'तरुण-भारत ... स्तकमाला

श्रीहरिः

शोकनाशके उपाय

(तत्त्व-चिन्तामणि भाग ५ से)

लेखक—
जयदयाल गोयन्दका

पहुँचाता और न किसी से कष्ट पाता है—तो वह धार्मिक है। फिर वह चाहे ईश्वर और वेद को मानता हो और चाहे न मानता हो। भगवान् बुद्ध ने अपने उपदेशों में कहीं ईश्वर अथवा वेद का खण्डन नहीं किया है, परन्तु उनका मण्डन करने की आवश्यकता नहीं समझी। संसार में उन का धर्म "सद्धर्म" था। सदाचार से ही मनुष्य शांति अथवा निर्वाण पा सकता है। मोक्ष के लिए मरने की आवश्यकता नहीं, कोई कर्मकांड जप-तप करने की आवश्यकता नहीं। सदाचार से ही मनुष्य जन्म जरा मरण व्याधि इत्यादि के कष्टों से मुक्त होकर निर्वाण पद प्राप्त कर सकता है।

यही भगवान् बुद्ध के उपदेश का सार है। स्वयं बुद्धत्व प्राप्त करने के बाद—सदाचार की पराकाष्ठा तक पहुँच जाने के बाद—उन्होंने इसी धर्म का प्रचार करना प्रारम्भ किया। और जब वे अपने पूर्वाश्रम के साथी कौंडिन्य, भद्दिय, वाप्प, महानाम और अश्वजित नामक पाँच संन्यासियों से मिलने के लिए वाराणसी को जा रहे थे तब मार्ग में उपक नामक एक संन्यासी उनको मिला। उसने भगवान् बुद्ध से पूछा कि आप किस सम्प्रदाय के संन्यासी हैं? उन्होंने उत्तर दिया—'मैं किसी सम्प्रदाय का नहीं हूँ। जाति, वर्ण, इत्यादि भेदों से मुझे कोई मतलब नहीं। सम्पूर्ण मानव जाति के दुःखों का नाश जिस मार्ग से हो वही मेरा मार्ग है, और उस मार्ग को मैंने जान लिया है'।

इतना कहने के बाद भगवान् बुद्ध आगे चल दिये। कुछ दूर पर मृगदाव नामक तपोभूमि मे उनको उपर्युक्त पांचों सन्यासी मिले। उन संन्यासियों ने पहले तो उन्हें तिरस्कार की दृष्टि से देखा। उन्हों ने समझा कि यह वही तपोभ्रष्ट साधु है जो पहले हमारे साथ तप करता था और फिर बीच से ही उसको छोड कर चला गया, परन्तु जब उन्हों ने बुद्धदेव की ओर ध्यानपूर्वक देखा तब उनकी तेजस्विता का उन सन्यासियों के मन पर एक विचित्र प्रकार का प्रभाव पडा। उन्हों ने भगवान् बुद्ध का बडा आदर-सत्कार किया। वार्तालाप होने पर बुद्धदेव ने उन साधुओं से कहा कि धर्म का सच्चा मार्ग हमको मालूम हो गया है। वास्तव मे मनुष्य को प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों मार्गोंका अत्यन्त सेवन न करना चाहिए। उसे बीच के मार्ग से जाना चाहिए। अर्थात न तो मनुष्य को ऐसे कठोर व्रतों का आचरण करना चाहिए जिनसे शरीर को अत्यन्त कष्ट हो और न विषय-सुखों मे ही अत्यन्त निमग्न हो जाना चाहिए।

उस समय उन्होंने उक्त भिक्षुओं को यह उपदेश दिया—

वास्तव मे इस मध्यम मार्ग के अतिरिक्त निर्वाण-प्राप्ति का और कोई भी साधन नहीं है। इस मार्ग मे आठ बातों की साधना करनी चाहिए—

(१) सम्यक् दृष्टि अर्थात् यथार्थ ज्ञान;

(२) सम्यक् सङ्कल्प अर्थात् उचित कार्य के विषय में मन का दृढ़ निश्चय;

(३) सम्यक् वाक् अर्थात् उचित भाषण;

(४) सम्यक् कर्मान्त अर्थात् उचित कार्य;

(५) सम्यक् आजीव अर्थात् जीविका का उचित साधन;

(६) सम्यक् व्यायाम अर्थात् उचित प्रकार के प्रयत्न और परिश्रम;

(७) सम्यक् स्मृति अर्थात् उचित प्रकार के विचार;

(८) सम्यक् समाधि अर्थात् उचित प्रकार की चित्तशान्ति की स्थिति। यही आठ बातें हैं जिनका नाम बौद्ध धर्म में 'आर्य अष्टाङ्गिक मार्ग' रक्खा गया है।

इसके बाद बुद्धदेव ने जन्म, जरा, व्याधि, मरण, अप्रिय संयोग और प्रिय वियोग ये छः बातें दुःख का कारण बतलाईं। पुनर्जन्म का कारण तृष्णा बतलाई। यही दुःख की जननी है। तृष्णा से निवृत्त होने पर ही दुःख का नाश होता है और उससे निवृत्त होने के लिए ही उपर्युक्त 'आर्य-अष्टाङ्गिक मार्ग' बतलाया गया है।

बुद्ध भगवान् ने उन तपस्वियों को चार आर्य सत्य भी बतलाए, जो इस प्रकार हैं—

(१) दु:ख अर्थात् जो हेय है,

(२) अज्ञान अर्थात् जो हेय हेतु है;

(३) दुःख-निरोध अर्थात दुःख से दूर होने की इच्छा,

(४) दुःख-निरोध-कारिणी वृत्ति, जिसको 'हान' कहते हैं और जिसके द्वारा दुःख के नाश होने का उपाय सूझता है।

यही पहला उपदेश है जिसे भगवान् बुद्ध ने अपने उपर्युक्त पांचों साथियों को किया। इस उपदेश से उनको बहुत सन्तोष हुआ और वे बुद्ध के शिष्य बन गए। बौद्ध ग्रन्थकारों ने इस उपदेश को 'धर्म-चक्र-प्रवर्तन' की संज्ञा प्रदान की है।

वाराणसी से भगवान् बुद्ध उरुवेला अर्थात गया जी को गए। वहां उन्होंने उरुवेला काश्यप, नदी काश्यप और गया काश्यप नामक तीन बड़े कट्टर ब्राह्मणों को अपने धर्म की दीक्षा दी। फिर वे गयाशीर्ष पर्वत पर गए, जहां एक हज़ार अग्नि-होत्री यज्ञ और तप का अनुष्ठान कर रहे थे। इन सबको उन्होंने आदित्य-पर्यायसूत्र का उपदेश करके अपना शिष्य बनाया। इसके बाद राजगृह जाकर वहां के राजा बिम्बसार को अपने धर्म की दीक्षा दी। यह राजा उस समय उत्तर भारत के राजाओं मे सर्व श्रेष्ठ गिना जाता था। भगवान् बुद्धने जब गृह त्याग किया तब बिम्बसार ने उनको राज्यसुख को फिर से ग्रहण करने के लिए बहुत कुछ समझाया बुझाया था, पर भगवान् बुद्ध ने उसके कथन को स्वीकार नहीं किया था।

जब दूसरी बार बुद्धदेव से बिम्बसार की भेंट हुई तब बिम्बसार स्वयं उनका शिष्य बन गया। बिम्बसार उनका बड़ा भक्त था।

राजगृह के पास सञ्जय नामक परिव्राजक रहता था। उसके ढाई सौ शिष्य थे। इन में सारिपुत्र और मौद्गलायन नामक दो बड़े विद्वान् ब्राह्मण थे। इन दोनों ने परस्पर निश्चय किया था कि जिसको मोक्ष मार्ग पहले प्राप्त हो वह दूसरे को भी उससे परिचित करे। संयोग की बात है कि एक बार भगवान् बुद्ध का अश्वजित नामक शिष्य भिक्षाटन करता हुआ राजगृह की ओर आया। उसको देखकर उपर्युक्त सारिपुत्र नामक ब्राह्मण ने उससे पूछा—

"भाई, आपकी मूर्ति प्रशान्त और कान्ति शुद्ध तथा उज्ज्वल दिखाई देती है। कहिए, आप किसके शिष्य हैं? आपका धर्म ग्रन्थ कौन सा है?"

अश्वजित् ने उत्तर दिया—'शाक्यवंशी गौतम बुद्ध हमारे गुरु हैं। उन्हीं का धर्म हमने ग्रहण किया है। सारिपुत्र ने पूछा, "आपके धर्म का क्या सिद्धान्त है? इस पर अश्वजित् ने यह श्लोक कहा—

ये धम्मा हेतुप्पभवा हेतु तेसां तथागतो।
तेसां च यो निरोधो एवं वादी महासमनो॥

अर्थात् सम्पूर्ण वस्तुएँ जिस कारण से उत्पन्न हुई है वह कारण तथागत (बुद्धदेव) ने हमको बतला दिया है। उस कारण का नाश किस प्रकार किया जाय, सो भी उस महा श्रमण ने हमको बतला दिया है।

अब सारिपुत्र को बुद्धदेव के दर्शन की अभिलाषा हुई। वह अपने साथी मौद्गलायन तथा अन्य सहपाठियों के साथ बुद्धदेव के दर्शन को गया। बुद्धदेव ने निम्नलिखित श्लोकों मे अपने धर्म का सार बतला कर उनको अपना शिष्य बना लिया—

सर्व पापस्स अकरणं कुसलस्स उपसम्पदा।
सचित्तपरियोदपन एतं बुद्धानुसासनम् ॥

अर्थात् किसी प्रकार का भी पाप न करना, कल्याण-कारक कर्म करना और चित्त शुद्ध रखना ही बुद्ध का धर्म है।

सारिपुत्र और मौद्गलायन ये दोनों बुद्धदेव के प्रमुख शिष्यों मे से थे। इनके विषय मे यह आख्यायिका प्रसिद्ध है कि एक बार बुद्धदेव ने अपने देवदत्त नामक शिष्य को, जो पीछे से गुरु-द्रोही बन गया था, समझाने के लिए सारिपुत्र और मौदगलायन को भेजा। देवदत्त के मित्रो ने उन दोनों का वध करने के लिए बहुत प्रयत्न किया। परन्तु जब यह बात राजा अजातशत्रु को मालूम हुई, तब उसने वधिकों को कैद कर लिया और मौदगलायन से कहा, "आप बड़े प्रभाव-

ज्ञानी अवश्य हैं। क्या आप अपने प्राणों की रक्षा नहीं कर सकते?' मौद्गल्यायन ने उत्तर दिया, "महाराज, यह काम कुछ कठिन नहीं है। परन्तु इस प्रसङ्ग में ऐसा करने की मुझे कोई आवश्यकता ही नहीं है क्योंकि अपने पूर्व कर्म फलानुसार अब मुझे स्वयं ही इस संसार में अपना देह त्याग करनी पड़ेगी।" कहते हैं कि मौद्गल्यायन ने सचमुच ही उस सप्ताह में अपनी देह त्याग कर दी। अपने गुरुभाई मौद्गल्यायन की निर्वाण यात्रा सुन कर सारिपुत्र ने भी अपनी देह त्याग कर दी। सारिपुत्र नालन्दा में रहता था। भगवान् बुद्ध के यह दोनों बड़े प्रसिद्ध शिष्य थे। वे इनको अग्रश्रावक कहते थे।

भगवान बुद्ध का पुत्र राहुल भी उनके मुख्य शिष्यों में था। इसको उन्होंने किस प्रकार प्रेम की दीक्षा दी। इसकी कथा बड़ी विचित्र और करुणात्मक है। कहते हैं कि एक बार जब भगवान् बुद्ध अपने धर्म का प्रचार करते हुए अपनी जन्मभूमि कपिल वस्तु में पहुँचे तब उनके पिता राजा शुद्धोदन राजसी ठाट बाट के साथ उनसे मिलने आए। उस समय राजा शुद्धोदन ने जब अपने पुत्र को भिक्षा-पात्र लिए हुए भिक्षुक के रूप में देखा तब वे बहुत लज्जित और क्रोधित हो कर बोले, "वत्स, तुमने हमारे राजकुल को कलङ्क लगाया है। क्या तुम समझते हो कि हम तुमको और तुम्हारे शिष्यों को अन्न दान

का सामर्थ्य नहीं रखते, जो तुम भिक्षुक बने फिरते हो ?"

बुद्ध ने उत्तर दिया, "महाराज, भिक्षा मांगना हमारा कुल-धर्म है।" यह उत्तर सुन कर शुद्धोदन बड़े चकित हुए। उन्होंने पूछा, 'सो कैसे ?" भगवान् बुद्ध ने उत्तर दिया—

"पहले जो बुद्ध अवतीर्ण हो चुके हैं वही हमारे पूर्वज हैं। उन्होंने भिक्षा मांगने की जो परिपाटी चला दी है उसी का पालन हम करते है। कहा है कि यदि किसी को कोई गुप्त धन प्राप्त हो तो उसमे जो उत्तम रत्न हो उसे वह अपने पिता को अर्पण करे। सो मुझको जो अमूल्य रत्न-संग्रह प्राप्त हुआ है उसमें एक दो सुन्दर रत्न मैं आपको अर्पण करता हूं। उन रत्नों को आप स्वीकार करें। वे रत्न यह हैं—

उत्तिट्ठे न प्पमज्जेय्य धम्मं सुचरित चरे।
धम्मचारी सुखं सेति अस्मि लोके परं हिच॥
धम्मं चरे सुचरित न त दुच्चरितं चरे।
धम्मचारी सुखं सेति अस्मि लोके परं हिच॥

अर्थात उठो, आलसी मत बनो, सद्धर्म का आचरण करो, धर्माचरण करने वाले को इस लोक और परलोक मे सुख मिलता है। सत्कर्म करो, असत्कर्म मत करो, धर्माचरण करने वाले का इहलोक और परलोक मे सुख होता है।"

यह उपदेश सुन कर राजा शुद्धोदन का चित्त बहुत प्रसन्न

हुआ और वे बुद्धदेव को अपने महलों में ले गए। यहाँ उनके दर्शनों के लिए राज परिवार के सब लोग, सरदार और दरबारी आये। पर बुद्धदेव की धर्मपत्नी यशोधरा देवी नहीं आईं। यह देख कर पिता की आज्ञा से भगवान् स्वयं यशोधरा के महलों में गये। यशोधरा उस समय अत्यन्त दुःख से व्याकुल पृथ्वी पर पड़ी थी। उनकी दशा को देख कर बुद्धदेव ने उनको पूर्व जन्म की याद दिलाई और उपदेश दे कर उनका समाधान किया। इसके बाद वे महलों से वापस चले गये। कुछ देर बाद यशोधरा देवी ने अपने पुत्र राहुल को बुला कर कहा, "बेटा, जाओ। बस्ती के बाहर एक सन्यासी ठहरा है। वह तुम्हारा पिता है। उसके पास जाकर अपनी पूर्वजोपार्जित सम्पत्ति का भाग माँगो।'

बेचारा राहुल माता की आज्ञा के अनुसार बुद्धदेव के पास जा कर पैतृक धन माँगने लगा। यह देख कर तथागत बुद्ध ने अपने शिष्य सारिपुत्र से कहा "भिक्षुओ, राहुल को प्रव्रज्या (सन्यास व्रत) दो।'

सारिपुत्र ने वैसा ही किया। राहुल के घुंघराले सुन्दर केश काट कर उसका मुण्डन कराया और उसको पीले वस्त्र पहनाये। राहुल ने सब भिक्षुओं को प्रणाम किया और इस मन्त्र का तीन बार उच्चारण किया—

"बुद्धं सरणं गच्छामि, धम्मं सरणं गच्छामि संघं सरणं

गच्छामि ॥"

राहुल के संन्यास लेने पर राजा शुद्धोदन को बड़ा दु:ख हुआ। बुद्ध के पास जाकर उन्होंने अपना शोक प्रकट किया और उनसे यह वचन सदा के लिए ले लिया कि अब आगे से माता-पिता की अनुमति के बिना किसी बालक को संन्यास-दीक्षा नहीं देंगे, और यदि ऐसा करें तो बड़ा पातक हो।

राहुल भगवान् बुद्ध के मुख्य शिष्यों मे था।

कोसलराज प्रसेनजित् भी बुद्धदेव के अत्यन्त प्यारे शिष्यों मे था। इसका स्वभाव बहुत नम्र और भावुक था। इस राजा ने लडकपन मे तक्षशिला के विश्वविद्यालय मे शिक्षा पाई थी। भगवान् बुद्ध के उपदेश सुनने के लिए यह सदा आतुर रहता था। इसने अपनी बहन के साथ बुद्धधर्म स्वीकार किया। यह राजा मगधराज बिम्बसार का साला था। यह प्रतिदिन पाँच सौ बौद्ध भिक्षुओं को सुन्दर भोजन कराता था। कहते है कि इस के सुस्वादिष्ट भोजनों मे भी जब भिक्षुओं को तृप्ति न होने लगी तब एक दिन इसने भिक्षुओं से पूछा—

"भिक्षुओ, आप लोग दरिद्र लोगो के साधारण भोजन से तो तृप्ति लाभ करते है, पर हमारे उत्तम भोजन से आपकी पूरी पूरी प्रसन्नता क्यो नही होती?" इस पर भिक्षुओं ने उत्तर दिया—

"महाराज, श्रद्धा एक ऐसी वस्तु है कि उसी से हमको

भोजन में स्वाद आता है। दरिद्र मनुष्य हमको जो भोजन दान देते हैं उसमें श्रद्धा का अंश विशेष रहता है। इसी लिए उनके दिए हुए भोजन में हमको विशेष रस है।" इस उत्तर से राजा प्रसेनजित बहुत प्रसन्न हुआ। भिक्षुओं के प्रति उसकी श्रद्धा और भी अधिक बढ़ गई। कहते हैं कि इस राजा ने मल्लिका नामक एक मालिन की सुन्दरी पुत्री से विवाह किया था और उसको अपनी पटरानी बनाया था। यह लड़की भगवान् बुद्ध के उपदेशों में पहले से ही बहुत श्रद्धा रखती थी।

जीवक नामक एक प्रसिद्ध वैद्य भी बुद्धदेव का शिष्य था। यह राजा बिम्बिसार का नाती था। इसने पहले ही से सोच लिया था कि हमारे भाई हमको राजगद्दी नहीं मिलने देंगे। इसलिए अपनी जीविका के लिए इसने वैद्यक का व्यवसाय बड़ी बुद्धिमानी से चुना था। इसने तक्षशिला के विश्वविद्यालय में आचार्य आत्रेय से आयुर्वेद का उत्कृष्ट अध्ययन किया था। कहते हैं कि जब जीवक अपना अध्ययन समाप्त कर चुका तब आचार्य ने अपने शिष्य की परीक्षा लेने के लिए यह आज्ञा दी, "इस विश्वविद्यालय के आस पास सोलह मील तक भ्रमण करके तुम कोई ऐसी वनस्पति ले आओ जो किसी औषधि के उपयोग में न आ सके।" जीवक इधर उधर बहुत घूमता रहा। पर जब उस प्रकार की कोई भी वनस्पति उसको प्राप्त नहीं हुई तब वह खाली हाथ अपने गुरु के पास लौट आया। उसने

कहा, "हमको कोई भी निरुपयोगी वनस्पति नहीं दिखाई दी।' आचार्य अत्रेय उस पर बहुत प्रसन्न हुए और प्रसन्नतापूर्वक आशीर्वाद देकर उसको घर लौटने की आज्ञा दी ।

जीवक एक बहुत ही यशस्वी वैद्य था। असाध्य से असाध्य रोगी को वह अपने कौशल से आरोग्य कर देत था। उसकी चिकित्सा के अनेक चमत्कार-पूर्ण कार्यों का उल्लेख बौद्ध ग्रन्थों मे हुआ है। उसकी कीर्ति सुन कर राजा बिम्बसार ने उसको अपने दरबार का राजवैद्य बनाया था । बुद्धदेव पर वैद्यराज जीवक की बहुत श्रद्धा थी। उसने अपना एक आम्रवन बुद्धदेव को अर्पण किया था। राजा अजात शत्रु को बौद्ध धर्म की ओर उसी ने प्रवृत्त किया था।

कहते हैं कि एक बार राजा अजात शत्रु अपने दरबार के कार्यों से निवृत्त होकर रात को उद्यान मे बैठे हुए विश्राम कर रहे थे। शुभ्र चांदनी छिटकी हुई थी। पुष्करिणी मे कुमुद प्रफुल्लित हो रहे थे। सुगन्धित पुष्पो के परिमल से सब दिशाएँ व्याप्त हो रही थीं। सुन्दर सुन्दर फौवारे उद्यान की शोभा बढाते हुए सम्पूर्ण जीवो के मन को हरण कर रहे थे, पर राजा अजात शत्रु को उस रमणीय उद्यान मे भी चैन नहीं मिल रहा था। बात यह थी कि राजा अपने दुष्कार्यों पर पश्चात्ताप करता हुआ मन ही मन अत्यन्त खिन्न हो रहा था । उसका मन ही

उसको भीतर से बेचैन कर रहा था। ऐसी दशा में बाह्य रमणीयता से उसको सुख कैसे मिल सकता था? राजवैद्य जीवक राजा के पास ही बैठा था। उसने राजा के मन की दशा को ताड़ कर बहुत ही शान्तिपूर्ण शब्दों में राजा के सामने बुद्धदेव की महिमा का वर्णन किया तथा उनके शरण में जाने का राजा को उपदेश किया। राजा तुरन्त ही हाथी पर सवार होकर बुद्धदेव के दर्शन को गया और भगवान् बुद्ध के उपदेश से उसको अनुपम शान्ति का लाभ हुआ। इस प्रकार राजा अजातशत्रु ने बुद्धदेव की शिष्यता स्वीकार की।

वैद्य विद्या में जीवक अत्यन्त ही कुशल था। अपस्मार, यक्ष्मा, कुष्ट इत्यादि असाध्य रोगों से पीड़ित सैकड़ों रोगी दूर दूर से उसके पास आया करते थे। धनाढ्य रोगी द्रव्य की बड़ी बड़ी राशियाँ उसके सामने रख देते थे, पर राजवैद्य जीवक को द्रव्य की क्या परवा? बौद्ध धर्म पर उसकी विशेष श्रद्धा थी, अतएव पहले वह बौद्ध भिक्षुओं को ही देख कर उनका इलाज मुफ्त में करता था। इसका परिणाम यह हुआ कि अनेक रोगी कपट से बौद्ध भिक्षु बन जाते और जीवक के इलाज से रोगमुक्त होते ही बौद्ध धर्म का त्याग कर देते। इससे बौद्ध मठों में सरोग रोगियों की वृद्धि होने लगी। अनन्तर बुद्धदेव को यक्ष्मा, अपस्मार, कुष्ट इत्यादि रोगों से पीड़ित लोगों के लिए संघ में प्रवेश करने का कठोर निषेध करना पड़ा।

श्रावस्ती नगर का अनाथ पिण्डक नामक एक अत्यन्त धनवान श्रेष्ठी भी भगवान् बुद्ध की शिष्य-मण्डली मे था। बुद्ध-देव के उपदेशो को सुन कर यह उन पर इतना प्रसन्न हुआ कि इसने उनके रहने के लिए बस्ती के बाहर, किन्तु निकट ही, एक उपवन चौदह करोड रुपये मे राजकुमार जेत से खरीदा और उसमे एक उत्तम विहार बनवा कर बुद्धदेव को अर्पण किया। यह उपवन "जेत-वन" के नाम से बौद्ध ग्रन्थों मे प्रसिद्ध है। इस जगह रह कर भगवान् बुद्ध ने अपने शिष्यो को अनेक बार सुन्दर उपदेश दिये है।

अनाथ पिण्डक न विपुल सम्पत्ति के द्वारा ही भगवान् बुद्ध के धर्म-प्रचार मे सहायता नही दी, वरन् महासुभद्रा और चुलसुभद्रा नामक अपनी दो कन्यायें भी बौद्ध सङ्घ की सेवा के लिए अर्पण की।

पूर्ण नामक एक और श्रद्धालु व्यापारी भगवान् बुद्ध का शिष्य हुआ था। यह सुरापरान्त देश से श्रावस्ती नगर में व्यापार के लिए आया था। उपर्युक्त जेत-वन मे उसको भगवान् के उपदेश सुनने का सौभाग्य प्राप्त हुआ और उसने बौद्ध धर्म की दीक्षा ली। वहाँ कुछ काल व्यतीत करने के बाद बौद्ध धर्म का प्रचार करने के उद्देश से जब वह अपने देश को जाने लगा तब भगवान् बुद्ध ने उस से कहा—

"हे शिष्य, तू जिस देश में धर्म प्रचार के लिए जा रहा है, वहाँ के लोग बहुत ही दुष्ट, क्रूर और अत्याचारी हैं। वे जब तेरी निन्दा करने लगेंगे अथवा तुझको अपशब्द कहने लगेंगे तब तू क्या करेगा?" पूर्ण ने उत्तर दिया—

"मैं बिलकुल चुप रहूँगा।"

"और यदि वे पकड़ कर तुझको पीटेंगे तो तू क्या करेगा?"

'मैं उनको बदले में नहीं मारूँगा।'

"अच्छा, यदि वे तुझे पकड़ कर तेरा वध करना चाहें तो?"

मैं उनको धन्यवाद दूँगा, क्योंकि इससे मैं संसार के त्रिविध तापों से अनायास ही मुक्त हो जाऊँगा। अतएव मैं उनके प्रयत्न में बाधा नहीं डालूँगा।'

पूर्ण का उत्तर सुन कर बुद्धदेव बहुत प्रसन्न हुए। यह सोच कर कि धर्म-प्रचार करने के लिए ऐसे ही दृढ़ और सहनशील पुरुष की आवश्यकता है, उन्होंने पूर्ण को आशीर्वाद दे कर विदा किया।

पूर्ण अपने कार्य में पूर्णतया सफल हुआ और धर्म प्रचार का कार्य बड़ी योग्यता के साथ उसने किया।

अब बुद्धदेव के एक पट्ट शिष्य का कुछ वृत्तान्त दे कर हम यह लेख समाप्त करेंगे। इस शिष्य का नाम था आनन्द। आनन्द ने भगवान् बुद्ध से किस समय और कैसे दीक्षा ली,

इसका हाल नहीं मिलता है, पर इतना सर्व प्रसिद्ध है कि आनन्द सब बुद्ध-भिक्षुओं मे एक प्रमुख भिक्षु था। बुद्धदेव की इस पर अत्यन्त कृपा थी। यह शाक्यवंशी क्षत्रिय था और स्वय भगवान् बुद्ध के भाई-बन्दों मे था। यह लगातार पच्चीस वर्ष तक बुद्धदेव के साथ रहा और अत्यन्त श्रद्धा के साथ इसने उनकी सेवा की। बुद्धदेव का कोई भी रहस्य इससे छिपा नही रहता था। भगवान् से मिलने के लिए, उनका उपदेश लेने के लिए अथवा उनसे कोई प्रश्न करने के लिए, चाहे जो आवे, आनन्द सदैव उनके निकट रहता था। भगवान् बुद्ध ने अपने हृद्गत सम्पूर्ण विचार आनन्द से प्रकट कर दिए थे। बुद्धदेव के पश्चात धर्म विषयक जो शास्त्रार्थ होते थे उन सब मे कोई रहस्यमय प्रश्न उपस्थित होने पर आनन्द जब इस बात का खुलासा कर देता कि इस विषय मे भगवान् बुद्ध का ऐसा अभिप्राय था तब उस शास्त्रार्थ का निर्णय होता था।

ऊपर भगवान् बुद्ध के जिन मुख्य मुख्य शिष्यों का वर्णन आया है उनके अतिरिक्त और भी उनके अनेक शिष्य थे। विस्तार-भय से यहां उनका वर्णन नही किया गया है। बुद्धदेव के शिष्यो मे सब जाति के लोग सम्मिलित थे। सारिपुत्र, मौद्गलायन और कात्यायन के समान तेजस्वी और विद्वान ब्राह्मण उनकी शिष्य-मण्डली मे थे; आनन्द, राहुल, अनिरुद्ध के समान उच्च कुलीन क्षत्रिय भी थे, इसी प्रकार यश, अनाथ-

पिण्डक और पूर्ण के समान श्रेष्ठी भी उनके शिष्य थे। यही नहीं, बल्कि उनके शिष्यों में सुनीत नाम का एक भङ्गी था; अङ्गुलिमाल नामक एक औंधिया (चोरी का व्यवसाय करने वाला), स्वाति नामक एक मछुआ, नन्द नामक एक ग्वाला और उपाली नाम का एक नाई था। इसी प्रकार अनेक निम्न श्रेणी के लोग उनके उपदेशों से कृतार्थ हुए।

भगवान् बुद्ध के शिष्य दो श्रेणियों में विभक्त थे। एक तो वे लोग जो गृहस्थाश्रम छोड़ कर सन्यास दीक्षा लेते थे। इन को भिक्षु कहते थे। दूसरे वे लोग जो गृहस्थाश्रम में रह कर ही उनके उपदेशों का पालन करते थे। इन को उपासक कहते थे। राजा बिम्बसार, कोसलराज प्रसेनजित, वैद्यराज जीवक श्रेष्ठी अनाथ पिण्डक इत्यादि द्वितीय श्रेणी के शिष्य थे।

पुरुषों की भांति अनेक स्त्रियाँ भी बुद्धदेव के सम्प्रदाय में सम्मिलित हुई थीं। वे भी बड़े उत्साह से बौद्ध धर्म का प्रचार करती रहती थीं।

२५

शिकागो का रविवार

लेखक—स्वामी सत्यदेव परिव्राजक

[स्वामी सत्यदेव जी का जन्म लुधियाना में सन् १८७९ के लगभग हुआ था। आपको देशाटन का बहुत शौक था। आप एक मित्र से मार्ग व्यय लेकर अमरीका चले गये। वहाँ विद्याध्ययन के साथ साथ नौकरी कर के आपने अपनी गुज़र की। लौटते समय योरुप के भिन्न भिन्न देशों की सैर की। पिछले दिनों आप आँखें बनवाने के लिए एक बार फिर जर्मनी गये थे। आप हिन्दी के अनन्य प्रेमी हैं। आपने अमरीका के निर्धन विद्यार्थी, अमरीका-दिग्दर्शन, कैलाश यात्रा, [illegible], संजीवनी बूटी आदि कई पुस्तकें लिखी हैं।]

रविवार छुट्टी का दिन है। भारत वर्ष में छोटे छोटे बच्चे जो स्कूलों में पढ़ते हैं, वे भी यह बात जानते हैं। रशिया और अफ्रीका में जहाँ जहाँ ईसाई लोगों का राज्य है, सब कहीं स्कूलों और दफ्तरों में रविवार की छुट्टी रहती है। परन्तु रविवार की छुट्टी किस तरह मनाना चाहिये, यह बात ईसाइ धम्मावलम्बियों के बीच रहे बिना, अच्छी तरह नहीं अनुभव की जा सकती। रविवार की छुट्टी मनाने के लिये शिकागो में कैसे कैसे स्थान बनाये गये हैं और किस प्रकार यहाँ वाले जीवन का आनन्द लूटते हैं इसका संक्षिप्त हाल इस लेख में सुनाते हैं।

ईसाई धम्म में रविवार को काम करना मना है; इसलिये सब दुकानें, पुस्तकालय, कारखाने आदि इस दिन बन्द रहते हैं। क्या निर्धन, क्या धनवान्, क्या नौकर, क्या स्वामी, क्या बालक, क्या वृद्ध क्या स्त्री, क्या पुरुष, सब के लिये आज छुट्टी है। साढ़े दस ग्यारह बजे, नियत समय पर, प्रातःकाल प्राय सब लोग अपने अपने गिरजा घरों में जाते हुए दिखाई देते हैं। वहाँ ईश्वराराधना करने के बाद घर लौटकर भोजन करते हैं। फिर कुछ आराम करके सैर को निकलते हैं।

शिकागो बहुत बड़ा शहर है; संसार के बड़े शहरों में इसका तीसरा नम्बर है। यहाँ एक 'फील्ड म्यूज़ियम' अर्थात अजायब घर है। यह मिशिगिन झील के किनारे शिकागो

विश्वविद्यालय से थोडी ही दूर पर है। रविवार को सवेरे नौ बजे से शाम के पाँच बजे तक, सब को यहाँ मुफ्त सैर करने की अनुमति है; इस लिये इस दिन यहाँ बडी भीड रहती है। आठ-नौ बरस के बालक-बालिकाएँ ऐसे ही स्थानों से अपनी विद्या का आरम्भ करते हैं, क्योंकि यहाँ पर संसार की उन सब वस्तुओं का सग्रह है, जो शिकागो के प्रसिद्ध सांसारिक मेले मे इकट्ठी की गई थी। यहाँ यह बात यथाक्रम दिखलाई गई है कि पृथ्वी के ऊपर प्राणियो का जीवन, प्राकृतिक नियमों के अनुसार, किस प्रकार वर्तमान अवस्था को पहुँचा है। भूगर्भ-विद्या-सम्बन्धी पदार्थों को भिन्न भिन्न कमरों मे दरजे-बदरजे रखकर उनका विकास-क्रम अच्छी तरह दिखलाया गया है। यहाँ यह स्पष्ट मालूम हो जाता है कि उत्तरी अमेरिका के हिरन किस प्रकार भिन्न भिन्न ऋतुओं मे अपना रग बदलते हैं, किस प्रकार प्रकृति-माता बर्फ के दिनो मे उनको भोजन देती है। उत्तरीय ध्रुव मे रहने वाले रीछो के, बर्फ के भीतर बने हुए, घर क्या ही अच्छी तरह दिखाये गये हैं! यहाँ यह बात भी प्रत्यक्ष मालूम हो जाती है कि अमेरिका के प्राचीन निवासी किन देवी-देवताओं की पूजा करते थे, कैसे घरो मे रहा करते थे, किस प्रकार किन चीजों की मदद से पहनने के वस्त्र बनाते थे। उनकी नौकाएँ, उनके खाने-पीने का सामान, उनके देवालय, उनके युद्ध के शस्त्र—सब चीजें बहुत ही अच्छी तरह दिखाई गई हैं।

सक्षम अथवा सक्षम प्राणी ही संसार में जारी रहते हैं, इस सिद्धान्त की पुष्टि इन दृश्यों को देखने से हो जाती है। जब हमने इन चीजों को देखा, तब तत्काल हम यह विचार हो आया कि क्या भारत वासियों का नाम, उनकी चीजें, उनका इतिहास आदि सब कुछ नष्ट होकर किसी दिन लन्दन के अजायबघर में ही तो न रह जायगा।

इस अजायबघर के मध्य में कोलम्बस की दीर्घकाय मूर्ति विराजमान है। इस जिनोआ निवासी कोलम्बस की मूर्ति को देख कर दर्शक के मन में भाँति भाँति के विचार उत्पन्न होने लगते हैं और एक अद्भुत दृश्य आँखों के सामने घूम जाता है। पुराने अमरिका और आज के अमरिका में कितना अन्तर है! यहाँ के वे प्राचीन निवासी कहाँ गए! पिछली तीन शताब्दियों में यहाँ भूमि का कैसा रूप बदला है! कहाँ यूरोप! कहाँ अमरिका! हजारों कोस का अन्तर! भारत वर्ष की तलाश में एक पुरुष भूल से इधर आ निकलता है। उसका आना क्या है, यमराज के आने का सन्देश है! हजारों वर्षों से रहने वाले, स्वतन्त्रता से विचरने वाले, क्या पशु क्या पक्षी, क्या मनुष्य सभी तीन ही शताब्दियों के अन्दर स्वाहा हो जाते हैं! करोड़ों भैंसे अमरिका के जङ्गल में न जाने कब से आनन्द पूर्वक विचरते थे; पर आज उनका नाम निशान तक नहीं मिलता। उन सब जीवों ने क्या अपराध किया था? क्यों एक दूसरे देश में

बसने वाली जाति, जिसका कोई अधिकार इस देश पर नहीं था, आकर यहाँ के असली रहने वालों को नष्ट करने का कारण हुई ? क्या यही ईश्वरीय न्याय है ? नास्तिकता से भरे हुए ऐसे ही प्रश्न यहाँ दर्शक के मनमे उठते हैं । तत्काल एक आवाज कान मे आती है—'प्रकृति का यह अटल सिद्धान्त है कि सबसे अधिक सक्षम—सबसे अधिक योग्य ही का दुनिया मे गुजारा है ।' यदि तुम अपना अस्तित्व चाहते हो, तो अपने पास-पडोस वालों की बराबरी के बन जाओ। वही जाति अपना नाम ससार मे स्थिर रख सकती है, जो इस नियम के अनुकूल चलती है ।

इस अजायब-घर मे वनस्पति-विद्या, रसायन-विद्या, जन्तु-विद्या, विहङ्ग-विद्या, नर-शरीर-विद्या आदि भिन्न भिन्न विद्याओं के सम्बन्ध की सामग्री भी विद्यमान है । 'एक पन्थ दो काज', छुट्टी का दिन है, लोग सैर भी करें और कुछ सीखें भी । उन्नति के कैसे अच्छे मौके यहाँ के निवासियों को दिए जाते है ! बालकपन से ही खेल के बहाने यहा वाले इतनी वाकफियत हासिल कर लेते है, जो हमारे देश मे दस वर्ष स्कूल मे पढने से भी नही होती ।

अजायब-घर से बाहर निकल कर देखिए—झील के किनारे किनारे, सड़क बनी हुई है, बेंचें रक्खी हुई हैं; वहाँ स्त्री, पुरुष, बालक आनन्द से बैठे है, और हँस-खेल रहे हैं । उनके चेहरों

की दक्षिण की स्वतन्त्रता उनके माथे पर जगमगा रही है। नवयुवक अपनी प्रियतमाओं के साथ इधर से उधर, उधर से इधर, घूमते और वार्तालाप करते हुए क्या ही भले मालूम होते हैं। मिशिगन झील भी उनके इन भावों को देखकर प्रसन्न मालूम होती है। वह अपने स्वच्छ शीतल पवन के झोंकों से उन्हें आशीर्वाद सा दे रही है। जल की तरंगें छोटे छोटे बालकों को देखकर उनसे मिलने के लिए, बड़े आह्लाद से आगे बढ़ती हैं, परन्तु तत्काल ही यह सोचकर कि शायद कुछ बेअदबी न हुई हो, पीछे हट जाती हैं। इस समय भगवान् सूर्य अपने दिन के कार्य को पूर्ण कर पश्चिम की ओर गमन करते हैं।

इस अजायबघर के सिवा और भी बहुत से स्थान शिकागो निवासियों को रविवार मनाने के लिए हैं। कितने ही उद्यान ऐसे हैं, जहाँ पियानो बाजे तथा मन बहलाने के और कई सामान रक्खे रहते हैं। वहाँ जाकर लोग बैठते हैं, संगीत सुनते हैं, और आनन्द में मग्न होकर घर आते हैं।

यहाँ एक उद्यान है जिसका नाम "हम्बोल्ट पार्क" है। इसमें नहर के ढङ्ग के जल के बड़े बड़े और लम्बे कुण्ड हैं, जिनमें जल भरा रहता है और छोटी छोटी नावें पानी पर तैरा करती हैं। ये नावें खेल के लिए हैं। ग्रीष्म काल में यहाँ नावों की दौड़ होती है। रविवार के दिन इन उद्यानों का दृश्य

बहुत ही मनोहर हो जाता है। नवयुवक नौकायें खेते हुए, हँसते, खेलते, गाते, जीवन का आनन्द लेते हैं। एक एक नौका पर प्रायः एक नवयुवक और एक युवती भी रहती है। वे सहाध्यायी मित्र अथवा पति-पत्नी होते हैं। इस तरह की संगति इस देश मे बुरी नहीं मानी जाती, और न हम लोगों के देश की तरह, कभी बुरे भाव ही इन लोगों मे उत्पन्न होते हैं। यहाँ स्त्रियों की बड़ी प्रतिष्ठा है; कोई बहुत ही पतित पुरुष होगा जो उनके साथ नीच व्यवहार करेगा। ऐसे पुरुष के लिये कानून में बड़े भारी दण्ड का विधान है। प्रायः सभी उद्यानों मे ऐसे जल-कुण्ड हैं। जो स्थान जिसके निकट होता है, वह वहीं जाकर रविवार को आनन्द मनाता है।

कोई शायद पूछे कि क्या और रोज वहाँ जाना मना है? नहीं, ऐसा नहीं है। कारण यह है कि अधिकांश लोगों को सिवा रविवार के और रोज़ छुट्टी ही नहीं मिलती। इस लिये रविवार को ही इन उद्यानों मे लोग एकत्र होते हैं। रोज़ सिर्फ़ कहीं कहीं टेनिस खेलते हुए स्त्री-पुरुष दिखाई देते हैं। यह बात ग्रीष्म ऋतु की है। जाड़ों मे इन कुण्डों का पानी जम जाता है, तब यहाँ पर लोग "स्केटिंग" करते हैं। स्केटिंग एक प्रकार का खेल है। आज कल, दिसम्बर मे, स्केटिंग का समय है; क्योंकि इस समय बेहद जाड़ा पड रहा है। पर बालक-बालिकाएँ इन स्थानों में नाचती हुई दिखाई देती हैं।

लिंकन-उद्यान भी बहुत प्रसिद्ध है। इसमें अमरिका के विख्यात योद्धा वीर-वर ग्राण्ट की मूर्त्ति है। श्रद्धास्पद ग्राण्ट इस देश के इतिहास के ज्ञाता को एक भयंकर युद्ध का स्मरण कराते हैं। यह युद्ध गुलामी की प्रथा को बन्द करने के लिए आपस में हुआ था। अमरिका के उत्तर के लोग चाहते थे कि गुलामों का व्यापार बन्द हो जाय। उनका यह सिद्धान्त था कि न्याय की दृष्टि से सब आदमी बराबर हैं, जीवन और स्वतन्त्रता के स्वाभाविक नियमों में सबका हक एकसा है। वे नहीं चाहते थे कि अमरिका जैसे स्वतन्त्र देश में मनुष्य भेड़ बकरियों की तरह बिकें। इस सत्य सिद्धान्त की रक्षा के लिये एक लोमहर्षण युद्ध उत्तर और दक्षिण निवासियों में हुआ, और परिणाम में सत्य की जय हुई। शूर-वीर ग्राण्ट इस युद्ध में उत्तर वालों की ओर से सेनापति थे। वे काले हब्शियों को वैसा ही चाहते थे जैसा कि गोरे चमड़े वाले अमरिका के निवासियों को। इस महात्मा का स्मारक चिन्ह दर्शक को नया जीवन प्रदान करता है। वह उसे सूचना देता है कि किसी मनुष्य को दूसरे पर दुष्टता करने का अधिकार नहीं है, सब मनुष्य इस विषय में बराबर हैं। समाज एक यन्त्र की भाँति है मनुष्य समुदाय उसके पुरजे हैं अपनी अपनी योग्यतानुसार सब समाज के सेवक हैं, किसी से घृणा मत करो; क्या काला, क्या गोरा, क्या ऊँच जाति, क्या नीच जाति—सब एक ही पिता के पुत्र हैं।

इस उद्यान के एक भाग मे भिन्न-भिन्न प्रकार के पौधे रखे है। जो वृक्ष जिस तापमान मे जी सकता है, उसी के अनुसार यहां उसे उष्णता पहुँचाई गई है और उसकी रक्षा की गई है। उष्ण देशों के कई एक वृक्ष यहां देखने मे आते हैं। दर्शक को वनस्पति-विद्या-सम्बन्धी बहुत सी बातें यहां मालूम हो जाती है।

उद्यानों के सिवा बहुत से और भी स्थान लोगों के बैठने उठने और हँसने-खेलने के लिए है। शिकागो बहुत बड़ा नगर हैं। इससे नगर-वासियों के आराम और शुद्ध पवन की प्राप्ति के लिए, बीच बीच गलियों मे, "वनलिवर्ड" नामक विहार-स्थल है। यहां की गलियां हमारे देश की जैसी नही हैं। गलियां क्या, बाजार हैं। यहां पत्थर के मकानों के आगे, दोनों किनारों पर, पांच फुट के करीब रास्ता, सडक से ऊँचा, लोगों के चलने के लिए बना हुआ है। बीच की सडक गाडी, घोड़े, मोटर आदि के लिए हैं। खुले मकानों और चौडी सडकों के कोनों पर भी, हवा साफ़ रखने और ग़रीब आदमियों के मनोरंजन तथा लाभ के लिए थोडी थोडी दूर पर विहार-वाटिकाएँ हैं, जहां बैठने के लिए बेञ्चे रखी रहती हैं। काम से थके हुए स्त्री-पुरुष रोज सायंकाल यहां दिखाई देते हैं क्योंकि और स्थानों मे गाने, बजाने और जल विहार आदि के लिए थोडा बहुत खर्च करना पडता है, जो थोडी आमदनी के लोग नहीं

कर सकते। उनके लिए वहाँ स्टेशनों, उद्यानों और अजायब घरों में घूमने की स्वतन्त्रता है। यत्न यह किया गया है कि सब को इस देश में आनन्द प्राप्त करने का अवसर मिले। यहाँ जो धन व्यय किया जाता है, वह शारीरिक और मानसिक, दोनों प्रकार की उन्नति के लिए किया जाता है।

यह तो हुई दिन की बात, अब रात की सुनिये। यहाँ पर बहुत से नाटक घर, प्रदर्शिनियाँ और समाज हैं, जहाँ अपनी अपनी रुचि के अनुसार लोग रात को जाते हैं। शिकागो में लोग अक्सर रात को गिरजों में भी जाते हैं। वहाँ रात को भी उपदेश, गायन और हरि-कीर्तन होता है। यहाँ एक जगह श्वेत नगर नाम की है; वहाँ बहुत से लोग जाते हैं। इस जगह को श्वेत नगर इसलिये कहते हैं कि यहाँ बिजली की शुभ्र रोशनी होती है, जिससे रात को भी दिन ही सा रहता है। इसके विशाल द्वार पर बड़े मोटे मोटे बिजली के प्रकाश के अक्षरों में "दी व्हाइट सिटी" लिखा हुआ है। बिजली की महिमा यहाँ खूब ही देखने को मिलती है। स्थान स्थान पर प्रकाशमय रंग बिरंगे अक्षर चित्र बने हुए हैं, जो मिनट मिनट पर रंग बदलते हैं। इस श्वेत-नगर के भीतर अनेक मनोरंजक स्थान हैं। कहीं पर गाना हो रहा है, कहीं बड़े बड़े कमरों में नाच हो रहा है, कहीं सरकस का तमाशा है। दुनिया भर के तमाशा करने वाले यहाँ लाये जाते हैं और गरमी के दिनों में वे तीन ही चार मास में

हज़ारों रुपया कमा लेते है। यह स्थान एक कम्पनी का है उसके नौकर, सारी दुनिया मे, तमाशा करनेवालों को लाने के लिए घूमा करते है। भारतवर्ष के यदि दो तीन अच्छे पहलवान, किसी देशी कम्पनी के साथ, अमेरिका मे आवें तो हज़ारो रुपये कमा कर ले जायँ। हमारे देश मे अभी लोगों ने रुपया पैदा करने का ढंग नही सीखा। एक साधारण मनुष्य इंग्लिस्तान से आ कर, हिन्दुस्तान मे विज्ञापनों द्वारा प्रसिद्धि प्राप्त कर के, लाखों बटोर कर ले जाता है; परन्तु हमारे स्वदेश के कारीगर, पहलवान, बाजीगर, आदि कभी इस ओर आने का साहस नही करते। अमेरिका मे कुश्ती का शौक बढ रहा है। यदि इस समय कोई पहलवान थोड़ा सा रुपया खर्च करके इधर आवे, और किसी अच्छी कम्पनी की मारफत कुश्ती हो, तो लाखों रुपये के वारे न्यारे हो जायँ।

इस श्वेत नगर मे रविवार को बडा भारी मेला होता है। गाडियां स्त्री-पुरुषों से लदी हुई जाती है। हज़ारों दर्शक इकट्ठे होते हैं और रात के आठ बजे से ग्यारह या बारह बजे तक मेला रहता है। यह स्थान केवल गर्मियों मे खुलता है, क्योंकि यहां जाडों मे शीत के कारण कोई नही आता। शीत-ऋतु के लिए नगर के भीतर और अनेक स्थान है, जहां और ही तरह के मनोरंजक खेल होते हैं।

रविवार का दिन इस नगरी मे लोग इसी तरह व्यतीत

करते हैं। अब यहाँ वालों की जीवन-चर्या का मिलान यदि हम भारतवर्ष में करते हैं, तो कितना बड़ा अन्तर पाते हैं! उन तमाशों या नाटकों की बात जाने दीजिए, जिनको हममें से बहुत से अच्छा न समझें, पर और एसे कितने मनोरंजक या शिक्षा-प्रद खेल तमाशे हैं, जिनका हमारे स्वदेशी भाइयों को शौक हो? वे अपने अवकाश का—अपनी छुट्टियों को किस तरह बिताते हैं? भंग पी कर, ताश खेल कर, पतंग उड़ा कर, और व्यर्थ के बकवाद में लिप्त रह कर। बल की वे कीमत ही नहीं जानते! यद्यपि कुछ पढ़े लिखे लोग एसे हैं, जो इन बुराइयों से बचे हुए हैं; परन्तु वे लोग करोड़ों की जन-संख्या में दाल में नमक के बराबर भी नहीं। आधी संख्या हमारे देश में मूर्खा स्त्रियों की है, जिनको बाहर निकलने की आज्ञा ही नहीं! जहाँ के निवासी सैकड़े पीछे पाँच से भी कम साक्षर हैं, उन्हें दुर्व्यसनों में डूबने से भगवान् ही बचावें।

२६

अमावास्या की रात्रि

लेखक—श्रीयुत प्रेम चन्द, बी० ए०

[श्री प्रेमचन्द जी का जन्म बनारस जिले के अन्तर्गत मढ़वा गाँव में सन् १८८० मे हुआ था । आपका असली नाम धनपतराय है । पर हिन्दी पत्र-पत्रिकाओं मे आप प्रेमचन्द नाम से लिखते हैं । इस लिये अब इनका यही नाम प्रसिद्ध है । पहले आप उर्दू में लिखा करते थे । उस समय आपका उपनाम 'नवाब राय' था । आपने सन् १९१७ से हिन्दी मे लिखना आरम्भ किया है । इस समय आप हिन्दी में चोटी के उपन्यास तथा कहानी-लेखक हैं । आपकी भाषा, जोरदार, सरल और मुहावरे की होती है । आपके प्रसिद्ध उपन्यास ये हैं—

रंगभूमि, कायाकल्प, प्रेमाश्रम, निर्मला और सेवासदन। कहानियों की पुस्तकों में से मुख्य ये हैं—नवनिधि, सप्त सरोज, प्रेम प्रसून, प्रेम पूर्णिमा, प्रेम पचीसी और कर्म भूमि।

इस समय आप बनारस में "जागरण" नामक साप्ताहिक और "हंस" नामक मासिक पत्र का सम्पादन कर रहे हैं।]

[१]

दीवाली की सन्ध्या थी। श्रीनगर के घूरों और खँडहरों के भी भाग्य चमक उठे थे। कस्बे के लड़के-लड़कियाँ श्वेत थालियों में दीपक लिए मन्दिर की ओर जा रही थीं। दीपों से अधिक उनके मुखारविन्द प्रकाशमान थे। प्रत्येक गृह रोशनी से जगमगा रहा था। केवल पण्डित देवदत्त का सतधारा भवन अन्धकार में काली घटा की भाँति गम्भीर और भयङ्कर रूप में खड़ा था। गम्भीर इसलिए कि उसे अपनी उन्नति के दिन भूले न थे। भयङ्कर इसलिए कि यह जगमगाहट मानो उसे चिढ़ा रही थी। एक समय वह था जब कि ईर्ष्या भी उसे देख देखकर हाथ मलती थी, और एक समय यह है जब कि घृणा भी उस पर कटाक्ष करती है। द्वार पर द्वारपाल की जगह अब मदार और एरण्ड के वृक्ष खड़े थे। दीवानखाने में एक मतङ्ग साँड़ अकड़ता था। ऊपर के घरों में जहाँ सुन्दर रमणियाँ मनोहारी सङ्गीत गाती थीं, वहाँ आज जङ्गली कबूतरों के मधुर स्वर सुनाई देते थे। किसी अँगरेजी मदरसे के विद्यार्थी के

आचरण की भाँति उसकी जड़ें हिल गई थीं और उस की दीवारें किसी विधवा स्त्री के हृदय की भाँति विदीर्ण हो रही थीं। पर समय को हम कुछ कह नहीं सकते। समय की निन्दा व्यर्थ और भूल है। यह मूर्खता और अदूरदर्शिता का फल था।

अमावास्या की रात्रि थी। प्रकाश से पराजित हो कर मानो अन्धकार ने उसी विशाल भवन में शरण ली थी। पण्डित देवदत्त अपने अर्द्ध अन्धकार वाले कमरे में मौन परन्तु चिन्ता में निमग्न थे। आज एक महीने से उनकी पत्नी 'गिरिजा' की ज़िन्दगी को निर्दय काल ने खिलवाड़ बना लिया है। पण्डित जी दरिद्रता और दुःख को भुगतने के लिए तैयार थे। भाग्य का भरोसा उन्हें धैर्य बँधाता था। किन्तु यह नई विपत्ति सहनशक्ति से बाहर थी। बेचारे दिन के दिन गिरिजा के सिरहाने बैठ कर उसके मुरझाये हुए मुख को देखकर कुढ़ते और रोते थे। गिरिजा जब अपने जीवन से निराश होकर रोती तो वह उसे समझाते—गिरिजा, रोओ मत, तुम शीघ्र अच्छी हो जाओगी।

पण्डित देवदत्त के पूर्वजों का कारोबार बहुत विस्तृत था। वे लेन देन किया करते थे। अधिकतर उनके व्यवहार बड़े बड़े चकलेदारों और रजवाड़ों के साथ थे। उस समय ईमान इतना सस्ता नहीं बिकता था। सादे पत्रों पर लाखों की बातें हो जाती थीं। मगर सन् ५७ ईसवी के बलवे ने कितनी ही रिया-

सत्ता और राज्यों को मिटा दिया और उनके साथ निवारियों का यह अन्न धनपूर्ण परिवार भी मिट्टी में मिल गया। खजाना लुट गया, बही-खाते पंसारियों के काम आये। जब कुछ शान्ति हुई, रियासतें फिर सँभलीं तो समय पलट चुका था। वचन लेख के अधीन हो रहा था, तथा लेख में भी सादे और रंगीन का भेद होने लगा था।

जब देवदत्त ने होश सँभाला तब उनके पास इस खँडहर के अतिरिक्त और कोई सम्पत्ति न थी। अब निर्वाह के लिए कोई उपाय न था। कृषि में परिश्रम और कष्ट था। वाणिज्य के लिए धन और बुद्धि की आवश्यकता थी। विद्या भी ऐसी नहीं थी कि कहीं नौकरी करते। परिवार की प्रतिष्ठा दान लेने में बाधक थी। अस्तु, साल में दो तीन बार अपने पुराने व्यवहारियों के घर बिन बुलाये पाहुनों की भाँति जाते और जो कुछ विदाई तथा मार्ग-व्यय पाते उसी पर गुजरान करते। पैतृक प्रतिष्ठा का चिह्न यदि कुछ शेष था तो वह पुरानी चिट्ठी पत्रियों का ढेर तथा हुंडियों का पुलिन्दा, जिनकी स्याही भी उनके मन्द भाग्य की भाँति फीकी पड़ गई थी। पण्डित देवदत्त उन्हें प्राण से भी अधिक प्रिय समझते थे। दिवाली के दिन जब घर घर लक्ष्मी की पूजा होती है पण्डितजी ठाट बाट से इन पुलिन्दों की पूजा करते। लक्ष्मी न सही, लक्ष्मी का स्मारक चिह्न ही सही। दूज का दिन पण्डितजी की प्रतिष्ठा के श्राद्ध का दिन था। इसे चाहे विडम्बना कहो, चाहे मूर्खता, परन्तु

श्रीमान् पण्डित महाशय को उन पत्रों पर बड़ा अभिमान था। जब गांव में कोई विवाद छिड़ जाता तो यह सड़े गले कागज़ों की सेना ही बहुत काम कर जाती और प्रतिवादी शत्रु को हार माननी पड़ती। यदि सत्तर पीढ़ियों से शस्त्र की सूरत न देखने पर भी लोग क्षत्रिय होने का अभिमान करते हैं तो पण्डित देवदत्त का उन लेखों पर अभिमान करना अनुचित नहीं कहा जा सकता जिनमे ७० लाख रुपयों की रकम छिपी हुई थी।

[२]

वही अमावास्या की रात्रि थी। किन्तु दीपमालिका अपनी अल्प जीवनी समाप्त कर चुकी थी। चारों ओर जुवारियों के लिए यह शकुन की रात्रि थी, क्योंकि आज की हार साल भर की हार होती है। लक्ष्मी के आगमन की धूम थी। कौड़ियो पर अशर्फियां लुट रही थीं। भट्टियों मे शराब के बदले पानी बिक रहा था। पण्डित देवदत्त के अतिरिक्त कस्बा मे कोई ऐसा मनुष्य नहीं था, जो दूसरों की कमाई समेटने की धुन मे न हो। आज भोर ही से गिरिजा की अवस्था शोचनीय थी। विषम ज्वर उसे एक एक क्षण मे मूर्छित कर रहा था। एकाएक उसने चौंक कर आंखें खोलीं और अत्यन्त क्षीण स्वर मे कहा–आज तो दीवाली है।

देवदत्त ऐसा निराश हो रहा था कि गिरिजा को चैतन्य

देख कर भी उसे आनन्द नहीं हुआ। सोना—हाँ, आज दीवाली है। गिरिजा ने आँसू भरी दृष्टि से इधर उधर देख कर कहा—हमारे घर में क्या दीप न जलेंगे ?

देवदत्त फूट फूट कर रोने लगा। गिरिजा ने फिर उसी स्वर में कहा—देखो, आज बरस बरस के दिन घर अँधेरा रह गया। मुझे उठा दो, मैं भी अपने घर में दीप जलाऊँगी।

ये बातें देवदत्त के हृदय में चुभी जाती थीं। मनुष्य की अन्तिम घड़ी लालसाओं और भावनाओं में व्यतीत होती है।

इस नगर में लाला शङ्करदास अच्छे प्रसिद्ध वैद्य थे। वे अपने प्राण-सञ्जीवन औषधालय में दवाओं के स्थान पर छापने का प्रेस रक्खे हुए थे। दवाइयाँ कम बनती थीं किन्तु इश्तहार अधिक प्रकाशित होते थे।

वे कहा करते थे कि बीमारी केवल रईसों का ढकोसला है और पोलिटिकल एकानामी (अर्थशास्त्र) के इस विलास-पदार्थ से जितना अधिक सम्भव हो टैक्स लेना चाहिए। यदि कोई निर्धन है तो हो। यदि कोई मरता है तो मरे। उसे क्या अधिकार है कि वह बीमार पड़े और मुफ्त में दवा कराये ? भारतवर्ष की यह दशा अधिकतर मुफ्त दवा कराने से हुई है। इसने मनुष्यों को असावधान और बलहीन बना दिया है। देवदत्त महीने भर से नित्य उनके निकट दवा लेने आता था। परन्तु वैद्यजी कभी उसकी ओर इतना ध्यान नहीं देते थे

कि वह अपनी शोचनीय दशा प्रकट कर सके। वैद्य जी के हृदयके कोमल भाग तक पहुँचने के लिए देवदत्त ने बहुत कुछ हाथ-पैर चलाए। वह आंखों मे आँसू भरे आता, किन्तु वैद्य जी का हृदय ठोस था। उसमे कोमल भाग था ही नही।

वही अमावास्या की डरावनी रात थी। गगन-मण्डल मे तारे आधी रात के बीतने पर और भी अधिक प्रकाशित हो रहे थे, मानो श्रीनगर की बुझी हुई दीपावली पर कटाक्षयुक्त आनन्द के साथ मुसकरा रहे थे। देवदत्त एक बेचैनी की दशा मे गिरिजा के सिरहाने से उठे और वैद्य जी के मकान की ओर चले। वे जानते थे कि लालाजी बिना फीस लिए कदापि नहीं आएँगे, किन्तु हताश होने पर भी आशा पीछा नहीं छोडती। देवदत्त क़दम आगे बढाते चले जाते थे।

[३]

हकीम जी उस समय अपने 'रामबाण बिन्दु' का विज्ञापन लिखने मे व्यस्त थे। उस विज्ञापन की भाव-प्रद भाषा तथा आकर्षण-शक्ति को देख कर कह नहीं सकते कि वे वैद्य-शिरोमणि थे या सुलेखक विद्यावारिधि।

पाठक, आप उनके उर्दू विज्ञापन का साक्षात दर्शन कर लें—"नाज़रीन! आप जानते हैं कि मैं कौन हूं? आपका ज़र्द चेहरा, आपका तने लाग़िर, आपका जरा सी मेहनत से बेदम हो जाना

आपका अज्ञात दुनिया से महरूम रहना, आपकी नाना तारीक
यह सब इस सवाल का नफी में जवाब देते हैं। सुनिए,
कौन हूँ। मैं वह शख्स हूँ जिसने इमराज़ इन्सानी का पदुर दुनि
से गायब कर देने का बीड़ा उठाया है। जिसने इश्तिहारबाज़,
फरोश गन्दुमनुमा बने हुए हकीमों को बेख व बुनसे खोद क
दुनिया को पाक कर देने का अज़्म बिलजज़्म कर लिया है।
वह हैरत अंगेज़ इन्सान अब्दुलनियाज़ हूँ जो नाशाद को दिलशा
नामुराद को बामुराद, भगोड़े को दिलेर, गीदड़ को श
बनाता है। और यह किसी जादू से नहीं, मंत्र से नहीं, यह मे
ईजाद करदा 'अमृत बिन्दु' के अदना करिश्मे हैं। अमृतबिन
क्या है इसे कुछ मैं ही जानता हूँ। महर्षि अगस्त्य ने धन्वन्तरि
के कान में इसका नुसखा बतलाया था। जिस वक्त आप शीशी
पारसल खोलेंगे, आप पर उसकी हकीकत रौशन हो जायगी
यह आबे हयात है। यह मर्दानगी का जौहर, फरजानगी क
अक्सीर, अक्ल का मुरब्बा, और ज़ेहन का साक़ल है। अगर बर्स
की मुशायरा बाज़ी ने भी आपको शायर नहीं बनाया, अग
शानान रात के रटन्त पर भी आप इम्तहान में कामयाब नहीं ह
सके, अगर दल्लालों की खुशामद और मुवक्किलों की नाज़ बदार
के बावजूद भी आप अहाते अदालत में भूके कुत्ते की तरह चक्क
लगाते फिरते हैं, अगर आप गला फाड़ फाड़ चीखने और मज
पर हाथ-पैर पटकने पर भी अपनी तक़रीर से कोई असर पैदा

नहीं कर सकते, तो आप अमृतबिन्दु का इस्तेमाल कीजिए। इसका सब से बड़ा फायदा जो पहले ही दिन मालूम हो जायगा यह है कि आपकी आँखें खुल जाएँगी और आप फिर कभी इश्तिहारबाज़ हकीमों के दामे फरेब मे न फँसेंगे।"

वैद्यजी इस विज्ञापन को समाप्त कर उच्च स्वर मे पढ रहे थे। उनके नेत्रों मे उचित अभिमान और आशा झलक रही थी कि इतने मे देवदत्त ने बाहर से आवाज़ दी। वैद्यजी बहुत खुश हुए। रात के समय उनकी फीस दुगुनी थी। लालटेन लिए हुए बाहर निकले तो देवदत्त रोता हुआ उनके पैरों से लिपट गया और बोला—वैद्यजी, इस समय मुझ पर दया कीजिए। गिरिजा अब कोई सायत की पाहुनी है। अब आप ही उसे बचा सकते हैं। यों तो मेरे भाग्य मे जो लिखा है वही होगा. किन्तु इस समय तनिक चल कर आप देख लें तो मेरे दिल की दाह मिट जायगी। मुझे धैर्य हो जायगा कि उसके लिए मुझ से जो कुछ हो सकता था मैं ने किया। परमात्मा जानता है कि मैं इस योग्य नहीं हूँ कि आप की कुछ सेवा कर सकूँ, किन्तु जब तक जीऊँगा आपका यश गाऊँगा और आपके इशारों का गुलाम बना रहूँगा।

हकीम जी को पहले कुछ तरस आया किन्तु यह जुगनू की चमक थी जो शीघ्र स्वार्थ के विशाल अन्धकार मे विलीन हो गई।

[४]

घनी अमावास्या की रात्रि थी। वृक्षों पर भी सन्नाटा छा गया था। जीतने वाले अपने बच्चों को नींद से जगा जगा कर इनाम देते थे। हारने वाले अपनी रुष्ट और क्रोधित स्त्रियों से क्षमा के लिए प्रार्थना कर रहे थे। इतने में घण्टों के लगातार शब्द वायु और अन्धकार को चीरते हुए कान में आने लगे। उनकी सुहावनी ध्वनि इस निस्तब्ध अवस्था में अत्यन्त भली प्रतीत होती थी। यह शब्द समीप होते गये और अन्त में पण्डित देवदत्त के समीप आकर उसके खँडहरों में डूब गये। पण्डित जी उस समय निराशा के अथाह समुद्र में गोते खा रहे थे। शोक में वे इस योग्य भी नहीं थे कि प्राणों से भी अधिक प्यारी गिरिजा की दवा-दरपन कर सकें। क्या करें? इस निष्ठुर वैद्य को यहाँ कैसे लावें? जालिम! मैं सारी उमर तेरी गुलामी करता। तेरे इश्तहार छापता। तेरी दवाइयाँ कूटता। आज पण्डित जी को यह ज्ञानमय भान हुआ है कि सत्तर लाख की चिट्ठी पत्रियाँ इतनी कौड़ियों के मोल की भी नहीं। पैतृक प्रतिष्ठा का अहंकार अब आँखों से दूर हो गया। उन्होंने उस मखमली थैले को सन्दूक से बाहर निकाला और उन चिट्ठी-पत्रियों को जो बाप-दादा की कमाई का शेषांश थीं और प्रतिष्ठा की भाँति जिनकी रक्षा की जाती थी, वे एक एक करके दीपक को अर्पण करने लगे।

जिस तरह सुख और आनन्द से पालित शरीर चिता की भेंट हो जाता है, उसी प्रकार यह कागज़ी पुतलियां भी उस प्रज्वलित दीया के धधकते हुए मुंह का ग्रास बनती थीं। इतने में किसी ने बाहर से पण्डित जी को पुकारा। उन्होंने चौंक कर सिर उठाया। वे नींद से जागे और अँधेरे में टटोलते हुए दरवाज़े तक आये तो देखा कि कई आदमी हाथ में मशाल लिये हुए खड़े हैं और एक हाथी अपने सूँड से उन एरण्ड के वृक्षों को उखाड़ रहा है, जो द्वार पर द्वारपालों की भांति खड़े थे। हाथी पर एक युवक बैठा हुआ है, जिसके सिर पर केसरिया रङ्ग की रेशमी पाग है। माथे पर अर्द्ध चन्द्राकार चन्दन, भाले की तरह तनी हुई नोकदार मोंछें, मुखारविन्द से प्रभाव और प्रकाश टपकता हुआ, कोई सरदार मालूम पड़ता था। उसका कलीदार अँगरखा और चुनावदार पैजामा, कमर में लटकती हुई तलवार, और गर्दन में सुनहरे कंठे और जंजीर, उसके सजीले शरीर पर अत्यन्त शोभा पा रहे थे। पण्डित जी को देखते ही उसने रकाब पर पैर रक्खा और नीचे उतर कर उनकी वन्दना की। उसके इस विनीत भाव से कुछ लज्जित हो कर पण्डित जी बोले—आपका आगमन कहां से हुआ?

नवयुवक ने बड़े नम्र शब्दों में जवाब दिया। उसके चेहरे से भलमनसाहत बरसती थी—मैं आपका पुराना सेवक हूं। दास का घर राजनगर में है। मैं वहां का जागीरदार हूं। मेरे पूर्वजों

पर आपके पूर्वजों ने बड़े अनुग्रह किये हैं। मेरी इस समय जो कुछ प्रतिष्ठा तथा सम्पदा है सब आपके पूर्वजों की कृपा और दया का परिणाम है। मैंने अपने अनेक स्वजनों से आपका नाम सुना था और मुझे बहुत दिनों से आपके दर्शनों की आकांक्षा थी। आज वह सुअवसर भी मिल गया। अब मेरा जन्म सफल हुआ।

पण्डित दयादत्त की आँखों में आँसू भर आये। पैतृक प्रतिष्ठा का अभिमान उनके हृदय का कोमल भाग था।

वह दीनता जो उनके मुख पर छाई हुई थी थोड़ी देर के लिए विदा हो गई। वे गम्भीर भाव धारण करके बोले—यह आपका अनुग्रह है जो ऐसा कहते हैं। नहीं तो मुझ जैसे कपूत में तो इतनी भी योग्यता नहीं है जो अपने को उन लोगों की सन्तति कह सकूँ। इतने में नौकर ने आँगन में फर्श बिछा दिया। दोनों आदमी उस पर बैठे और बातें होने लगीं वे बातें जिनका प्रत्येक शब्द पण्डित जी के मुख को इस तरह प्रफुल्लित कर रहा था जिस तरह प्रातःकाल की वायु फूलों को खिला देती है। पंडित जी के पितामह ने नवयुवक ठाकुर के पितामह को पच्चीस सहस्र रुपये कर्ज दिये थे। ठाकुर अब गया में जाकर अपने पूर्वजों का श्राद्ध करना चाहता था, इस लिए जरूरी था कि उसके जिम्मे जो कुछ ऋण हो उसकी एक एक कौड़ी चुका दी जाय। ठाकुर को पुराने बही-खाते में यह ऋण दिखाई दिया। पच्चीस

के अब पचहत्तर हज़ार हो चुके थे। वही ऋण चुका देने के लिए ठाकुर २०० मील से आया था। धर्म ही वह शक्ति है जो अन्तः-करण मे ओजस्वी विचारों को पैदा करती है। हां, इस विचार को कार्य मे लाने के लिए एक पवित्र और बलवान् आत्मा की आवश्यकता है। नही तो वे ही विचार क्रूर और पापमय होजाते हैं। अन्त मे ठाकुर ने पूछा—आपके पास तो वे चिट्ठियां होगी?

देवदत्त का दिल बैठ गया। वे सँभल कर बोले—सम्भवतः हों, कुछ कह नहीं सकते। ठाकुर ने लापरवाही से कहा—ढूँढिए, यदि मिल जायँ तो हम लेते जायँगे।

पंडित देवदत्त उठे। लेकिन हृदय ठण्डा हो रहा था। शंका होने लगी कि कहीं भाग्य हरे बाग़ न दिखा रहा हो। कौन जाने वह पुर्जा जलकर राख हो गया या नही। यह भी तो नहीं मालूम कि वह पहले भी था या नही। यदि न मिला तो रुपये कौन देता है। शोक! दूध का प्याला सामने आकर हाथ से छूटा जाता है। हे भगवन्! वह पत्री मिल जाय। हमने अनेक कष्ट पाये है। अब हम पर दया करो। इस प्रकार आशा और निराशा की दशा में देवदत्त भीतर गए और दीया के टिम-टिमाते हुए प्रकाश मे बचे हुए पत्रों को उलट पुलट कर देखने लगे। वे उछल पडे और उमङ्ग मे भरे हुए पागलों की भांति आनन्द की अवस्था मे दो तीन बार कूदे। तब दौड़ कर गिरिजा को गले से लगा लिया, और बोले—प्यारी, यदि

ईश्वर ने चाहा तो तू अब तर जायगी। इस उन्मत्तता में उन्हें एकदम यह नहीं जान पड़ा कि 'गिरिजा' तो अब यहाँ नहीं है, केवल उसकी लाश है।

देवदत्त ने पत्री को उठा लिया और द्वार तक वे इस तेजी से आये मानों पैरों में पर लग गये हैं। परन्तु यहाँ उन्होंने अपने को रोका और हृदय में आनन्द की उमड़ती हुई तरंग को रोक कर कहा—यह लीजिए, यह पत्री मिल गई। संयोग की बात है, नहीं तो सत्तर लाख के कागज दीमकों के आहार बन गये।

आकस्मिक सफलता में कभी कभी सन्देह बाधा डालता है। जब ठाकुर ने उस पत्री के लेने को हाथ बढ़ाया तो देवदत्त को सन्देह हुआ कि कहीं वह उसे फाड़ कर फेंक न दे। यद्यपि यह सन्देह निरर्थक था, किन्तु मनुष्य कमजोरियों का पुतला है। ठाकुर ने उनके मनके भाव को ताड़ लिया। उसने बेपरवाही से पत्री को लिया और मशाल के प्रकाश में देख कर कहा—अब मुझे पूर्ण विश्वास हुआ। यह लीजिये, आपका रुपया आप के समक्ष है। आशीर्वाद दीजिये कि मेरे पूर्वजों की मुक्ति हो जाय।

यह कह कर उसने अपनी कमर से एक थैला निकाला और उसमें से एक एक हजार के पचहत्तर नोट निकाल कर देवदत्त को दे दिये। पण्डित जी का हृदय बड़े वेग से धड़क रहा था। नाड़ी तीव्र गति से कूद रही थी। उन्होंने चारों ओर

चौकन्नी दृष्टि से देखा कि कहीं कोई दूसरा तो नहीं खड़ा है और तब कांपते हुए हाथों से नोटों को ले लिया। अपनी उच्चता प्रकट करने की व्यर्थ चेष्टा में उन्होंने नोटों की गणना भी नहीं की। केवल उड़ती हुई दृष्टि से देखकर उन्हें समेटा और जेब में डाल दिया। नंगे सिर, नंगे बदन, आंखें लाल, डरावनी सूरत, कागज़ का एक पुलिन्दा लिये दौड़ते हुए आये और औषधालय के द्वार पर इतने ज़ोर से हांक लगाने लगे कि वैद्य जी चौंक पड़े और कहार को पुकार कर बोले कि—दरवाज़ा खोल दे। ये महात्मा बड़ी रात गये किसी बिरादरी की पंचायत से लौटे थे। उन्हें दीर्घ निद्रा का रोग था, जो वैद्य जी के लगातार भाषण और फटकार की ओषधियों से भी कम न होता था। आप ऐंठते हुए उठे और किवाड़ खोल कर हुक्का-चिलम की चिन्ता में आग ढूंढने चले गये। हकीमजी उठने की चेष्टा कर रहे थे कि सहसा देवदत्त उनके सम्मुख आकर खड़े हो गये और नोटों का पुलिन्दा उनके आगे पटक कर बोले—वैद्यजी, ये पचहत्तर हज़ार के नोट हैं। यह आपका पुरस्कार और आपकी फ़ीस है। आप चल कर गिरिजा को देख लीजिये, और ऐसा कुछ कीजिये कि वह केवल एक बार आंखें खोल दे। यह उसकी एक दृष्टि पर न्योछावर है—केवल एक दृष्टि पर! आपको रुपये मनुष्य की जान से प्यारे हैं। वे आपके समक्ष हैं, मुझे गिरिजाकी एक एक चितवन इन रुपयों से कई

सुना प्यारी है।

वैद्यजी ने लज्जामय सहानुभूति से देवदत्त की ओर देखा और केवल इतना कहा—मुझे अत्यन्त शोक है, मैं सदैव के लिए तुम्हारा अपराधी हूँ। किन्तु तुमने मुझे शिक्षा दे दी। ईश्वर ने चाहा तो अब ऐसी भूल कदापि न होगी। मुझे शोक है। सचमुच महाशोक है।

ये बातें वैद्य जी के अन्तःकरण से निकली थीं।

❖

२७

रामायण का महत्व

हिन्दी देश और भारतवर्ष के लिए रामायण को एकता के साधनों मे गिनना चाहिए। उत्तर से दक्षिण और पूर्व से पश्चिम तक प्रत्येक हिन्दू-बालक और वृद्ध रामायण के नाम से परिचित है। श्रीरामचन्द्र जी के जीवन-चरित को प्राचीन भारत-वर्ष के नेताओं ने ऐसा महत्व-पूर्ण समझा कि वर्ष मे एक नहीं, अपितु दो दिन उनके नाम के स्मरण के लिये नियत किए गए—राम-नवमी और विजय-दशमी! मेला मनाने की प्रथा प्रचलित की गई, और रामायण की कथा सुनाने की रीति जारी की गई। अस्तु, रामायण को हम अपने राष्ट्रीय जीवन का स्तंभ कह सकते हैं। रामायण के प्रचार में जो कुशलता

प्राचीन भारत के धार्मिक और राष्ट्रीय नेताओं ने दिखाई, यह आश्चर्य जनक है। करोड़ों मनुष्यों में एक नाम के प्रेम को सफलता पूर्वक ऐसा दृढ़ कर देना कोई सहज काम न था। इस प्रचार के लिए कई सौ वर्षों का आन्दोलन आवश्यक हुआ होगा। उस आन्दोलन का इतिहास हम से छिपा हुआ है। परन्तु हम अमेरिका में देखते हैं कि आज कल वाशिंगटन और लिंकन के उत्सव मनाए जाते हैं। लिंकन का उत्सव तो एक बिलकुल नई संस्था का काम है। इसी प्रकार हिन्दू जाति के प्राचीन नेताओं ने विशेषतः श्रीरामचन्द्र जी के जीवन के वर्णन को राष्ट्रीय उन्नति का साधन समझा, बड़े परिश्रम और उत्साह से सारे देश में इस संस्था की स्थापना की। हम इस विशाल मनोहर वृक्ष को देखते हैं पर जड़ें हमारी आँखों से छिपी हुई हैं। हिन्दी देश के लिए तो रामायण-काव्य ऐसा है जैसा मछली के लिए पानी। सोते जागते उठते-बैठते, घर में, बाजार में, हम राम-नाम ही सुनते हैं। हिन्दी देश के हिन्दुओं का सामाजिक जीवन राम-नाम की सुगंधि से महक रहा है।

मैं अब यह पूछना चाहता हूँ कि प्राचीन भारत के बुद्धिमान् और दूरदर्शी राष्ट्रीय नेताओं ने राम-चरित और रामायण को क्यों ऐसी ऊँची पदवी दी? उन का क्या विचार था और उनको रामायण के द्वारा क्या काम सिद्ध करना था? आज कल भी रामायण हमारे लिये किस प्रकार शिक्षाप्रद है?

राष्ट्रीय आंदोलन की सफलता के लिये रामायण का प्रचार सदा आवश्यक रहेगा।

पहले तो मैं यह जताना चाहता हूँ कि बहुत से हिन्दू इस जातीय अवनति के दिनों मे रामायण का वास्तविक अभिप्राय ही भूल गए हैं। इसके विपरीत विभिन्न धार्मिक प्रचारकों ने राम-नाम अपने सम्प्रदायो के लिए लाभ उठाने का प्रयत्न किया है। हिन्दू शायद रामायण की महिमा इसमे समझते है, कि ईश्वर अथवा विष्णु ने अवतार लिया था, और इस अवतार का वर्णन वाल्मीकि के महाकाव्य मे है। खैर, मैं यहा सम्प्रदायो के सिद्धांतों की तुलना नही करता। परन्तु इतना कहना काफी समझता हूँ कि यदि केवल ईश्वर के किसी अवतार का वर्णन होता, तो यह काव्य और ये उत्सव भारतवर्ष के एक कोने मे दूसरे कोने तक न फैल जाते। सम्प्रदायो का क्षेत्र सदा सकुचित होता है। केवल धार्मिक दृष्टि-कोण से रामायण को पढने वाले हिन्दू कभी सच्चे भेद को नहीं जान सकते। मैं यहाँ इस प्रश्न पर वादानुवाद भी नही करता कि श्रीरामचन्द्र जी ईश्वर अथवा विष्णु का अवतार थे या नहीं। मै केवल यह पूछता हूँ कि प्राचीन भारतवर्ष मे रामायण का ऐसा महत्व क्यों माना गया ?

हम अपनी असीम अधोगति के कारण अब रामायण से प्रायः केवल कुटुम्ब- संबंधी वैयक्तिक गुणों की शिक्षा लेते हैं।

बहुत से हिन्दू कहते हैं कि श्रीरामचन्द्रजी ने अपने पिता के वचन का पालन किया, और वह अपने बाप के बड़े आज्ञाकारी पुत्र थे। पिता का आदेश मानने अथवा पिता के वचन का सदा रखने की शिक्षा भी निस्संदेह रामायण में पाई जाती है। परन्तु इसे साधारण घरेलू गुणों के आधार पर किसी देश में किसी मनुष्य ने जिय न तो उत्सव स्थापित किए और न महा काव्य लिखे गए हैं। यह रामायण का सारांश नहीं है। यह केवल आरम्भ की एक घटना है। पुन यदि पिता का वचन मानने से देश और जाति की हानि होती हो तो ऐसा आज्ञाकारी पुत्र होना भी ठीक नहीं है। पिता की आज्ञा पर सदा चलना केवल बालकों का कर्तव्य है। बीस पच्चीस वर्ष की आयु पाने पर प्रत्येक मनुष्य का कर्तव्य है कि अपने विवेक के अनुसार जीवन व्यतीत करे। भगवान् बुद्ध और हकीकतराय ने तो पिता की आज्ञा का पालन नहीं किया परन्तु हम उन का भी आदर करते हैं। अस्तु, ऐसे वैयक्तिक कुटुम्ब-सदाचार से रामायण का सार हमारी समझ में नहीं आ सकता।

हिन्दुओं में सैकड़ों वर्षों की गुलामी के कारण केवल धार्मिक और वैयक्तिक गुणों पर ध्यान देने का स्वभाव पैदा हो गया है। स्वतंत्र राष्ट्र और प्रजातंत्र शासन प्रणाली के अभाव से जाति और राजनैतिक आदर्श हमारी समझ में ठीक नहीं आते। मैं

स्वयं राजनैतिक (पोलिटीकल) पशु हूँ। इस कारण मैं अपने विचारों के अनुसार रामायण का अभिप्राय बताता हूँ।

रामायण की आधी शिक्षा तो आदि-कवि वाल्मीकि ने काव्य के आदि के श्लोकों ही मे स्पष्ट रूप से प्रकट कर दी है। वाल्मीकि जी नारद मुनि से पूछते है, कि जगत मे कई विशेष गुणों से विभूषित कोई व्यक्ति है या नही? इन गुणों के वर्णन से हमे प्राचीन हिन्दू आदर्श भी विदित हो जाता है। पीछे जो 'संन्यास', 'योग', 'तप', 'वैराग्य', 'निःस्पृहता',' परमहंसत्व' आदि के खोखले, व्यर्थ और हानिकारक आदर्श भारतवर्ष मे प्रचलित हो गए है, उन सब का रामायण और महाभारत मे नाममात्र भी पाया नहीं जाता। मुझे सस्कृत-साहित्य मे रामायण और महाभारत मे अधिक प्रेम है। मै इन दोनों पुस्तकों को भगवद्गीता, वेदान्त-सार और योग-सूत्रों से भी श्रेष्ठ मानता हूँ। रामायण और महाभारत ने हमे जीते-जागते, शिक्षित, सदाचारी, क्रियाशील शूर और सभ्य मनुष्यों का परिचय मिलता है। शरीर को पुष्ट और सुन्दर बनाकर, विद्याभ्यास कर के, विवाह रचाकर, तथा नागरिकों के सब कर्तव्यों का पालन करके जीवन को सफल करना प्राचीन हिन्दुओं का आदर्श था। पीछे तो ससार-सागर के पार उतरने की ऐसी बकवाद शुरू हो गई कि हम रामायण का आदर्श बिलकुल ही भूल गए। हम अशिक्षित, दुर्बल, भूखे, नङ्गे ब्रह्मचारी साधुओं को

अपना गुरु और नेता मानने लग गए। जिन असभ्य साधुओं में न तो शरीर का बल और सौंदर्य हो, न इतिहास, साहित्य और विज्ञान का परिचय हो, न तो राजनीति को समझने की शक्ति हो और न युद्ध में लड़ने की योग्यता हो, न तो स्त्री का प्रेम और आदर हो और न बालकों से स्नेह हो, उन्हें अब धार्मिक नेता और गुरु माना जाता है। जो मूर्ख सारी अभिलाषाओं का त्याग कर, कुटुम्ब, स्त्री, राष्ट्र, जाति पर लात मार, वन में बैठ कर, अपने शरीर को नष्ट कर, आँखें बन्द कर बैठ जाय और कभी कभी पागल भी हो जाय, वह तो मानो धर्म-रूपी हिमालय के गौरी शंकर पर्वत पर चढ़ गया! हम ऐसे ही निकम्मे, टूटे-फूटे, अधूरे अशिक्षित सन्यासियों को 'आदर्श मनुष्य' मानने लगे। परन्तु रामायण और महाभारत में इस झूठे आदर्श का लेश मात्र भी नहीं मिलता। यदि प्राचीन हिन्दुओं को ऐसी मूर्खता, नग्नता और शून्यता से प्रेम होता, तो सारे भारतवर्ष में हिन्दू सभ्यता कभी न फैलती। जब हम रामायण को पढ़ते हैं, तो प्रतीत होता है कि हम आधुनिक यूरोप में हैं। परन्तु जब हम पश्चात्कालिक धर्म ग्रन्थों को पढ़ते हैं, तो श्मशान अथवा चिकित्सालय की दुर्गन्ध आती है। रामायण का संदेश है—"कुछ करो", परन्तु "अध्यात्मविद्या' की दूसरी पुस्तकों का उपदेश है—"कुछ मत करो।' यही भेद है।

अस्तु, श्री रामचन्द्र जी में वे कौन-से गुण थे, जिनकी

नारद मुनि प्रशंसा करते हैं? मैं यहां उन महत्त्व पूर्ण-श्लोकों को उद्धृत करता हूँ—

"तपः स्वाध्यायनिरततपस्वी वाग्विदांवरम्,
नारदं परिपप्रच्छ वाल्मीकिर्मुनि पुङ्गम्।
को एस्मिन् प्रार्थितो लोके सद्गुणैर्गुणवत्तरः
धर्मज्ञश्च कृतज्ञश्च सत्यवाक्यो दृढव्रतः।
उदाराचारसम्पन्नः सर्वभूत हिते रतः;
वीर्यवांश्च वदान्यश्च कश्चापि प्रियदर्शनः।
जितक्रोधो महान् कश्च धृतिमान् कोऽनसूयकः;
सजातरोषात् कस्माच्च देवता अपि विभ्येति।
क उदारः समर्थश्च त्रैलोक्यस्यापि रक्षणे,
कः प्रजानुग्रहरतः को निधिर्गुणसम्पदाम्।
समग्रा रूपिणी लक्ष्मीः कमेकं संश्रिता नरम्,
अनिलानलसूर्येन्दुशक्रोपेन्द्रसमश्च कः।
एतदिच्छाम्यहं श्रोतुं त्वत्तो नारद तत्त्वतः,
देवर्षे त्वं समर्थोऽसि ज्ञातुमेवंविधं नरम्।
कालत्रयज्ञस्तच्छ्रुत्वा वाल्मीकेर्नारदो वचः
श्रूयतामित्युपामन्त्र्य तमृषिं प्रत्यभाषत।
यान्यो दुर्लभाश्चैव त्वयैते कीर्तिता गुणाः;
एकेनहि नृलोकेऽस्मिन् गुणा एते सुदुर्लभाः।

देवेष्वपि न पश्यामि कश्चिदेभिर्गुणैर्युतम्।
श्रूयतां तु गुणैरेभिर्यो युक्तो नरचन्द्रमाः।

अर्थात्, वक्ताओं में श्रेष्ठ, तप और स्वाध्याय में संलग्न, तपस्वी, मुनि श्रेष्ठ वाल्मीकि ने नारद से पूछा कि इस संसार में सद्गुणों से अलंकृत, गुणियों में श्रेष्ठ, धर्मात्मा, कृति, सत्यवादी, दृढ़व्रत कौन कहा जाता है? उत्तम आचार से कौन संपन्न है, सब प्राणियों के हित में कौन रत है, कौन धीर, उदार और सुन्दर है? वह महान् व्यक्ति कौन है, जिसने क्रोध को जीत लिया है, धैर्यवान् है, जो निष्कलंक है तथा जिसके क्रोध उत्पन्न होने पर देवता भी डरते हैं? कौन उदार है, त्रैलोक्य की भी रक्षा करने में समर्थ है, कौन प्रजा हित में रत है, सब गुणों और संपदाओं का भाण्डार है? किस एक व्यक्ति में लक्ष्मी समग्र रूप से आश्रित है, और कौन अग्नि, वायु, सूर्य, चन्द्र, इन्द्र और उपेन्द्र के समान है? हे नारद, तुमसे वास्तव में मैं यही सुनने की इच्छा करता हूँ, क्योंकि हे देवर्षि तुम्हीं इस प्रकार के व्यक्ति को जानने में समर्थ हो।

तीनों लोकों के जानने वाले नारद मुनि ने वाल्मीकि के ये वाक्य सुन कर कहा—अच्छा, सुनो। तुमने जिन गुणों का वर्णन किया, वे बहुत और दुर्लभ हैं। इतने दुर्लभ गुणों को एक मनुष्य में इस संसार में पाना बहुत कठिन है। इन गुणों से युक्त तो मैं देवताओं में भी किसी को नहीं देखता। हाँ, मनुष्यों में

चन्द्रमा के समान इन गुणों से युक्त कौन है, यह सुनो।

यहां 'निःस्पृहता', 'वैराग्य', 'परमहंसत्व' और 'तप' आदि आदर्शों का कुछ ज़िक्र नही है। अब हम समझ सकते है कि प्राचीन हिन्दुओं ने श्रीरामचन्द्र जी का इतना आदर क्यों किया था। मै इस गुण की एक नए शब्द से व्याख्या करता हूँ। वह है 'व्यक्तित्व' अथवा 'पूर्ण मनुष्यत्व'। साधारण मनुष्यों मे केवल १० फी सदी, २० फी सदी अथवा ५० फी सदी मनुष्यत्व होता है। कोई मनुष्य विद्वान् है तो प्रकृति ने उसे सुन्दर शरीर नही दिया। कोई मनुष्य सदाचारी है, पर विद्वान् नहीं है। कोई बहुत सुन्दर है, परन्तु दुष्ट स्वभाव है। इस प्रकार पूर्ण व्यक्तित्व की परीक्षा मे हम सब पूरे नहीं उतरते। कुछ-न-कुछ कमी रह जाती है। पूर्ण मनुष्यत्व के लिए शरीर का स्वास्थ्य एवं सौंदर्य, विद्या और सदाचार, तीनों अंग आवश्यक है। मनुष्य-जीवन के ये ही तीन विभाग हैं। तीनों का विकास करके मनुष्य सच्चा आनन्द पा सकता है। प्राचीन समय मे श्रीरामचन्द्र जी मे यह विशेषता देखी गई कि उन मे इन तीनों विभागों का विकास बहुत ही प्रशंसनीय था। १०० फी सदी पूर्ण मनुष्यत्व तो किसी मनुष्य को प्राप्त नहीं हो सकता, क्योंकि यह परीक्षा अत्यन्त कठिन है; पर हम यों समझ सकते है कि प्राचीन हिन्दुओं की सम्मति के अनुसार श्रीरामचन्द्र जी को इस परीक्षा मे ९० अथवा ९५ नम्बर मिले।

यह मुनि और इतिहास यह देखते थे कि इस व्यक्ति में शरीर का सौन्दर्य भी है, विद्या भी है, और सदाचार भी है। इसी कारण नारद मुनि ने कहा कि ये गुण तो बहुत और दुर्लभ भी हैं। रामायण का प्रथम उद्देश्य यही है कि 'पूर्ण व्यक्तित्व' का ज्ञान हो। यही प्राचीन भारत देश का आदर्श था।

इसके अतिरिक्त प्रत्येक मनुष्य का एक विशेष गुण भी होता है। पूर्ण व्यक्तित्व की पराकाष्ठा में श्रीरामचन्द्र जी ने एक विषय में प्रधान क्षात्र धर्म में सबसे अधिक नम्बर पाए। आजकल तो एक नपुंसक साधुओं का आदर्श मनुष्य माना जाता है जो तलवार या बन्दूक को देख कर ही घबरा जायें।

परन्तु प्राचीन भारतवर्ष का यह आदर्श न था। श्रीरामचन्द्र जी की विशेष कीर्ति तो युद्ध में वीरता के कारण ही थी—पिता के आज्ञाकारी पुत्र होने से नहीं। इस बात का प्रमाण हमें भगवद्गीता में मिलता है। ११ वें अध्याय में श्रीकृष्ण जी संसार की सब उत्तम वस्तुओं का वर्णन करके कहते हैं कि यह सब मैं ही हूँ। जिस प्रकार नदियों में गंगा, मुनियों में कपिल इत्यादि श्रेष्ठ हैं, वैसे ही इन शब्दों के साथ साथ ये शब्द भी पाए जाते हैं—"राम शस्त्रभृतामहम्'। इससे प्रत्यक्ष है कि श्रीरामचन्द्र जी को ऐसा योद्धा माना जाता था जैसे आजकल फ्रेडरिक, नेपोलियन, वाशिंगटन, मार्लबरो, अनवर पाशा आदि सेनापतियों को माना जाता है। राम का

पूर्ण महत्व घर में नहीं, नगर मे नहीं, परिपद् मे नहीं, किन्तु रणक्षेत्र मे था—"रामःशस्त्रभृतामहम्" ।

पूर्ण मनुष्यत्व के बहुत से अद्भुत गुण तो श्रीरामचन्द्र जी मे पाए जाते थे, परन्तु ऐसे वैयक्तिक गुणों के कारण भी किसी जाति ने किसी महापुरुष के लिए उत्सव नहीं मनाए, और न महाकाव्य ही लिखे हैं। महापुरुष तो बहुत हो चुके है। पर कोई जाति किसी बड़ी अनुपम राष्ट्रीय सेवा के लिए ही क्या एक महापुरुष को इस प्रकार अपने ऐतिहासिक आकाश का सूर्य्य बना सकती है? किसी व्यक्ति मे कितने ही गुण हों, पर यदि वह राष्ट्रीय सेवा करके जाति को लाभ नहीं पहुँचाता, तो इतिहास मे उस के नाम का स्मरण नहीं किया जायेगा। श्रीरामचन्द्र जी ने हिन्दू-जाति की कौन-सी बड़ी राजनैतिक सेवा की, जिसके कारण उन का ऐसा महत्व माना गया?

हम अपनी जातीय अधोगति के कारण राम के चरित्र को केवल वैयक्तिक दृष्टि-कोण से देखते हैं। हम समझते हैं कि रावण सीता जी को भगा कर ले गया और इस कारण श्रीरामचन्द्र जी सेना लेकर लंका तक जा पहुँचे। रावण सीता जी को भगा कर ले गया हो, या न ले गया हो, यह एक तुच्छ प्रश्न है। ऐसे वैयक्तिक झगड़ों के कारण इतने बड़े संग्राम नहीं होते। यह तो ऐसी ही बात है, जैसे कोई कहे कि आस्ट्रिया के राजकुमार की हत्या के कारण यूरोप का महायुद्ध वर्षों तक होता

रहा। प्राचीन ग्रीस देश के महाकाव्य 'इलियड' में भी इसी प्रकार लिखा है कि एक राजा किसी दूसरे राजा की स्त्री को बहका कर अपने साथ ले गया (परन्तु वह स्त्री स्वयं भी जाना चाहती थी) और इस कुकर्म के कारण दस वर्ष तक ऐसी लड़ाई हुई, जिसमें ग्रीस देश की सब जातियों ने भाग लिया और सैनिक भेजे। परन्तु यह कौन विश्वास कर सकता है कि ऐसे छोटे कारण का इतना बड़ा कार्य हो सकता है।

इतिहास कार्य भानमती का खेल नहीं है। बड़ी घटनाओं के बड़े कारण होते हैं। और यदि श्रीरामचन्द्रजी अपनी उस पत्नी को फिर अपने घर न लाते तो इससे सारी जाति में हीन-ता का ऐसा दृढ़ भाव क्योंकर उत्पन्न हो सकता था? यदि एक राजा दूसरे राजा से निजी बदला लेने के लिए युद्ध करता तो इससे सारे भारतवर्ष में उसकी ऐसी धूम क्योंकर मच सकती थी? यदि वह अपनी स्त्री को बचा लाए, तो अच्छी बात हुई। वह आनन्द से रहें। यह कोई राष्ट्रीय महत्ता नहीं मानी जा सकती, जिसके लिए बड़े काव्य लिखे जाएं।

राम और रावण के युद्ध के क्या कारण थे? मेरी तुच्छ सम्मति में यह राम और रावण की निजी लड़ाई नहीं, किन्तु भारतवर्ष की दूसरी अहिन्दू जातियों के साथ हिन्दू जाति का अन्तिम संग्राम था। उस समय हिन्दू जाति ने उत्तर भारत में अपनी सभ्यता स्थापित की थी। इनकी भारतवर्ष में वैसी ही

स्थिति थी, जैसी दक्षिण अफ्रीका मे आज कल बोअरों और ॲंगरेजों की है। अहिन्दू-जातियाँ दक्षिण मे थी। उस समय कई जातियाँ मिल कर प्रेम से एक देश मे नही रह सकती थी। सच पूछो, तो आज भी जगत की ऐसी ही शोचनीय दशा है। दक्षिण से हिन्दू-जातिको सदा शका रहा करती थी। यह 'दक्षिण का प्रश्न' उस समय हिन्दुओं के लिए सब से बडा राजनीतिक मसला था। रावण एक ऐसा नेता था जो दक्षिण की अहिन्दू-जातियो का संगठन करके उत्तर की ओर शायद आक्रमण करने की इच्छा भी रखता रहा हो। रावण के शरीर पर दस सिर लगा कर हमारे कवियों ने जता दिया है कि वह एक उच्च कोटि का चतुर और प्रभावशाली नेता था। मेरा मत है कि यदि वह सीता-हरण न करता, तो भी यह युद्ध अवश्य होता। हिन्दू और अहिन्दू-जातियाँ साथ मिल कर भारतवर्ष मे रह नहीं सकती थीं। हिन्दू-सभ्यता की दिग्विजय अनिवार्य थी। राम उत्तर की हिन्दू-जाति के प्रतिनिधि और नेता थे। रावण को हरा कर उन्होंने हिन्दू-सभ्यता को दक्षिण तक फैलाने के लिए एक मार्ग निकाला। फिर ब्राह्मणों और ऋषियों ने प्रचार आरभ किया। पहले तलवार जंगल को काटती है, फिर शान्ति से शिक्षा देने वाले प्रचारक और अध्यापक काम कर सकते हैं। रावण की सेना के विनाश से सारा दक्षिण हिन्दू-सभ्यता के लिए खुल

गया। भारतवर्ष की एकता में कुछ बाधा न रही। यदि आज दक्षिण भारत अहिन्दू होता, तो हम कितनी कठिनाइयों का सामना करना पड़ता। दक्षिण में शंकराचार्य, रामानुजाचार्य और दूसरे प्रसिद्ध हिन्दू नेताओं ने जन्म लिया। "पण्डिता दाक्षिणात्या"— 'दक्षिण के पंडित विख्यात हैं।'—ये शब्द भी प्रायः सुने जाते हैं। दक्षिण के मराठों ने हिन्दू-साम्राज्य स्थापित करके हिन्दू सभ्यता की रक्षा की। ये सब फल राम के युद्ध से हमें मिले। दक्षिण ने हिन्दू सभ्यता की जो सेवा की है, उसका आरम्भ वास्तव में इसी राम रावण-युद्ध से हुआ।

इस काम में राम ने जो चतुराई दिखाई, उसका वर्णन पढ़ कर तो आज कल के अँगरेज और फ्रांसीसी राजनैतिक नेताओं और सेनापतियों का ध्यान तुरन्त आ जाता है। उन्होंने दक्षिण के कई छोटे छोटे राजाओं को साम, दाम और भेद से अपने साथ मिला लिया। पर कुछ रावण के पक्षपाती भी रहे होंगे। विभीषण को फोड़ लेना बड़ी नीति का काम था। ऐसी चालें अँगरेजों ने भी भारतवर्ष में बहुत चली हैं। हम हिन्दू कहते हैं कि विभीषण एक पवित्र और धार्मिक मनुष्य था, जो रावण के पाप को देख कर भाई का विरोधी हो गया। यह हमारी पुरानी साम्राज्य-लोलुपता का दृश्य है। वास्तव में विभीषण ने लालच में राम की सहायता की, ताकि लङ्का का सिंहासन उसे मिल जाय। अँगरेजों को कई ऐसे विभीषण

भारतवर्ष और अफगानिस्तान मे मिले है। जनता मे आज तक यह कहावत चली आती है, 'घर का भेदिया लङ्कादाह।' अन्त मे विभीषण राम के साथ अयोध्या आया, जैसे इराक अथवा हेजाज़ के बादशाह अब लन्दन जाते हैं। विभीषण राम का मित्र बन कर लङ्का पर शासन करना चाहता था। यही उत्तर के हिन्दू-नेताओं की भी इच्छा थी। बहुत से साधारण हिन्दू समझते है कि श्रीरामचन्द्र जी कोई सीधे-सादे भोले मनुष्य थे। परन्तु रावण के प्रतिकूल सेना इकट्ठी करना और विभीषण को फोडना तो बडी साज़िश का जाल फैलाना था। जिस प्रकार अँगरेज अपनी सभ्यता आज एशिया और अफ्रीका मे फैला रहे हैं, उसी नीति से राम ने दक्षिण मे हिन्दुओं का प्रभाव जमाया। हिन्दू-सभ्यता के लिये एक नए युग का आरम्भ हुआ। हिन्दुओ को दक्षिण की ओर से कुछ शङ्का न रही। दूर दूर यह समाचार सुना गया कि अयोध्या के राजा ने दक्षिण का मार्ग खोल दिया है, और वहां सब हिन्दुओं को अभयदान दे दिया है। यों सब काम एकदम सिद्ध हो गए— रोटी, रक्षा, धर्म-प्रचार, सभ्यता, एकता और जाति का भविष्य।

ऐसी अद्भुत राष्ट्रीय सेवा करने वाले राजा राम के लिए वाल्मीकि ने महाकाव्य लिखा, और जाति ने दो उत्सव जारी किए। मुझे आशा है कि हमारे पण्डित रामायण के द्वारा

केवल धार्मिक और वैयक्तिक गुणों का उपदेश न देंगे, अपितु महाराज्य का वास्तविक अभिप्राय समझ कर श्रीरामचन्द्रजी की राष्ट्रीय सेवा की ओर भी नवयुवकों का ध्यान आकर्षित करेंगे। यतोरामस्ततोजय ।

अप--विवेन, स्वीडन ।

—हरदयाल

✲ ✲ ✲

२८

अध्ययन

लेखक श्रीयुत रामचन्द्र शुक्ल

[शुक्ल जी का जन्म सन् १८८८ में हुआ था। ये काशी के हिन्दू विश्वविद्यालय में अध्यापक हैं। ये बड़े गम्भीर लेखक हैं। प्रायः दुरूह विषयों पर लिखते हैं। इनकी शैली संस्कृतानुगामिनी है। इनकी भाषा शुद्ध होती है। इन के लेखों में मननशीलता रहती है। इन के लेखों को पढ़ते समय ऐसा मालूम होता है मानो कोई एकान्त में बैठे हुए अपने मन के विचार अपने ही आप चुपके से प्रकट कर रहा हो, और उसे इस बात का बिल्कुल भी परिज्ञान न हो कि मेरे आस पास कोई श्रोता भी है या नहीं।]

यदि हम चाहते हैं कि कोई ऐसा चसका लग जाए जो प्रत्येक दशा में हमारा सहारा और जीवन में हमें आनन्द और प्रसन्नता प्रदान करे, उसकी बुराइयों से हमें बचावे चाहे हमारे दिन कितने ही बुरे हों और सारा संसार हमसे रूठा हो तो हमें चाहिए कि हम पढ़ने का चसका लगावें। पर अध्ययन अपनी रुचि से जो लाभ हैं वे इतने ही नहीं हैं। जिन उद्देश्यों के साधन के लिए अध्ययन किया जाता है वे इतने ही नहीं हैं, इनसे अधिक हैं और इनसे उच्च हैं। आत्म संस्कार सम्बन्धी पुस्तकों में अध्ययन को केवल एक रुचि की बात कह देना ठीक नहीं, उसे परम कर्तव्य निश्चित करना चाहिए, क्योंकि ज्ञान की वृद्धि और बड़े धर्म के अभ्यास का अध्ययन एक प्रधान साधन है। यह ठीक है कि बहुत से ऐसे कर्मण्य पुरुष हुए हैं जो बड़े काम कर गये हैं पर वे लिखना पढ़ना नहीं जानते थे। बहुत से लोग हो गए हैं, जिनके पठन-पाठन या मानसिक शिक्षा के अभाव की पूर्ति उनकी प्रज्ञा या प्रतिभा अनुभव की अधिकता और अन्वीक्षण के अभ्यास द्वारा हो गई थी। पर पहली बात सोचने की यह है कि यदि वे पढ़े लिखे होते, उनकी जानकारी और अधिक होती तो सम्भव है वे और अधिक उत्तम कार्य कर सकते। दूसरी बात यह कि स्वाध्याय और आचरण आदि के सम्बन्ध में जो नियम ठहराए जाते हैं वे ऐसे इक्के-दुक्के लोगों के लिए नहीं जिन्हें जन-साधारण से अधिक

स्वाभाविक शक्तियाँ प्राप्त रहती हैं ।

आत्म-संस्कार के विधान का स्वाध्याय एक प्रधान अङ्ग है। हमारे लिये किसी जाति के उस साहित्य में गति प्राप्त करने का और कोई द्वार नहीं जिसमे उसके भाव और विचार व्यक्त रहते हैं, तथा उसकी उन्नति के क्रम का लेखा रहता है। मनुष्य जाति के सुख और कल्याण के विषय में संसार के प्रतिभा-संपन्न पुरुषों ने जो सिद्धान्त स्थिर किये हैं उन्हें जानने का और कोई उपाय नहीं। जो मनुष्य पढना नहीं जानता उसे भूतकाल का कुछ ज्ञान नहीं। वह जो सोचता है, विचारता है, परीक्षा करता है, वह अपनी ही छोटी सी पहुँच और अपने ही अल्प साधनों के अनुसार। उसे उस भाण्डार का पता नहीं जो न जाने कितनी पीढियों मे सञ्चित होता आया है। एक प्रसिद्ध गणितज्ञ के विषय मे कहा जाता है कि जब वह लड़का था और उसे पुस्तकों की जानकारी नहीं थी, तब उसने गणित की कुछ प्रक्रियाएँ निकाली और उन्हें यह समझ कर कागज़ पर लिख लिया कि मैं ने बड़े भारी आविष्कार किए। कुछ दिनों के उपरान्त जब वह एक बड़े पुस्तकालय मे गया तब उसे यह जान कर बड़ा दुःख हुआ कि जिन्हें वह इतने दिनों से अपने आविष्कार समझे हुए था वे साधारण छात्रों को ज्ञात, पुरानी और पिष्टपेषित बातें हैं। विद्या के प्रत्येक विभाग मे यही दशा उसकी होती है जो पढ़ता नहीं।

मनुष्य की अन्वेषणा और विचार-परम्परा ज्ञान की किस सीमा तक पहुँच चुकी है, उसकी उसे खबर नहीं रहती। उसके लिए उसके पूर्व का काल अन्धकारमय है। न जाने कितने लोग हो गए, कैसे कैसे विचार कर गए, पर उसे क्या? वह जो सामने देखता है वही जानता है, और शिक्षा के अभाव के कारण वह अच्छी तरह देख भी नहीं सकता। वह अपने ही फैलाए हुए अन्धकार में गिरता पड़ता है, टेढ़ी मेढ़ी पगडण्डियों में भटकता फिरता है, यह नहीं जानता कि मनुष्यों के श्रम से एक चौड़ा सीधा मार्ग तैयार हो चुका है।

यहाँ हम पढ़ने के दो एक अत्यन्त प्रत्यक्ष लाभों की ओर ध्यान दिलाते हैं। यह विषय जैसा उपयुक्त है वैसा ही मनोरञ्जक भी है। पहली बात तो यह है कि पढ़ने से इतिहास और काव्य में हमारी गति होती है और भूत काल की घटनाएँ हमारे हृदय में प्रत्यक्ष हो जाती हैं। इनके द्वारा हम संसार के बड़े बड़े राज्यों की उत्पत्ति, वृद्धि और पतन का पता चलता है। पढ़ने से हमें विदित होता है कि किस प्रकार मनुष्य जाति की सभ्यता का प्रवाह कभी कुछ दिनों के लिए रुकता, कभी पीछे हटता हुआ, कभी एक स्थान में बँधता, कभी दूसरे स्थान पर बहकता हुआ, कभी कुछ दिनों के लिए उथला और छिछला पड़कर फिर अनिवार्य वेग के साथ बढ़ता, गम्भीर होता हुआ, अखण्ड सतत आगे ही बढ़ता

आया है, और उसने अपनी सुख-समृद्धि रूप विजय का प्रसार किया है। हम जानते हैं कि किस प्रकार अनेक विघ्न-बाधाओं को सहकर कितने ही दिनों तक भयानक कष्टों और आपत्तियों को झेल कर जनता ने क्रमशः अपनी उन्नति की है, जिसका फल यह हुआ कि प्रत्येक सभ्य देश के ग़रीब आदमी अपने पूर्वजों की अपेक्षा अधिक सुख-चैन से हैं। हम जानते है कि किस प्रकार ससार की अनेक क्रूर और धर्मभाव-शून्य जातियों बौद्ध धर्म ग्रहण करने को तैयार हुई, किस प्रकार बौद्ध धर्म का प्रभाव और प्रचार बढ़ा, तथा उससे मनुष्यों के रहन-सहन मे कितना शुभ परिवर्तन हुआ। पुस्तकों मे हम देखते हैं कि किस प्रकार प्रताप और शक्ति एक जाति से निकल कर दूसरी जाति मे जाती है। उसमे यह भी पता लगता है कि किन किन कारणों से और किन किन दशाओं मे ऐसा होता है। भारतवर्ष पारस, काबुल, मिश्र, यूनान, रोम, जो अब नाम ही नाम को रह गये हैं, कल्पना मे जिनके प्रताप और महत्व की धुंधली छाया मात्र शेष रह गई है, पुस्तकों द्वारा हमे अपने यथार्थ रूप में प्रकट होते है, और हम उनकी यथार्थ स्थिति को समझने मे समर्थ होते हैं। इन प्राचीन देशों की ओर जब हम ध्यान देते है, तब हम दिनों के फेर को सोचते हैं, भाग्य की चञ्चलता को सोचते हैं, और व्यक्ति के जीवन-क्रम और एक जाति के भाग्य-क्रम के बीच जो विलक्षण समानता है उस पर

विचार करते हैं। पर धार्मिक उपदेशक कहता है कि 'चाहे एक व्यक्ति को लो, चाहे एक जाति को लो, सब में समृद्धि के दिन प्रायः वे ही होते हैं जिनके पीछे घोर विपत्ति के दिन आते हैं।" चाहे चन्द्रगुप्त, सिकन्दर, खुसरो तैमूर आदि बड़े बड़े विजेताओं को लो, चाहे हस्तिनापुर, पाटलिपुत्र, एथेंस, रोम आदि की ओर ध्यान दो, बात एक ही होगी। अपनी रक्षा के निश्चय ही में नाश का अंकुर रहता है, अपने पराक्रम की भावना और उसे दिखाने की वासना ही से पतन भी होता है। भाग्य के इस अचानक पलटा खाने पर हमें ध्यान देना चाहिये। पर सबसे अधिक ध्यान तो हमें इस विश्वव्यापक नियम की ओर देना चाहिए कि प्रौढ़ता और शक्ति के पीछे के दिनों में बीच में भीतर ही भीतर भोग, विलास, अनीति और दुर्व्यसन का घुन शक्ति को खाने लगता है, अधिक तड़क भड़क और शान दिखाई पड़ती है, यहाँ तक कि बाहर से देखने वालों को शक्ति की स्थिरता का अधिक विश्वास होता है। लोक में कहावत प्रसिद्ध है कि जब दीपक बुझने को होता है तब अधिक जगमगाता और भभकता है। पारसियों का प्रताप इतना प्रबल और कभी नहीं दिखाई पड़ा था जितना उस समय जब क्षयार्ष ने अपनी असंख्य सेना लेकर यूनान पर चढ़ाई की थी। पर यथार्थ में पारसी जाति की शक्ति उस समय इतनी क्षीण हो गई थी कि थोड़े ही आघात से ध्वस्त हो

सकती थी। जिस समय नैपोलियन अपनी चार लाख सेना ले कर यूरोप को विजय करने की कामना से रूस की ओर चढ़ा था, उस समय सारा यूरोप काँप उठा था, पर सच पूछिए तो भीतर ही भीतर उसके विनाश के सामान इकट्ठे हो रहे थे। औरंगजेब के राजत्व-काल मे मोगल-साम्राज्य अपने पूर्ण विस्तार को पहुँच गया था, पर इतिहासविज्ञ मात्र जानते हैं कि वह वास्तव मे उसके खण्ड खण्ड होने का आयोजन मात्र था। जिस समय महाराज पृथ्वीराज दिल्ली के राजसिंहासन पर थे उस समय राजपूतों की शक्ति पराकाष्ठा को पहुँची जान पडती थी। पर देखते ही देखते वह शक्ति विलीन हो गई और हिन्दू-साम्राज्य का अन्त हो गया।

जो विद्याभ्यासी पुरुष पढ़ता है और पुस्तकों मे प्रेम रखता है, संसार मे उसकी स्थिति चाहे कितनी ही बुरी हो उसे साथियों का अभाव नहीं खल सकता। उसकी कोठरी मे सदा ऐसे लोगों का वास रहेगा जो अमर हैं। ये उसके प्रति सहानुभूति प्रकट करने और उसे समझाने के लिए सदा प्रस्तुत रहेंगे। कवि, दार्शनिक और विद्वान जिन्हो ने अपने घोर प्रयत्नों द्वारा प्रकृति के रहस्यों का उद्घाटन करके शान्ति और सुख का तत्व निचोड़ा है, बड़े बड़े महात्मा जिन्हों ने आत्मा के गूढ रहस्यों की थाह लगाई है सदा उसको सुनने तथा उसकी शंकाओं का समाधान करने के लिये उद्यत रहेंगे।

यदि पाठक चाहें तो उनमें से प्रत्येक व्यक्ति उसको तुच्छ चिंताओं से मुक्त करके एसी भावमयी सृष्टि में ले जाने के लिए तैयार रहेगा जहाँ सांसारिक प्रपंचों का लेश नहीं। चाहे कितनी ही घोर निस्तब्धता हो उसके कानों में प्रकृति का मधुर और रहस्यपूर्ण संगीत पड़ेगा, कोमल और गंभीर वचन सुनाई देगा। कालिदास अपनी अलौकिक प्रतिभा के बल से उस मेघ के साथ अलकापुरी में पहुँचावेंगे, जहाँ—

नित पौन के पेर कितै कहुँ बादर घूमत घूमत आवत हैं।
जलबूँदन की ररवा करके अगनान पै चित्र मिटावत हैं॥
भयभीत से करि झरावन ह्वै सिमिटि तन बाहर धावत हैं।
कढ़ि जाल को बीच धुआँ रनि के बड़े चातुर येहु कहावत हैं॥

अथवा भवभूति के साथ जाकर वे उस दंडक वन में थोड़ा विश्राम पावेंगे जहाँ—

कहुँ सुन्दर घनस्याम कतहुँ धार छवि घोरा।
कहुँ गिरि खोहन गूँजि, बढ़त झरनन कर सोरा॥
सुनसान कहूँ गंभीर रन, कहुँ सोर वन पसु करत हैं।
कहुँ लपट निसरत सुप्त अजगर साँस सन तरु जरत हैं॥
गिरिखोह में कछु जल भरे कछु छुद्र खात लखात हैं।
अहिस्वेद गिरगिट पियत तहँ जब प्यास सन घबरात हैं॥

तुलसीदास उसे अपने साथ गंगा उतर कर वन की ओर

जाते हुए राम लक्ष्मण को दिखावेंगे जिनके अलौकिक सौंदर्य के कारण—

गांव गांव अस होइ अनंदू। देखि भानुकुल-कैरव-चंदू॥
जो यह समाचार सुनि पावहिं। ते नृप रानिहिं दोष लगावहिं॥

और कहेंगे—

धन्य भूमि वन पंथ पहारा। जहँ जहँ नाथ पांव तुम धारा॥
धन्य विहँग मृग काननचारी। सफल-जनम भे तुम्हहि निहारी॥
हम सब धन्य सहित परिवारा। दीख दरस भरि नयन तुम्हारा॥

जायसी उसे कलिंग देश मे ले जाकर जहाज पर चढावेगा और राजा रतनसेन के साथ सिंघल द्वीप मे उतार कर प्रेम-पथ का माधुर्य और त्याग दिखवेगा, फिर चित्तौरगढ जाकर चिता पर बैठी पद्मावती (पद्मिनी) के सतीत्व की अद्भुत दीप्ति का दृश्य सम्मुख करेगा। चन्द्र-वर दाई उसे प्राचीन काल के सूर सामंतों की आन और नोक-झोक दिखावेगा। इस प्रकार विद्याभ्यासी पुरुप बडे बडे लोगों की प्रतिभा से अपने भावों को पुष्ट करेगा। प्रत्येक युग और प्रत्येक देश के महान् पुरुप उसके सामने हाथ बांधे इस प्रकार खडे रहेंगे जिस प्रकार मन्त्र-वेत्ता के आह्वान पर देवता उपस्थित होते हैं।

पढ़ते समय हमे विद्वान् और प्रतिभाशाली पुरुषों के मनोहर वाक्यों को, उनकी चमत्कारपूर्ण उक्तियों और विचारों को मन मे संचित करते जाना चाहिये, जिसमे हमारे पास

ज्ञान का एक ऐसा प्रचुर भांडार हो जाय कि उसमें से समय समय पर जब जैसा अवसर पड़ हम गोते, उपदश और उत्साह प्राप्त कर सकें। इस प्रकार का भांडार अधिकार में रखना उपयोगी और आनन्दप्रद होता है। बहुत से एस अवसर आ पडते है जब हमारा जी टूट जाता है और हमारी शांति शिथिल हो जाती है। सोचिए तो कि एस अवसरों पर किसी एसे पुरुषार्थी महात्मा क उत्साहपूर्ण वचनों में कितना उत्साह प्राप्त होगा जिसने कठिन सकट और विघ्न सह, पर अत में अपने अध्यवसाय क बल से सिद्धि प्राप्त की। इस वचन से कितना उत्साह मिलता है—

छाडिये न हिम्मत, बिसारिए न हरि नाम,
जाही बिधि राखे राम, वही बिधि रहिये।

प्रवास में हताश या दुखी व्यक्ति को कितना धैर्य बँध सकता है। यदि उसे किसी एसे महात्मा क वचन सुनने को मिलें जो दुःख पडने पर कहता है—"ईश्वर चाहता है कि हम इस दशा में रहें, हम इस कर्तव्य को पूरा करें, हम इस व्याधि को भागें, हम इस विपत्ति में पडें हम यह अपमान और ताप सहें ईश्वर की जैसी इच्छा। ईश्वर की यही इच्छा है, हम या ससार चाहे जो कुछ कहे। उसकी इच्छा ही हमारे लिये परम धर्म है।' बहुत से अवसर आते हैं जब दूसरों की इच्छा क अनुसार कार्य करना, दूसरों की अधीनता स्वीकार ,

अभिमानी युवकों को बडा कडुवा जान पडता है। ऐसे अवसर पर यदि वे इस बात का स्मरण कर लें तो बहुत ही अच्छा है कि संसार मे जितने बड़े बडे विजयी हुए हैं वे आज्ञा मानने में वैसे ही तत्पर थे जैसे आज्ञा देने मे। बहुत से ऐसे अवसर आते हैं जब सत्य के मार्ग पर स्थित रहने की उचित दृढता हमे नहीं सूझती और हम चटपट आवेश मे आकर काम करना चाहते हैं। ऐसे अवसरो पर हमे गिरिधर की इस चेतावनी का स्मरण करना चाहिए—

बिना विचारे जो करे सो पाछे पछिताइ।
काम बिगारे आपनो जग मे होत हँसाइ॥

अस्तु, पढने का एक लाभ तो यह हुआ कि उसमे हम समय पढने पर शिक्षा, उत्साह और शांति प्राप्त कर सकते हैं। इसके अतिरिक्त उसके द्वारा हमे ऐसे ऐसे अस्त्र प्राप्त होते हैं जिन्हें लेकर जीवन के भीषण संग्राम मे हम अपनी थाप रख सकते हैं। उससे हमे उत्तम और उत्कृष्ट विचारों का आभास तथा उत्तम कार्यों की उत्तेजना मिलती है। एक बार किसी सरदार ने राजा की इच्छा के विरुद्ध कोई उचित और न्यायसंगत कार्य करने पर उसत एक दूसरे सरदार को परामर्श देते हुए कहा—"पर महाशय, राजाओं का क्रोध तो आप जानते हैं, मृत्यु सामने रक्खी है।" दूसरे सरदार ने चट उत्तर दिया—"तब मुझ मे और आप में केवल इतना ही

अनर हैं कि मैं आज मरूँगा और आप कल।" इस 'अभिप्राय गर्भित' वाक्य से किसका उत्साह नहीं बढ़ेगा, किसका चित्त दृढ़ नहीं होगा। कोई छोटा है या बड़ा, यह कोई बात नहीं। मुख्य बात यह है कि जो जिस श्रेणी में है वह उसके धर्म का पालन करता है या नहीं। साधारण विद्या-बुद्धि का मनुष्य भी यदि मर्यादा का ध्यान रखता हुआ धर्मपूर्वक अपना कार्य करता जाय तो वह उसी प्रकार सफल मनोरथ हो सकता है जिस प्रकार कोई बड़ा बुद्धिमान् मनुष्य। इस विषय पर मुझे बहुत कहने की आवश्यकता नहीं। पढ़ने का बड़ा भारी अलभ्य और मनोहर लाभ यह है कि उससे चित्त शुभ भावनाओं और प्रौढ़ विचारों से पूर्ण हो जाता है। जब कभी भी चाहे मनुष्य चुप चाप बैठ जाय और जो कुछ उसने पढ़ा हो उसका चिंतन करता हुआ उपयोगी और आनन्दप्रद विचारों की धारा में मग्न हो जाय। इस के लिए उसे किसी प्रकार के बाहरी आधार की आवश्यकता नहीं। खाली बैठे रहने के समय—जैसे रेल, नौका आदि की यात्रा में—हमारे लिए यह एक अच्छा लाभकारी मानसिक व्यायाम रक्खा हुआ है कि हम किसी अच्छे ग्रंथकार की कोई पुस्तक उठा लें और उस की बातों का उसकी चमत्कारपूर्ण उक्तियों का तथा उसके मनोहर दृष्टान्तों का हृदय में इस क्रम से धारण करते जायँ कि जब अवसर पड़े तब हम उन्हें उपस्थित कर

सकें। हृदय का यह भांडार ऐसा होगा जो कभी खाली न होगा, दिन दिन बढता जायगा। इस प्रकार हृदय में संचित किए हुए भाव और दृष्टांत मोतियों के समान होंगे जिनकी आभा कभी नष्ट वा क्षीण नहीं होती।

२९

मेघ

अनुवादक—श्रीयुत रूप नारायण पाण्डेय

[मेघ और वृष्टि नामक लेख बङ्गाल के सुप्रसिद्ध लेखक श्रीयुत बंकिमचन्द्र चट्टोपाध्याय की रचना है। श्री० रूपनारायण जी का जन्म लखनऊ के रानी कटरे में संवत् १९४१ में हुआ। आप को स्कूल शिक्षा बहुत कम मिली। आपने अपने ही परिश्रम से अपना ज्ञान बढ़ाया। आप बहुत अच्छे अनुवादक हैं। आपने बहुत सी बंगला पुस्तकों का हिन्दी में अनुवाद किया है। आप इन्दु, माधुरी, सुधा, निगमागम चन्द्रिका आदि कई पत्रिकाओं का सम्पादन भी कर चुके हैं। इनके द्वारा रचित और अनुवादित पुस्तकों की संख्या

मैं न बरसूँगा। क्यों बरसूँ ? बरसने से मुझे क्या सुख है ? बरसने से तुम्हें सुख है। परन्तु तुम्हारे सुख से मुझे क्या प्रयोजन ?

देखो, मेरे क्या यन्त्रणा नहीं है ? इस दारुण बिजली की आग को मैं सदा हृदय में धारण करता हूँ। मेरे हृदय में इस सुहासिनी सौदामिनी का उदय देख कर तुम प्रसन्न होते हो, तुम्हारी आँखें ठण्डी होती है, मगर इस बिजली के स्पर्श से ही तुम जल जाते हो। इसी आग को मैं हृदय में रखता हूँ। मेरे सिवा किस की मजाल है कि इस आग को हृदय में रक्खे।

देखो, वायु सदा मुझको अस्थिर किए रहता है। वायु को दिशा विदिशा का ज्ञान नहीं है। वह सब ओर से चलता है। जब मैं जल के बोझ से भारी रहता हूँ, तब वायु मुझे उडा नहीं सकता।

तुम डरना नहीं, मैं अभी बरसता हूँ। पृथ्वी अन्न से हरी-भरी हो उठेगी। मुझे पूजा चढाना।

मेरी गर्जना अत्यन्त भयानक है। तुम इस से डरना नहीं। जब मैं मन्द गम्भीर शब्द से भर जाता हूँ—वृक्षों के पत्तों को हिला कर, मोरों को नचा कर, मृदु गम्भीर गर्जना करता हूँ; तब इन्द्र के हृदय में पडी हुई कल्प-वृक्ष के फूलों की माला हिल उठती है, कृष्णचन्द्र के सिर पर का मोर-मुकुट डोलने लगता है, पर्वतों की कन्दराओं से प्रतिध्वनि होने लगते है

और भैया, वृत्रासुर के वध के समय वज्र की सहायता में आ मैं ने गर्जन किया था, तुम उस गर्जन को सुनने की इच्छा न करना—डर मालूम होगा।

बरसूँगा क्यों नहीं ? देखो, कितनी जूही की कलियाँ मेरे जल-कणों की आशा से ऊपर मुँह उठाए हुए हैं। उन के मुख में स्वच्छ जल मैं न सींचूँगा तो और कौन सींचेगा ?

बरसूँगा क्यों नहीं ? देखो नदियों का शरीर अभी तक पुष्ट नहीं हुआ। ये मेरी दी हुई जलराशि को पाकर परिपूर्ण हृदय में हँसती हँसती, नाचती नाचती, कलरव करती हुई अनन्त सागर की ओर चलेंगी। यह देख कर किस बरसने की इच्छा न होगी ? मैं नहीं बरसूँगा। देखो, यह पाजी ओस मेरे ही दिये पानी को कलसों में भर कर लिए जाती है, और 'आग लगे इस बरसने पर, बूँद नहीं टूटती !' कहकर मुझ को ही गालियाँ देती चली जाती है। मैं नहीं बरसूँगा।

मुझे याद है—

मन्दं मन्दं नुदति पवनश्चानुकूलो यथा त्वां।
वामश्चायं नदति मधुरं चातकस्ते सगर्वः॥

कालिदास आदि जहाँ मेरी स्तुति करने वाले हैं, वहाँ मैं क्यों न बरसूँ ? मेरी भाषा को कविवर शैली समझते थे। जब मैं कहता हूँ—'ब्रींग फ्रेश शॉवर्स फॉर दी थर्स्टिङ्ग फ्लॉवर्स', तब उस गम्भीर वाणी के मर्म को शैली जैसा कवि हुए बिना

कौन समझ सकता है ? क्या, जानते हो ! कवि मेरे ही समान हृदय मे बिजली की आग धारण करता है ! प्रतिभा भी उसके अनन्त हृदयाकाश की बिजली है ।

मैं अत्यन्त,भयङ्कर हूँ । जब अन्धकार मे मैं कृष्ण-कराल-रूप धारण करता हूं, तब मेरी टेढी भौंहों को कौन सह सकता है ? मेरे ही हृदय की यह कालाग्नि, विद्युत, तब दम दम भर पर चमकने लगती है । मरे निःश्वास से चराचर जगत् उडने लगता है । मेरे शब्द से ब्रह्मांड कांप उठता है ।

साथ ही मै मनोरम भी कैसा हूँ ! जब पश्चिम के आकाश मे सन्ध्या के समय अरुण-वर्ण सूर्य की गोद मे मिलकर मैं सुनहरी लहरों के ऊपर लहरें फैलाता हूँ, तब कौन ऐसा है जो मेरी उस क्रीडा और रङ्ग को देख कर मुग्ध न हो जाता हो । चांदनी रात को आकाश मे मन्द पवन की सवारी पर चढ़कर मनोहर-मूर्ति धारण करके मै कैसे विचरता हूँ ! सुनो, पृथ्वी पर के रहने वालो, मैं बहुत सुन्दर हूँ । तुम मुझको सुन्दर कहना ।

और एक बात है । यह कह कर अब मै बरसने जाता हूँ । पृथ्वी-तल पर एक बहुत गुणों से सम्पन्न कामिनी है । उसने मेरे मन को हर लिया है । वह पर्वतों की कन्दरा मे रहती है । उसका नाम प्रतिध्वनि है । मेरी आवाज सनते ही वह आकर

मुझसे बात चीत करने लगती है। मैं भी उसके प्रलाप से मुग्
हो रहा हूँ। तुम कोई सम्बन्ध ठीक करके उसके साथ मेर
विवाह करा सकते हो?

—[बंकिम निबंधावली से]

३०

वृष्टि

चलो नीचे उतरें, आषाढ़ आ गया, चलो नीचे उतरें। हम छोटी छोटी वर्षा की बूँदें हैं। अकेली एक जनी तो जूही की कली का मुँह भी नही धो सकती—मल्लिका के छोटे से हृदय को भी नहीं भर सकती। किन्तु हम हजारों, लाखों, करोड़ों हैं। चाहें तो पृथ्वी को डुबा दें। छोटा या क्षुद्र कौन है?

देखो, जो अकेला है, वही क्षुद्र है—वही सामान्य है। जिस में एका नहीं है, वही तुच्छ है। देखो बूँदो, कोई अकेली नीचे न उतरना—आधी ही राह मे प्रचण्ड सूर्य की किरणों से सूख जाओगी। चलो, हजारों, लाखों, करोड़ों, अर्बुदों बूँदें

नीचे उतर कर सूखी हुई पृथ्वी को भर दें।

पृथ्वी का छुआ देंगी। पवत की चोटी पर चढ़ कर, उसकी छाती पर पैर रखकर, पृथ्वी पर उतरना होगा—झरने के माग में मती की आकार धारण कर निकलेंगी। नदियों के शून्य हृदय को परिपूर्ण करके, उन्हें रूप का वस्त्र पहना कर, महानदियों में भीषण बाजा बजा कर, लहर के ऊपर लहर उठा कर हम क्रीड़ा करेंगी। आओ, सब नीचे उतरें।

कौन युद्ध करेगा—वायु! निः! वायु के कंधे पर चढ़ कर हम देश देशान्तर में घूमेंगी। हमारे इस वर्षा-युद्ध में वायु हमारा घोड़ा है। उसकी सहायता पावें तो हम जल थल एकाकार कर दें। हवा की सहायता मिलने से हम बड़े बड़े घरों को टो दम में ढा देने की शक्ति रखती हैं। वायु के कन्धे पर चढ़कर लोगों के घरों के दरवाजों के भीतर घुसती हैं। किसी की बड़े यत्न से बिछाई हुई शय्या को हम भिगो देती हैं—मानो हुई सुन्दरी के ऊपर जाकर गिर पड़ती हैं। वायु तो हमारा गुलाम है।

देखो भाई, कोई अकेले न नीचे उतरना। एका ही हमारा बल है। नहीं तो हम कुछ भी नहीं हैं। चलो। हम क्षुद्र वृष्टि बिन्दु हैं, किन्तु पृथ्वी के प्राणों की रक्षा करेंगी। खेतों में अन्न उपजावेंगी—मनुष्यों के प्राणों की रक्षा होगी। नदियों में नावें चलेंगी, मनुष्यों का रोजगार चलेगा। तृण, लता वृक्ष आदि

को पुष्ट करेंगी—पशु, पक्षी-कीट-पतंग जीवन पावेंगे। हम ही संसार की रक्षा करती है।

तो फिर आ! नवनील मेघमाला! आ, वृष्टि-बिन्दुओं की जननी! आ, माता दिग्मण्डल व्यापिनी! सूर्य-तेज-संहारिणी! आ, आकाश-मण्डल को घेर ले, हम नीचे उतरें! आओ बहन सुहासिनी सौदामिनी! वृष्टि-बिंदुकुल के मुख को उज्ज्वल करो। हम हँसती-नाचती हुई पृथ्वी-तल पर उतर पड़ें। तुम वृत्रासुर के मर्मस्थल को काटने वाले वज्र हो, तुम भी गरजो। इस उत्सव मे तुम्हारे सिवा और उपयुक्त बाजा कौन है? तुम भी पृथ्वी-तल पर गिरोगी? गिरो, किन्तु केवल गर्व से उन्नत मस्तक पर ही गिरना! इस परोपकारी क्षुद्र अन्न के ऊपर मत गिरना। हम इसकी रक्षा करने जाती है। गिरना हो तो इस पर्वत के शिखर पर गिरो। जलाना हो तो इस चोटी पर के पेडों को जलाओ। क्षुद्र से कुछ न बोलना। हम क्षुद्र है; क्षुद्र के लिए हमारे हृदय मे बडी व्यथा होती है।

देखो, देखो हमे देखकर पृथ्वी पर के लोगों का आह्लाद देखो। पेड आदि हिल रहे हैं, नदी हिल डुल रही है, बड़े बड़े वृक्ष सिर झुका कर प्रणाम कर रहे है। किसान खेत जोत रहा है। लडके भाग रहे हैं। केवल खटीक की स्त्री आम का रस लिये भीतर भागी जा रही है। आम-रस के दो एक टुकड़े रक्खे जा-हम खायँगी। दो इस के कपडे भिगो दो।

हमने जल की जाति में जन्म पाया है। परन्तु तो भी हम रंग रस करना जानती हैं। आगों के ऊपर फाड़ कर घर के भीतर झाँकती हैं। स्त्री-पुरुष जिस घर में साथ होते हैं, वहाँ छत के छेद से भीतर जा कर उनको चौंका देती हैं। जिस राह में बहू-बेटियाँ कलसी लेकर पानी भरने जाती हैं, उसी राह में हम कीचड़ कर रखती हैं। चमेली का पराग धो डाल कर भौंरों को भूखों मारती हैं। नौकर-चाकर कपड़ा धो कर फैलाते हैं तो उसे कीचड़ में डाल कर उनका काम बढ़ा देती हैं। हम क्या कम दिल्लगी बाज हैं! तुम सब चाहे जो कुछ कहो, हम रसिका हैं।

और इसे जाने दो, हमारा बल देखो। देखो पर्वत, कंदरा, घर द्वार आदि सब को धो कर हम एक नई ही हरी भरी पृथ्वी की रचना कर देंगी। देखो शिथिल, दुर्बल नदी को कूलप्लाविनी, देश को डुबानेवाली, अनन्त-तरङ्ग-सङ्कुला, लंबे चौड़े पाट की जल राक्षसी बना देंगी! किसी देश में मनुष्यों की रक्षा करेंगी—किसी देश के मनुष्यों का (बाढ़ के द्वारा) संहार करेंगी—कितने ही जहाजों को ठिकाने पर पहुँचा देंगी, और कितने ही जहाजों को डुबा कर ठिकाने लगा देंगी, पृथ्वी को जलमयी बना देंगी। फिर भी हम क्षुद्र हैं! हमारे जैसा क्षुद्र और कौन है? हमारे जैसा बलवान् और कौन है? —['बङ्किम निबंधावली' से]

३१

राजपूतनी का बदला

(नाटक)

[स्थान—मेवाड़ के राना राजसिंह के महल का बाहरी भाग।

समय—तीसरा पहर। ऊँचे आसन पर राना राजसिंह बैठे हैं। सम्मुख बच्चे को गोद में लिये जसवन्त सिंह की रानी महामाया घुटने टेके बैठी हैं। दाहिनी ओर मारवाड़ के सेनापति दुर्गादास और कासिम खड़े हैं]

रानी—राना ! मेरे इस बच्चे को अपने गढ में स्थान दीजिये। बहुत दिनों के लिए नहीं, राना ! थोड़े ही दिनों के लिए।

—महामाया, तुम्हारा लड़का मेरा गैर नहीं है।

उस की रक्षा के लिए या गिड़गिड़ाने की क्या जरूरत है। दुर्गादास। औरङ्गजेब क्या इस बच्चे के भी प्राण लेना चाहता है?

दुर्गादास—नहीं तो इसके पकड़ने का और क्या उद्देश्य हो सकता है महाराना?

रानी—एक लड़का और एक लड़की—केवल यही सम्पत्ति लेकर उस दिन दिल्ली से निकली थी। राह में लड़की मर गई। अब मेरी सम्पत्ति में केवल यही दूध-पीता बच्चा है। मेरे इस सर्वस्व पुत्र की रक्षा कीजिए महाराना। ईश्वर आप का भला करेंगे।

राजसिंह—पुत्र के लिए कुछ भी चिन्ता न करो महामाया! मैं अपने प्राण देकर भी इसकी रक्षा करूँगा।

रानी—राना की जय हो!

राजसिंह—दुर्गादास, औरंगजेब के अत्याचार की मात्रा धीरे धीरे बढ़ती चली जा रही है। उन्होंने हिन्दुओं के ऊपर फिर से "जजिया" लगाया है। उसके ऊपर मारवाड़-पति जसवन्तसिंह के परिवार पर ऐसा दारुण अन्याय! देखूँ पत्र लिख कर शायद औरंगजेब को ठीक राह पर ला सकूँ।

रानी—पत्र लिख कर! अनुनय विनय करके! घुटने टेक कर, भीख माँग कर! नहीं महाराना, इस तरह ढीले पड़ कर नहीं। अब की इस बादशाहत को जड़ से उखाड़ ~ मेरे

कलेजे मे ठण्ड नहीं पडेगी ।

राजसिंह—नही महामाया, रक्त की नदियाँ बहाये बिना यह काम नही हो सकता । जब एक राज्य स्थापित हो गया है, तब उसे जड से उखाडने की चेष्टा करना अन्याय है । इस मे सहस्रां मनुष्यों की हत्या होगी और देश की प्रजा को कष्ट मिलेगा ।

रानी—अपने देश मे दूसरी जाति के राज्य की रक्षा ! यही क्या क्षत्रियों का धर्म है ?

राजसिंह— क्षत्रियों का धर्म केवल मार-काट करना ही नही है । मरने मारने की विद्या ऊँचे दर्जे की विद्या नही है । किसी आर्त की रक्षा या अपनी रक्षा के अतिरिक्त और उद्देश्य से मार-काट करने का नाम हत्या है । [इसके बाद कासिम की ओर देख कर] यह कौन है ?

दुर्गादास—यह कासिम उल्ला है । मेरा पुराना मित्र है । इसने अपनी जान की परवा न कर के हमारे राजकुँवर की रक्षा की है ।

कासिम—राना साहिब, मैं इन लोगो का पुराना नमकख्वार हूँ । सरदार [दुर्गादास] ने एक दफ़ा बडी आफ़त से मुझ को बचाया था । तब से मैं इन्ही की गुलामी मे हूँ ।

राजसिंह—दुर्गादास, कासिम भी तो मुसलमान है !

कासिम—महाराना, मेरी ज़ात को बुरा न कहें । हमारी

मान मराठ नहीं है। हम मर हा सकते हैं पर नमक हराम नहीं।

राजसिंह—नहीं कासिम, मैं तुम्हारी जाति की निन्दा नहीं करता, बादशाह के साथ तुम्हारी तुलना करता हूँ। बादशाह इस छोटे बच्चे का जान लेना चाहते हैं, और तुम—

कासिम—आहा, कैसा भोला भाला सुन्दर बच्चा है। दुश्मन से जी चाहता है गाद में लेकर प्यार कर लूँ।

राजसिंह—औरङ्गजेब तुम दिल्ली के सिंहासन पर बैठ एक निरीह बालक की हत्या करने के लिए व्यग्र हो रहे हो और तुम्हारी ही जाति का यह कासिम उस प्राण देकर भी बचाने के लिए तैयार है। ईश्वर की दृष्टि में कौन बड़ा है औरङ्गजेब ?

रानी—राना मैं इस भारी अत्याचार का बदला लूँगी। इसका बदला चुकाने के लिए ही मैं उस दिन और स्त्रियों के साथ नहीं जल मरी। इसी के लिए अब तक जिन्दा हूँ। आज केवल इस बच्चे की रक्षा कीजिए।

राजसिंह—मैं वह सुना है इसके लिए कोई चिन्ता नहीं है। महामाया, तुम अपने लड़के को ले कर यहीं बलदेव रहो।

रानी—नहीं राना, मैं यहाँ नहीं रहूँगी। अब यह मेरा घर नहीं है। मैं अपने स्वर्गवासी स्वामी के राज्य को लौट आऊँगी। सम्पत्ति और विपत्ति में, शान्ति और अशान्ति में जीवन और मरण में, स्वामी का घर ही स्त्री का घर है, पिता का घर नहीं है। मैं मारवाड़ चली जाऊँगी।

राजसिंह—किन्तु, अभी तो वहां तुम बेखटके नही रह सकती बहन !

रानी—बेखटके ! मै क्या यहां अपने लिए बेखटके जगह खोजने आई हूँ ? नही राना, मै उसे नही खोजती। मै अब आपत्ति को खोजती हूँ। आपत्ति की गोद मे पली हूँ, भूकम्प मे मेरा जन्म हुआ है, तूफान मे मेरा घर है, प्रलय के बादलों मे मेरी सेज है। विपत्ति ! विपत्ति को तो मैने अपनी सखी बना लिया है राना ! मुझे अब और क्या विपत्ति होगी ! पति मारा गया, सर्वस्व लुट गया—अब और क्या विपत्ति होगी ? राना, मेरे लिए अब एक ही विपत्ति और हो सकती है—इस बच्चे की हत्या। इसकी रक्षा कीजिए। राना, और कुछ नही चाहिए, इसकी रक्षा कीजिए ! मै मारवाड जाऊगी—आग सुलगाऊँगी—आग ! ऐसी आग सुलगाऊँगी जिस मे औरङ्ग-जेब क्या चीज है, सारा मुगलों का राज्य जलकर खाक मे मिल जायगा।

[पर्दा गिरता है।]

दूसरा दृश्य

[स्मशान—राजपूतों की छावनी। समय तीसरा पहर। राना राजसिंह और महामाया दोनों बैठे है। सामने मुगलों के झण्डे लिए दुर्गादास और अन्यान्य सामन्तगण खड़े है।]

राजसिंह—धन्य हो दुर्गादास! तुमने मुगलों को मेवाड़ से निकाल बाहर कर दिया।

रानी—धन्य हो दुर्गादास! तुम बेगम को कैद कर लाए। आज मैं बदला चुकाऊँगी।

राजसिंह—क्या! दुर्गादास, तुम बादशाह की बेगम को कैद कर लाए हो? कौन बेगम?

दुर्गादास—काश्मीरी बेगम—गुलनार।

राजसिंह—उन्हें कैद कर लाए? उसी घड़ी छोड़ नहीं दिया?

दुर्गादास—राना साहब, मैं केवल सेनापति था। युद्ध में शत्रु के आदमियों को कैद करने भर का मुझे अधिकार था। कैदियों के छोड़ने का अधिकार राजा को होता है।

राजसिंह—जाओ दुर्गादास, बेगम साहबा को इसी दम छुटकारा देकर इज्जत के साथ बादशाह के पास भेज दो।

रानी—क्या राना?

राजसिंह—स्त्री के साथ हम लोगों का कुछ झगड़ा नहीं है।

रानी—स्त्री के साथ झगड़ा नहीं है! तो फिर मैं ने क्यों आकर आपका आश्रय लिया महाराना? मुझे ही पकड़ने के लिए क्या यह भारी चढ़ाई नहीं हुई है? मैं यदि इस युद्ध में पकड़ ली जाती, तो बेगम मेरे साथ क्या सलूक करती?

राजसिंह—हम मुगलों की नीति का अनुकरण करने

नही बैठे हैं।

रानी—नहीं महाराना! मैं इस बेगम को इस तरह न छोड़ूँगी, मैं बदला चुकाऊँगी।

राजसिंह—बदला! किस का बदला महामाया?

रानी—किसका! यह पूछिये कि उसकी किस किस हर-कत का बदला न लूँगी। इस काश्मीरी बेगम ने ही मेरे पति और पुत्र की हत्या की है। यह काश्मीरी बेगम ही मेरे यों जंगली जानवरों की तरह एक जगह से दूसरी जगह भागते फिरने का कारण है—इसका बदला लूँगी राना! मै उसे अपनी मुट्ठी मे पाकर न छोड़ूँगी। बदला लूँगी।

राजसिंह—क्या बदला लोगी?

रानी—इस बारे में मैंने अभी कुछ नही सोचा है राना! इस बारे मे मै सोचूँगी। सोचकर ठीक करूँगी। उसे तिल तिल कर के जलाना भी यथेष्ट न होगा। उस के शरीर मे सुइयाँ चुभाना भी यथेष्ट न होगा। सोच कर ठीक करूँगी। नई प्रकार की यन्त्रणा के यन्त्र का आविष्कार करूँगी। स्त्री के योग्य दण्ड स्त्री ही सोच सकती है।

राजसिंह—महामाया, तुम को पाप का दण्ड देने का क्या अधिकार है? जिनका यह अधिकार है वे ही—

रानी—(उठ कर) वे!—कहाँ है वे? वे कहाँ है? वे हाथ

समट बैठे हैं। आकाश का वज्र सदा पापी के सिर पर ही नहीं गिरता महाराज! पुण्यात्मा के सिर पर भी गिरता है। भूकम्प में पापी का ही घर बार नहीं नष्ट होता बेचारे निरीह लोगों के झोंपड़े भी मिट्टी में मिल जाते हैं। प्रबल बन्या में क्षुद्र घास-फूस ही डूबते हैं, बड़े बड़े पेड़ चैन से सिर ऊँचा किये खड़े रहते हैं। ईश्वर का नियम धर्म अधर्म का विचार नहीं करता—जहाँ जिसे दुर्बल, जीर्ण पुराना पाता है, उसी को गर्दन पकड़ कर दबाता है।

राजसिंह—[शान्त भाव से] महामाया! जोश में आकर ईश्वर का विचार करने के लिए तैयार न होओ—निश्चय करो, ईश्वर के नियम में अन्त को अधर्म का अवश्य पतन होगा।

रानी—कब होगा? मैंने तो आज तक नहीं देखा राना! मैंने तो आज तक यही देखा है कि सज्जनता सदा से चालाकी के पैरों पड़ कर भीख माँगती आती है, चालाकी ने एक बार उसकी ओर आँख उठा कर देखा भी नहीं। सत्य सदा से झूठ की गुलामी करता है—अपने मस्तक को ऊँचा नहीं कर सकता। मैं सदा से न्याय की जगह पर अन्याय की विजय-पताका फहराती हुई देख रही हूँ। मैं सदा से धर्म के टूटे मन्दिर में अधर्म की विजय ध्वनि सुनती आ रही हूँ। पुण्य से हरे भरे राज्य के ऊपर से भयानक रक्त रंजित नदियाँ लहराती देख पड़ रही हैं। खून अत्याचार झूठ, विश्वासघात आदि से पृथ्वी परिपूर्ण हो रही है। तब

भी तुम कहते हो, अन्त मे धर्म की जय होगी ! कब होगी? कब होगी ? बतलाओ, कब होगी ?

राजसिंह—शान्त होओ महामाया ! अपने को सँभालो—धैर्य धारण करो।

रानी—धैर्य ! राना, यदि तुम स्त्री होते और तुम्हारा पति परदेश मे विश्वासघात के हाथो विष देकर मारा जाता, यदि बेदर्दी के साथ तुम्हारे सरल, उदार पुत्र की हत्या की जाती, यदि मेरी तरह नन्हे से निस्सहाय निरीह बच्चे को लेकर एक देश से दूसरे देश मे आकर भिक्षुक की तरह द्वार द्वार मारे मारे फिरना पडता तो आप समझते। धैर्य ! नहीं राना—मै उस पापिन को यों न छोड़ूँगी।

राजसिंह—दुर्गादास ! जीते जी मै अबला के ऊपर अत्याचार होते न देख सकूंगा। जाओ, तुम सम्मान के साथ बेगम को बादशाह के पास पहुँचा दो।

दुर्गादास—क्षमा कीजिये महारानी ! इस युद्ध मे हम सब राना साहब के अनुचर है। बेगम आज मेवाड़ के राना के यहाँ कैद है, मारवाड की रानी के यहाँ नहीं। महारानी ! अपने को न भूलिये। आप ही की रक्षा के लिए राना ने यह युद्ध किया है। राना आपके हित-चिन्तक है। उनकी आज्ञा मानना आपका भी धर्म है।

रानी—[कुछ देर चुप रहकर] तुम सच कहते हो दुर्गादास! [फिर राना के सामने घुटने टेक कर] राना! क्षमा कीजिए। हृदय-शोक के वश में अधीर हो कर मैं पागल सी हो गई—क्षमा कीजिये। किन्तु यदि आप इस तीव्र वेदना, इस दारुण ज्वाला, इस गहरी जी की जलन को जान सकते—मैं पागल हो रही हूँ, क्षमा कीजिये।

राजसिंह—मैं पहले ही क्षमा कर चुका हूँ महामाया! मैं चाहता हूँ, कि जो क्षमा तुमने मुझसे माँगी है वही क्षमा तुम बेगम को दिखलाओ। मैं विचार के लिए बेगम को तुम्हारे पास छोड़ जाता हूँ। उसे क्षमा करो, अपना महत्त्व दिखलाओ। महामाया! स्नेह दया, भक्ति, क्षमा आदि गुणों से ही स्त्री जाति पूजनीय है। ये गुण ही अबला की शक्ति हैं। और यदि तुम दण्ड ही देना चाहती हो, तो सोचो तो, तुमने अपने ऊपर अत्याचार करने वाले को यदि हँसते हँसते क्षमा कर दिया, तो क्या यह उसके लिये कम दण्ड है?

रानी—ठीक है। बेगम को ले आओ दुर्गादास!

[दुर्गादास का प्रस्थान]

राजसिंह—अच्छा, तो मैं तुम्हारी दया के ऊपर बेगम को छोड़ जाता हूँ महामाया।

[राना का प्रस्थान]

रानी—यह ठीक है। इस न्याय-आसन पर बैठ कर मैं उसका विचार करूँगी। इतना ही यथेष्ट है। भारत की सम्राज्ञी औरंगजेब की बेगम, मेरे पति तथा पुत्र की हत्या करने वाली डाइन, आज मेरे सामने अपराधी कैदी की दशा मे खडी होगी, मैं सिंहासन पर बैठे बैठे उसके मुंह की ओर देख ,कर उसे प्राणों की भिक्षा दूँगी। यही क्या बुरा है?—वह आ रही है। इस समय भी मुँह पर वही ऐंठन, नजर मे वही घमण्ड, चाल मे वही अहकार है। जगदीश्वर! पाप इतना उज्ज्वल और विचित्र!

(बेगम गुलनार के साथ दुर्गादास का प्रवेश)

रानी—सलाम बेगम साहबा!

गुलनार—जसवन्तसिंह की रानी?

रानी—हां! जिसे पकडने के लिए इतनी तैयारी से यह चढाई हुई थी—वही जसवन्तसिंह की रानी। आपने मेरे पति और पुत्रो को खा लिया। इससे भी राक्षसी का पेट नहीं भरा। अब मुझे और मेरे छोटे बच्चे को भी खाना चाहती हो। क्या इसी बीच मे सब भूल गई? इतनी भूल करने से काम कैसे चल सकता है बेगम साहबा?

गुलनार—[दुर्गादास से] तुम ही दुर्गादास हो?

दुर्गादास—ां बेगम साहबा?

गुलनार—मुझे यहां क्यों लाए हो?

दुर्गादास—यही आपका विचार होगा।

गुलनार—कहाँ? किसके आगे?

रानी—मेरे यहाँ,मेरे आगे। जान जरा रूखी और बेतुकी जान पड़ती होगी, क्या? क्या कीजियेगा? चक्र घूम गया है बेगम! क्या! दुर्गादास की ओर इतना क्यों आप गौर कर रही हैं? सोचती होंगी, काफिर की इतनी मजाल कि आप को कैद कर लावे! यही सोचती हैं क्या न? अब आप कौन सजा पसन्द करती हैं?

गुलनार—मैं तुम्हारे यहाँ कैद हूँ जो जी चाहे करो।

रानी—जो जी चाहे, वही करूँ? बेगम साहबा, मेरे मन की सजा तो तुम्हारे लिए बहुत ही कठिन होगी। मेरी जो इच्छा है, वह दण्ड तुम्हारे लिए असह्य होगा। तुम उसे सह न सकोगी। वह बड़ी ही कड़ी सजा है। नरक की ज्वाला उसके आगे बसन्त वायु के समान ठण्डा है। सैकड़ों बिच्छुओं के काटने की जलन भी उसके आगे झरने के पानी के समान शीतल है। मेरा जी जो चाहे? मेरा क्या जी चाहता है, जानती हो बेगम?—खैर जाने दो—तुम मुझे यदि पकड़ मँगातीं, तो क्या करतीं बेगम साहबा?

गुलनार—क्या करती? तुम को अपने पैरों की धोवन पिलाती और उसके बाद मरवा डालती।

रानी—अभी तक तेज नहीं गया। विष का दाँत उखड़

गया परन्तु फुफकार कम नहीं हुई। बेगम साहबा, खेद है, तुम्हारी आशा पूरी नहीं हुई। आज मुझे तुम्हारे आगे इस तरह खड़ा होना चाहिये था। क्यों? पर क्या किया जाय, तुम को ही मेरे आगे इस तरह खड़ा होना पड़ा। देखो गुलनार! सुनो बादशाह की बेगम! आज तुम मेरी मुट्ठी में हो। चाहूँ तो मैं तुम को पैर की धोवन भी पिला सकती हूँ, तुम्हारी हत्या भी कर सकती हूँ। किन्तु मैं वह न करूँगी। मैं तुम्हें छोड़ देती हूँ। सेनापति! इन को बादशाह के पास पहुँचा आओ। [गुलनार से] खड़ी हुई हो! विस्मय हुआ? राजपूतों का यही बदला है!*

[यवनिका पतन]

—"दुर्गादास नाटक" से।

---

*द्विजेन्द्रलाल राय के बंगला नाटक से श्रीरूपनारायण पाण्डेय द्वारा अनुवादित।

३२

हिन्दू-जाति की पावन-शक्ति

संसार की सम्पूर्ण प्राचीन जातियाँ पृथ्वीतल से मिट गईं। केवल एक हमारी आर्य जाति ही अनादि काल से अब तक जीवित है और आशा है अनन्त काल तक जीवित रहेगी। हमारा साहित्य भाण्डार भी उसी समय से लेकर वर्तमान काल तक के भिन्न भिन्न विचारों को किसी न किसी रूप में क्रमबद्ध प्रदर्शित करता चला आ रहा है।

मिश्रीय, बैबिलोनियन, सीरियन, सिथियन, स्पार्टन आदि प्राचीन सभ्य जातियों का केवल नाममात्र शेष है और बहुतों के तो नाम का भी अब कहीं पता नहीं है। रेड इंडियन तथा पूर्वी द्वीप समूह की कुछ जातियाँ केवल इनी गिनी संख्या में ही शेष रह गई हैं, जो शीघ्र ही नष्ट होने वाली हैं।

हिन्दू जाति भी प्रतिदिन क्षीण होती जा रही थी परन्तु अब वह भी करवट बदल रही है। उसे भी अपने संगठन करने का ध्यान हो रहा है, अपने बिछुडे भाइयों को मिलाने तथा अन्य जातियों के लिए भी द्वार मुक्त करने की प्रबल इच्छा हो रही है। ये सब जीवित रहने के चिन्ह है। यदि परमात्मा को हमारा जीवित रहना अङ्गीकार न होता तो यह दिन न दिखाई देता कि हम संगठित होने और अपने बिछुडे भाइयों तथा अन्य जातियो के लेने का विचार करते। ये सब जाति की उन्नति के शुभ लक्षण दिखाई देते है।

हमे सदैव अपने दोषों के दूर करने को प्रस्तुत रहना और जात्युन्नति के साधनों पर विचार करना चाहिए। यह जाति सदैव इन बातों पर विचार करती रही है। हमारे त्योहार एवं वर्णाश्रम-व्यवस्था हमारे संगठन और जीवन के सुदृढ प्रमाण हैं। तथा १८ स्मृतियों मे हमारे दोषों को दूर करने और समयानुसार संशोधन करने का पूर्ण विधान है।

हमारा धर्म-क्षेत्र केवल हमारी ही जातियों के लिये संकुचित नही रहा। इसका द्वार सर्व साधारण के लिए सदैव खुला रहा। इस लेख मे धार्मिक और ऐतिहासिक दृष्टि से इसी विषय पर विचार किया जायगा। हमें सोचना है कि हमारे विद्वान नेताओं का यह प्रयत्न समयोचित है या नही?

वैदिक काल में आर्यों की दशा

(१) वैदिक काल में आर्य और दस्युओं का घोर युद्ध होता रहा। उस में आर्यों ने विजय पाई, अनार्यों ने वैदिक धर्म स्वीकार किया और हिन्दू जाति में मिल गये। इस समय द्राविड़ जातियाँ तथा अन्य कई जातियाँ आर्य और दस्युओं के मिश्रण का ही फल हैं। वेद भगवान ने स्वयम् इसकी प्रत्यक्ष आज्ञा दी है—

"यथेमां वाचं कल्याणीम् आ वदानी जनेभ्य"

ब्राह्मण ग्रन्थों और आरण्यकों में भी इस प्रकार की आज्ञाएँ तथा उदाहरण बहुतायत से पाये जाते हैं। स्मृतियों में भी अपने बिछुड़े भाइयों को पुनः मिलाने के प्रायश्चित्त अधिकता से पाये जाते हैं।

पौराणिक काल

(२) भविष्य पुराण में एक कथा आई है कि कण्व ऋषि मिश्र में धर्म प्रचारार्थ गए थे। वहाँ पर धर्म प्रचार करने के पश्चात् वे १०,००० मिश्र निवासियों को भारत में ले आये। उनमें से २,००० को वैश्य कुछ को क्षत्रिय और एक मनुष्य को ब्राह्मण बनाया। शेष शूद्रों में गिने गये। इसी प्रकार व्यास भगवान धर्म की व्याख्या करने के लिए मध्य एशिया में गए थे। वहाँ पर वैदिक धर्म का अच्छा प्रचार किया था।

कुछ वर्ष पूर्व वहाँ पर प्राचीन खँडहरों की खुदाई कराने के समय बहुत सी संस्कृत पुस्तकें प्राप्त हुई थीं। जिन्दावस्ता नामक पारसियों की धार्मिक पुस्तक में भी उक्त व्यास भगवान के वहाँ जाने का वर्णन मिलता है। जावा आदि द्वीपों में वैदिक उपदेशक बराबर जाते रहे हैं। जावा द्वीप के प्राचीन निवासी हमारे ही धर्म के मानने वाले थे और अब भी बहुत सी संख्या आर्य धर्मानुयायियों की है। वहाँ अभी तक मन्दिर आदि पाए जाते हैं। ७० श्लोकी गीता तथा अन्य कई धार्मिक संस्कृत-ग्रंथ भी वहाँ से प्राप्त हुए थे। खेद है कि अब हमने समुद्र-यात्रा को ही रोक दिया जिससे हमारे विकास में बहुत त्रुटि आ गई। वे सब जातियाँ जिनको हमारे पूर्वजों ने कठिनता से वैदिक धर्मावलम्बी बनाया था, यवन और ईसाई हो रही हैं। इस समय जब कि अपने ही अंग कटते जा रहे हैं तो फिर दूसरों को अपने में लाने का ध्यान कहाँ ?

अमेरिका के मेक्सिको देश में अब भी राम का उत्सव मनाया जाता है। ईसा मसीह १८ वर्ष तक तक्षशिला के विश्वविद्यालय में शिक्षा पाते रहे। इसके पश्चात ईसाई धर्म का प्रचार किया जिस पर बहुत कुछ बौद्ध धर्म की छाप पड़ी हुई है। पुराणों में ऐसे उदाहरणों की संख्या कम नहीं है।

बौद्ध काल

(३) बुद्ध भगवान ने सारे संसार में दया का प्रचार

किया। ईसाई धर्म बहुत कुछ अंशों में बौद्ध धर्म की छायामात्र है। मुसलमानों ने भी साम्यवाद का भाव बौद्ध मत से ही लिया है। एक समय आधा संसार बुद्ध भगवान के चरण चिन्हों को पूजता था। अब भी सब मत वालों से अधिक संख्या बौद्धों की ही है। चीन, जापान, ब्रह्मा, स्याम, अनाम, कम्बोडिया, तिब्बत, कोरिया, मङ्गोलिया, मञ्चूरिया, अफगानिस्तान, बिलोचिस्तान, फारिस टर्की, बैबिलोनिया, मिश्र, तुर्किस्तान, अरब, लङ्का और भारत में एक मात्र बौद्ध मत का प्रचार था। अफगानिस्तान, बिलोचिस्तान, फारिस, टर्की, अरब, तुर्किस्तान और भारत को छोड़ कर शेष देशों में अब भी बौद्ध धर्म का ही प्रचार है।

बौद्ध धर्म वैदिक धर्म की एक शाखा मात्र है। बुद्ध भगवान हमारे नवें अवतार ही हैं। महाराज अशोक वर्द्धन ने बौद्ध धर्म के प्रचार के लिए जैसा प्रयत्न किया वैसा कदाचित् किसी राजा ने कभी अपने धर्म के लिए नहीं किया। यह कभी कभी स्वयम् भिक्षु बन कर रहे और अपने लड़के और लड़की को भी भिक्षु बनाकर इन्होंने धर्म प्रचारार्थ लङ्का और तिब्बत को एवं सहस्रों उपदेशक दूसरे देशों को भेजे थे। बहुत से स्तम्भ अब भी खड़े हुए उनकी कीर्ति का बखान कर रहे हैं। इस समय भी ५५ करोड़ मनुष्य-संख्या बुद्धं शरणम् कह कर अपने को कृतार्थ मानती है। यह सब शुद्धि

का ही प्रभाव और हिन्दू-जाति की पाचन-शक्ति के उत्कृष्ट उदाहरण थे।

भारत के प्राचीन इतिहास पर दृष्टि डालिए तो विदित होगा कि विक्रम से ४०० वर्ष पूर्व आन्ध्र वंशियों का भारत मे राज्य था, जो दक्षिण प्रान्त वासी द्राविड जाति के थे और पीछे से वैदिक धर्मावलम्बी हो गए थे। ईसा से ३२३ वर्ष पूर्व सिकन्दर ने भारत पर चढाई की थी। उसके पश्चात बहुत से यूनान निवासी भारत के पश्चिमी भाग मे बस गए थे। मिनेण्डर, स्ट्रेटो और ऐण्टिआतिकदश नाम के तीन राजा इसी वंश के हुए है, जिन्होंने यहां के राजाओं से विवाह-सम्बन्ध भी जोड लिया था। कुछ विद्वानों की राय है कि कायस्थ उन्हीं के वंशज है।

ग्रीक लोगों के पीछे शक वंशियों ने राज्य किया, जो सिथियन थे और पश्चिम से हमला करके पञ्जाब, राजपूताना, मथुरा, गुजरात, सिन्ध और मालवा मे अपना राज्य जमा बैठे थे। इनके नाम मोगस, पैकोरस, रजुबुल, पेज़ेस थे। अन्तिम राजा को विक्रमादित्य ने राज्य छीन कर निकाल दिया था। परन्तु विक्रम के १३५ वर्ष पीछे उन्हीं शकों का राज्य मालवा मे फिर हो गया। इनका सब से प्रतापी राजा शालिवाहन हुआ जिसने अपना सम्वत शक नाम से प्रचलित किया। ये ही शक लोग शाक-द्वीपी ब्राह्मण और क्षत्रिय

नाम से बहुत बड़ी संख्या में हिन्दू जाति में सम्मिलित हैं और वैदिक धर्म के पक्के अनुयायी हैं।

शकों के साथ पत्र पह्लव जाति बेबिलोनिया की ओर से भारत में आई थी। गाण्डाफारौं, असकस और सनाम नाम के तीन राजा इस वंश के भी हुए थे। ये लोग म्लेच्छ जाति के थे, परन्तु भारत में बस गए। अब उनका पहचानना भी कठिन है कि ये लोग वर्तमान काल में किस जाति में सम्मिलित हैं। इनके पश्चात् कुशान वंशी तिब्बत के उत्तर से भारत में आये। यह यू ची हान वंश की एक शाखा थी। इसमें भी कनिष्क, हुविष्क और उसका पुत्र वसुदेव राजा हुए। सम्वत् २८३ में इस राज्य का पतन हुआ। इनकी राजधानी मथुरा थी। इनके नाम ही पूरे वंश का परिचय दे रहे हैं। इस जाति के लोग अब भी क्षत्रियों में गिने जाते हैं।

विक्रम की पाँचवी शताब्दि में हूणों का बड़ा प्रबल हमला हुआ। दल के दल भारत में आ गये। इस वंश में भी मिहिरकुल और उसका पुत्र तोरमाण बड़े प्रतापी राजा हुए जिन्होंने मालवा तक राज्य किया। इनके प्रभाव से सारा भारत थर्रा गया था। अन्त में महाराज हर्ष वर्धन ने इन्हें परास्त किया था। ये ही कलहंस क्षत्रिय नाम से भारत में प्रसिद्ध हैं। यूरप में भी इनकी जातियाँ फैली हुई हैं, जो हूण नाम से पुकारी जाती हैं।

अहीर (आभीर), जाट, गूजर तथा अन्य अनेकानेक जातियाँ हिन्दू जाति में सम्मिलित होकर उसको परिवर्द्धित करती रही हैं।

उक्त इतिहास आपको बतलाता है कि आप की पाचन-शक्ति कितनी प्रबल थी। अब आठवीं शताब्दि की एक घटना लीजिए। उस समय सारा देश बौद्ध मतानुयायी हो गया था और वह भी उसका विकृत रूप था। वर्ण-व्यवस्था नष्ट हो चुकी थी। जैसे आज कल अधिकतर हिन्दू दरगाह, कब्र, ताजिया, मियाँ मदार, पीर औलिया और भूत-प्रेत की पूजा में लगे हुए हैं वैसे ही उस समय मदिरादि दुर्व्यसनों और अनेक प्रकार के तान्त्रिक प्रयोगों में बौद्ध लोग फँसे हुए थे और घोर नास्तिक हो गये थे। कन्नौज के आस-पास का भाग और कुछ दक्षिण प्रान्त को छोड़ कर सारा भारत वर्ष बौद्ध हो गया था। ऐसी स्थिति में स्वामी शङ्कराचार्य महाराज ने वेदों की ध्वनि उठाई और पुनः संस्कार कराके सब को फिर से वैदिक धर्म में दीक्षित किया। उस समय बहुत स्थानों में शुद्धि का यह नियम रक्खा गया था कि जहाँ तक उनके शङ्ख की ध्वनि सुनाई दे सब शुद्ध मान लिये जायँ। अन्यथा करोड़ों मनुष्यों का पृथक् पृथक् संस्कार करना असम्भव था। इसी कारण स्मृतियों में समय समय के अनुसार अलग अलग व्यवस्थाएँ दी गई हैं।

रामानुज, माधवाचार्य, निम्बार्क, वल्लभाचार्य तथा चैतन्य

महाप्रभु ने बहुत से यवनों को दीक्षित किया। रसखान, सदना कसाई, धन्ना जाट, रैदास चमार, जैसे बड़े बड़े ईश्वर भक्त इन्हीं लोगों में हो गये हैं। बङ्गाल में कई वंश इसी प्रकार शुद्ध किये गये हैं। गुरु नानक ने मक्का तक जाकर अपने धर्म का प्रचार किया। सिक्ख सम्प्रदाय ने बहुत से मुसलमानों को भी दीक्षित किया और हिन्दू जाति की महत्ता बढ़ाई। रामानन्द स्वामी ने कबीर जुलाहा, नाई, भंगी आदि को शिष्य बनाया तथा अयोध्या में कुछ यवनों को भी दीक्षा दी। बिजनौर के जिले में एक जम्भ नामक साधु ने ४ लाख यवनों को शुद्ध किया और अपना शिष्य बनाया। ये सब विश्नोई कहलाते हैं। यह जाति बिजनौर, शाहजहाँपुर और पीलीभीत के ज़िलों में आबाद है। उनके यहाँ ब्राह्मण तक भोजन करते हैं। बहराइच, गोंडा आदि जिलों में बाबा जगजीवन दास ने बहुत से गद्दी मुसलमानों को शिष्य बनाया और कण्ठी दी। इन लोगों में सब कर्म हिन्दुओं के ही हैं।

महाराज शिवाजी ने बीजापुर सेना के बहुत से मुसलमान सिपाहियों को शुद्ध कर मरहटा बनाया और अपनी सेना में भरती कर लिया। गुरु गोविन्दसिंह ने भी लाखों मुसलमानों को सिक्ख सम्प्रदाय में मिलाया। राजा राममोहन राय और स्वामी दयानन्द ने भी ईसाई और मुसलमानों को शुद्ध कर हिन्दू धर्म में मिलाया।

अब भी ब्राह्म समाज, प्रार्थना समाज, देव समाज, और आर्य समाज आदि संस्थाएँ यवनों को शुद्ध कर हिन्दू-जाति में मिला लेती है।

उपसंहार

उपर्युक्त प्रमाणों से यह भली भाँति विदित हो जाता है कि आर्य जाति वैदिक काल से अब तक बराबर अन्य जातियों को अपने मे मिलाकर उनका पाचन करती आई है। इसे कोई अस्वीकार नही कर सकता।

मलकानों की भाँति बहुत सी ऐसी जातियाँ मुसलमानों में गिनी जाती है जिनके रीति रिवाज अधिकतर हिन्दुओं के ही समान है और जो अलग जाति बनाये हुए है तथा विवाह आदि सम्बन्ध आपस ही मे करते है। इन मे कई ऐसी है जिनका खान-पान भी मुसलमानों से नही है।

भाट,, गद्दी, गूजर, खानेज़ाद, कबाडिया, ठाकुर आदि इसी प्रकार की जातियाँ मुसलमानों मे मौजूद है। हिन्दू महा-सभा को चाहिए कि शीघ्र संगठन करके इनको शुद्धि सभा द्वारा अपनी जाति मे मिलाने का प्रयत्न करे और अन्य लोगों के लिए भी धर्म-द्वार खोल देवे। कुछ लोग इन शुद्ध हुए लोगों के छुए हुए जलादि से परहेज करते है। ऐसे लोगों को पहले अपने कर्मों को तो देख लेना चाहिए।

नल का जल पीना, रेल में आना जाना, अस्पताल की दवाई पीना, धोबियों का दूध पीना, भरभूँजे के यहाँ के लाई चिउरा और खीलें चबाना, विलायती शक्कर खाना और अंडे और चर्बी की कलई किए हुए कपड़े पहिनने से धर्म भ्रष्ट नहीं होता, केवल उपर्युक्त शुद्ध हुए मनुष्यों के जल से परहेज करना ही सीधे स्वर्ग भेज देगा। इस पर प्रत्येक हिन्दू को भली भाँति विचार करना चाहिए।

—भागीरथ प्रसाद दीक्षित

[श्रीनारद से]

लाहौर में रावी का उषा-कालीन दृश्य

लेखक—श्रीयुत सन्तराम, बी० ए०

[मेरा जन्म होशियारपुर के निकट पुरानी बस्सी नामक ग्राम में ४ फाल्गुन संवत् १९४२ विक्रमी को हुआ था। मैंने बी० ए० तक फारसी पढ़ी थी। परन्तु पीछे से आर्य समाज के सत्संग से हिन्दी के प्रति इतना प्रेम बढ़ा कि सब काम छोड़कर मैंने हिन्दी-सेवा को ही अपना मुख्य कर्तव्य बना लिया। इसके लिए सन १९१४ ईस्वी में मैं ने लाहौर से 'उषा' नाम की एक मासिक पत्रिका निकाली। वह कोई डेढ़ वर्ष चल कर बन्द हो गई। फिर कुछ देर कन्या महाविद्यालय, जालंधर की मुखपत्रिका, भारती, का संपादन किया। सरस्वती, माधुरी, सुधा, बाल सखा आदि प्रसिद्ध हिन्दी मासिक पत्रिकाओं में

बहुत से लेख लिखने के अतिरिक्त मैं ने अब तक तीस से ऊपर पुस्तकों की रचना, सम्पादन और अनुवाद किया है। साहित्य सेवा से ही मेरी रोटी चलती है। आज कल मैं जात-पाँत तोड़क मण्डल लाहौर के मुखपत्र युगान्तर का सम्पादन अवैतनिक रूप से करता हूँ और इसी नगर लाहौर में रहता हूँ।]

हिन्दुओं का जल पर विशेष प्रेम है। इनके तीर्थ और नगर प्रायः सब के सब जल के ही किनारे हैं। हमारा ख्याल है कि हिन्दुओं के समान स्नान करने वाली जाति संसार में और दूसरी नहीं। करोड़ों हिन्दू ऐसे हैं जो बिना स्नान किए अन्न जल नहीं ग्रहण करते। एक दिन एक मुसलमान हकीम जी ठीक ही कह रहे थे कि हिन्दू रोगी चिकित्सक से जिस बात की बार बार आज्ञा माँगता है वह स्नान है। मुसलमान रोगी कहता है, हकीम साहब, मुझे एक आध बोटी मांस खाने की आज्ञा दे दीजिए। इसके विपरीत हिन्दू कहता है, हकीम जी, स्नान किए बिना मुझे भूख ही न लगेगी, और नहीं तो मुझे हाथ पैर धोने की तो अनुमति अवश्य दीजिए। इस छोटी सी बात से दोनों धर्मों के मानने वालों का मनोभाव स्पष्ट मालूम हो जाता है। हिन्दू स्त्रियों में कार्तिक स्नान की बड़ी महिमा है। बच्ची-बूढ़ी सभी कार्तिक-स्नान करती हैं। जिन गाँवों अथवा नगरों के निकट नदी है, वहाँ की स्त्रियाँ प्रातःकाल उठकर

वहाँ नहाने जाती हैं। यदि नदी नहीं होती तो वे कूप या वापी पर ही शरीर-प्रक्षालन कर लेती हैं। कहें तो कह सकते हैं कि जल धार्मिक हिन्दुओं का प्राण-स्वरूप है। हिन्दू-स्त्री दरिद्र से दरिद्र भी क्यों न हो, उसके तन पर मैले-कुचैले चिथड़े ही क्यों न लटक रहे हों, परन्तु वह नित्य सवेरे स्नान अवश्य करेगी। ईसाई और मुसलमान स्त्रियों में बनाव-चुनाव का भाव हिन्दू-स्त्री से बहुत अधिक है। वे शरीर के सौन्दर्य पर हिन्दू-स्त्री से कहीं अधिक ध्यान देती हैं। परन्तु उनमें नित्य स्नान करने वाली सौ पीछे एक भी न मिलेगी। उनका "गुसल" विशेष अवसरों पर ही होता है। रोज़ तो वे साबुन से मुँह-हाथ धोकर तेल ही चुपड़ा करती हैं। उनको भीतरी शुद्धि की अपेक्षा बाहरी चमक का अधिक ध्यान रहता है। खेद है कि अँगरेजी स्कूलों में पढ़ने वाली हिन्दू लड़कियाँ भी अब उसी लहर में बहने लगी हैं। दैनिक स्नान को छोड़ कर अब वे भी स्कूल जाने से पहले पोमेड और पौडर से मुखमण्डल को पोतना आवश्यक समझने लगी हैं।

किसी समय रावी लाहौर के क़िले के नीचे बहती थी। परन्तु अब वह कोई दो मील परे हट गई है। उसके तट तक नगर से एक पक्की सड़क गई है। पहले तो यह रास्ता उजाड़ सा था, शीशम का घना जंगल फैला हुआ था, परन्तु अब कुछ समय से सड़क के दोनों ओर मकान बनने आरम्भ

हो गए हैं और आशा होती है कि शीघ्र ही नदी तक सारा भाग आबाद हो जायगा। इस सड़क पर लोगों ने भजन पूजा आदि के लिए देवालय बनवा लिए हैं, साथ ही कुएँ भी। एक यह मंदिर और दूसरा बिहारी भवन दो प्रसिद्ध जगहें हैं। यहाँ लोग व्यायाम, ध्यान और संध्या वंदन करते हैं।

लाहौर जैसी जनाकीर्ण महानगरी में रहते हुए प्रातःकाल वायु-सेवन के लिये न निकलना रोग और मृत्यु को अपने यहाँ निमन्त्रण देना है। मैं जब से लाहौर में आया हूँ, रोज सवेरे नदी पर जाता हूँ। मैं पाँच बरस से देख रहा हूँ कि जो लोग सन् १९२२ में नदी पर जाते थे वही अब भी जाते हैं। इन में कुछ लोग ऐसे हैं जो बारहों महीने निरन्तर प्रातःकाल नदी पर पहुँचते हैं। इन पर वर्षा और जाड़े का कुछ प्रभाव नहीं पड़ता। परन्तु इनकी संख्या है बहुत थोड़ी। इन में अधिक संख्या उन लोगों की है जो ग्रीष्म और वर्षा-ऋतु में ही जाते हैं, पौष माघ की कड़कड़ाती सर्दी में इनके दर्शन नहीं होते। इन से भी बढ़कर संख्या उन फसली बटेरों की है जो रविवार, संक्रान्ति या अमावस्या आदि किसी विशेष दिन ही नदी की मछलियों को दर्शन दे जाते हैं। लाहौर में मुसलमानों की संख्या हिन्दुओं से अधिक है। परन्तु नदी पर जाने वालों में रूमी टोपियाँ और तुर्कों की शक्ल क्वचित् ही देख पड़ती है।

लाहौर में रावी नदी का उषाकालीन दृश्य

पाठक, चलिए आज प्रातःकाल आपको भी अपने साथ रम्य-तटी रावी पर ले चलें। शौचादि से भी वहीं निवृत्त होंगे। कोट और बूट पहनने की आवश्यकता नहीं। मेरी तरह आप भी धोती और कमीज़ पहन कर नङ्गे सिर चलिए। सभ्यता का आडम्बर करने की आवश्यकता नहीं। वह देखिए हाथ में लम्बे-लम्बे डण्डे लिए और बग़ल में आसन दबाए प्रौढ़ अवस्था के पुरुषों का एक दल जा रहा है। आप जानते है, ये लोग कौन हैं? अच्छा तनिक ठहरिए। आप को अभी मालूम हो जायगा। यह लीजिए 'नमस्ते महाराज!' के नाद ने तड़के की निस्तब्धता को एकदम भङ्ग कर दिया। अब आप समझे? ये आर्य समाजी हैं। नदी-तट पर स्नान-संध्या करने जा रहे हैं। इन में कई अच्छे भजनीक भी हैं। अभी आप को 'ईश्वर का जप जाप रे मन' और 'जय जय पिता परम आनन्ददाता' का मधुर स्वर सुनाई पड़ेगा।

ज़रा पीछे मुड़ कर देखिए। नवयुवकों की एक मण्डली बड़े जोश से गाती हुई चली आ रही है। ध्यान से सुनिये, ये क्या गाते है—'मेरा रङ्ग दे नाम विच चोला—यह रङ्ग बड़ा अनमोला'। इनके साथ के कुछ लोग एक दूसरे ही स्वर में 'जप प्यारिया सच्चा नाम ओंकार दा' गा रहे हैं। ये सब युवक जोशीले आर्य समाजी है। देखिए, इनके हाथों में मोटे मोटे डंडे हैं। थोड़ी थोड़ी देर बाद 'ओ३म्' और 'नमस्ते' का घोष भी करते जाते हैं।

"जय सीताराम! जय सीताराम"! घुटनों तक धोती, सिर पर दो-तीन पेच का साफा और हाथ में झारी साफ़ लिए ये तिलकधारी सज्जन जो "जय सीताराम! जय सीताराम" कहते आ रहे हैं, कौन हैं? ज़रा ठहरिए, इनका आपको तमाशा दिखाएँ। "भक्त जी, जय राधेश्याम!" भक्त जी ठहर गए और बोले—"भक्त लोग, तू लड़ाई लेना चाहता है? राधेश्याम कहा नहीं कि मुक्त हो गया नहीं। तू क्या चाहता है कि मैं मुक्त हो जाऊँ और तू मेरा लोटा झारी छीन ले! सीताराम सीताराम, कह। सबेर सबेर क्यों लड़ाई मोल लेता है?" इतने में एक और आवाज़ आई—भक्त जी, राधेश्याम!' भक्त जी फिर बनावटी भाव से वही बातें कहने लगे। नदी तक पहुँचते पहुँचते न मालूम कितने मनुष्य इन्हें इसी प्रकार 'राधेश्याम!' कह कर छेड़ेंगे।

इधर देखिए, एक भक्त जन कुत्तों और कौओं को रोटी के टुकड़े डाल रहे हैं। देखना, कौए कैसे उड़ उड़ कर टुकड़ों को झपट रहे हैं। ऐसे कई भक्त नित्य बलिवैश्व देव यहीं किया करते हैं।

'दातून! दातून!' उधर देखिए एक भक्त लाला जी सिर पर दातूनों का बड़ा सा गट्ठा रक्खे राह चलतों को दातूनें बाँटते चले आ रहे हैं। आप उच्च स्वर से 'दातून! दातून!' पुकारते हैं। जिसको आवश्यकता होती है वह उन से दातून ले लेता है। कैसा उपकार का काम है! पर कल मुझ एक बाबू का

दातूनें बांटते देख बड़ी हँसी आई थी। वह कह रहा था—दातून प्लीज़ !

वह सामने देखिए ! वृद्धा स्त्रियों की एक टोली नदी में स्नान करके वापस आ रही हैं ! सब के पैर नंगे हैं । काले घांघरे पहन रक्खे है। हाथ मे छोटी सी लुटिया है और गले में रुद्राक्ष की माला लटक रही है। भक्ति मे मग्न होकर धीरे धीरे कुछ गाती आ रही हैं। चेहरे से शांति और पवित्रता टपकती है। जरा कान देकर सुनिए, ये क्या गा रही हैं। अहा कैसा भक्तिरस-पूर्ण भजन है ! भगवान् कृष्ण चन्द्र के प्रेम मे विह्वल हो कर कैसे हृदय-स्पर्शी स्वर मे कह रही हैं:—

"अपनी भक्ति दे नंदलाला,
अरज करे व्रजनारी जी।"

मैंने भी इन भक्तिमय देवियों के स्वर मे स्वर मिला कर अनेक बार इसी रावी-रोड पर "अपनी भक्ति दे नंदलाला" का मनोहर भजन गाया है। इनकी इस समय की तल्लीनता को देख कर ऐसा जान पडता है मानो साक्षात भक्ति की मूर्त्तियां है।

इन्ही के पीछे एक और मण्डली एक दूसरा ही भजन गाती आ रही है—

जीभा तेरी चाम की।
खेती बो ले राम नाम की॥

तनिक उस शुभ्र-वसना महाश्वेता देवी की ओर देखना।

यह अकेली आ रही है। मैं बड़े दरस से उसे इसी प्रकार अकेली आते देखता हूँ। यह चुपचाप जाती है। मुखमंडल में आत्मिक शांति पटकती है। सुना है, यह नित्य यागाम्याम करने जाती है।

अधिकांश नर-नारी गाड़शाला के पास होकर शीघ्र ही नदी पर पहुँच जाते हैं। नदी पर कोई पक्का घाट नहीं। एक जगह माई लाग स्नान करती हैं और उससे कुछ दूर हट कर पुरुष। पर हम उधर नहीं जाना चाहते, हम आगे जायँगे, पार की ओर भी नहीं मुड़ेंगे। सीधा पुल पर पहुँचेंगे। वहाँ बड़ा अच्छा दृश्य है। पुल के पास जगह है। यहीं उतर कर शौचादि से निवृत्त हो लीजिए। यहीं से वापस लौटना होगा। दूर हो गए हैं। नहीं तो यह सामने शाहदरा में जहाँगीर की समाधि तक चलते। चलो, लौटते हुए कुछ दूर तक दौड़ें। आध मील भी दौड़ लेने से पर्याप्त व्यायाम हो जाता है। सारे दिन आलस्य नहीं आता। पुल से लेकर गाड़शाला तक की दौड़ काफी है।

अब आप को एक दूसरे प्रकार की सृष्टि नदी की ओर आती मिलेगी। वह देखिए, बुड्ढे बाबुओं की एक टोली टहलती हुई आ रही है। सब के सब बूट, कोट, पतलून और चश्माधारी हैं। हाथों में बेंत की छड़ियाँ हैं। इनमें कई तो पेंशनर मालूम होते हैं, और बाकी कचहरी के मुलाजिम जान पड़ते हैं। इनका वार्तालाप सुनने का कई बार संयोग मिला

है। ये लोग प्रायः अमुक अँगरेज नरम है, अमुक अफ़सर सख्त है, जज साहब जाने वाले हैं, इत्यादि बातें ही किया करते हैं।

वह सामने देखिए, दो वृद्धा स्त्रियां आ रही हैं। उनके साथ एक नौ-दस बरस की बालिका भी है। इन स्त्रियों का वेश तो है पंजाबी पर ये पञ्जाबी नहीं। ज़रा इनकी बात-चीत सुनिए। एक कहती है—'उसे नमूनिया हुई गया।' दूसरी कहती है—'नहीं प्लेग निकर आया।' अब आप समझे ये कहां की हैं? 'ल' को 'र' में बदलने वाला देश संयुक्त प्रान्त का पूर्वी भाग ही है। इन वृद्धाओं को मैं बहुत दिनों से नित्य नियम-पूर्वक प्रातःकाल वायु-सेवनार्थ इधर आते देखता हूं।

क्या कारण है, आज हर रोज़ से बहुत अधिक स्त्रियां आ रही हैं? फिर उन में बालिकाओं और युवतियों की संख्या भी बहुत है। आज कहीं सोमवती अमावास्या तो नहीं?

देखिए, कैसे नाना वर्णों के सुन्दर वस्त्र धारण किए हुए हैं! कैसी निराली सज-धज से चली आ रही हैं! कैसा अद्भुत रूप लावण्य है! इन नगर-नारियों में कोई कोई रमणी तो इतनी सुन्दरी है, कि उसे देख कर यही कहना पड़ता है कि विधाता ने फ़ुर्सत के समय बैठ कर उसकी रचना की है। परन्तु इन्हीं में कई एक के शरीर इतने बेडौल और स्थूल हैं कि उन्हें देख कर 'भड़ियों की तोप' का स्मरण हो आता है।

सड़क की दाहिनी पटरी पर देखिए, कैसा विचित्र दृश्य है। एक लम्बी-चौड़ी और काली-कलूटी भयङ्कर मूर्ति गधे पर सवार आ रही है। उसकी नाक में भद्दी-सी लौंग है। एक हाथ में एक बहुत बड़ा हुक्का और दूसरे में एक मोटा और लम्बा डण्डा है। दोनों ओर टाँगें फैलाए वह रोब से बैठी है। इस यवनी की विकराल काया को देख कर भय और विस्मय दोनों होते हैं। कहाँ तो फूल के सदृश कुम्हला जाने वाली जयपुर की कोमलाङ्गी विहारिणियाँ और कहाँ यह भीमकाय आसुरी मूर्ति! ऐसे परस्पर विरोधी नमूने इसी देश में सम्भव हैं।

चलो, अब जल्दी जल्दी घर पहुँचें। अभी हमें स्नान करना बाकी है।

✠ ✠ ✠

३४

काहनूजी आँग्रे

अठारहवीं शताब्दी के लगभग भारत मे योरपीय व्यापारियों की दशा बडी शोचनीय थी। उनके भिन्न भिन्न दलों मे भारी संघर्ष हो रहा था। इस से उन के व्यापार को भारी धक्का और हानि पहुँच रही थी। इसके अतिरिक्त उनके और भी भीषण शत्रु थे। यह वह राक्षस मण्डली थी जिसे वीरता और मर्यादा के उन नियमों की कुछ भी परवाह न थी जिनका पालन सभ्य राष्ट्र करते हैं। ये लोग न्याय और अन्याय का विचार छोड़ कर इन अभागे व्यापारियों को लूट कर धन्यवान् बनने का कोई भी अवसर हाथ से न जाने देते थे।

ये मलाबार के सागर-तट के भयानक समुद्री लुटेरे थे। ये बड़े क्रूर, निःशङ्क और अत्याचारी थे। इनके चित्र विचित्र दलों में लगभग सभी राष्ट्रों के ठग और डाकू ताड़ने वाले लोग थे। इनकी छोटी छोटी शीघ्रगामिनी नावें तोपों से सुसज्जित होती थीं। इनके कपट रक्त पिपासु और निःशङ्क लोग होते थे। ये पश्चिम और भारत के बीच व्यापार करने वाले बहुमूल्य माल से भरे जहाज़ों की प्रतीक्षा में पड़े रहते थे। ज्यों ही कोई जहाज इनकी मार के भीतर पहुँचता ये झट उसके तख्ते पर चढ़ कर उसके रक्षकों को ढेर कर डालते। तत्पश्चात् ये उनके कीमती माल को अपनी डोंगी में रख लेते थे।

कभी कभी कोई बलवान् व्यापारी जहाज इन लुटेरों को मार कर हटा भी देता था और आधे के लग भग यात्रियों की प्राणहानि सहन करके बाद किसी न किसी प्रकार बन्दर में जा पहुँचता था। जहाज आशा और उत्साह से भरे हुए, बन्दर से बाहर चले जाते थे और फिर संसार को उनका पता भी नहीं लगता था। तब जिन साहसी व्यापारियों ने उन्हें माल देकर भेजा था वे समुद्र पर खड़े होकर हाथ मलते और समुद्री डाकुओं को गालियाँ देते हुए दाँत पीसते थे।

आप कहेंगे कि सभी प्रतिद्वन्द्वी व्यापारी कुछ समय के लिये अपने भेद भावों को भूल कर इन सब के साझे शत्रुओं को मिटा देने के लिये आपस में मिल क्यों नहीं जाते थे?

इसका उत्तर यही है कि इस विषय मे योरपीय व्यापारी कम्पनियों का आचरण उस समय उतना उदार न था जितना कि होना चाहिये। वे लोग एक ही चीज के लिये एक दूसरे का गला काटने मे बहुत अधिक निरत थे। यद्यपि उनको अपने जहाजों के छिन जाने पर बहुत शोक होता था तो भी वे प्रतियोगी का विध्वंस देख कर प्रसन्न होते थे। इस प्रकार वे समुद्री डाकुओं का जुआ गले मे पहनते, उनके साथ सन्धियां करते, और उनको बहुत सा रुपया देते थे ताकि वे उनके जहाजों को कुछ न कहें।

उन सागर-दस्युओं मे सब से बडा काह्नूजी आंग्रे था। वह समुद्री डाकुओं का राजा था। उसकी महाबलवान् नाडियों मे जो निर्भीक और साहसी रक्त बहता था उस पर विचार करके यह कहना पडता है कि यदि वह ऐसा भीषण डाकू न होता तो बडे अचम्भे की बात होती। इस अद्भुत वंश के रोमांचकारी कार्यों के सम्बन्ध मे अनेक कहानियां प्रसिद्ध है। इन कहानियों मे सत्य और कल्पना (Fiction) बहुत बुरी तरह से ओत प्रोत कर दी गई है। उन क्षुब्ध समयों के प्रसन्नचित्त इतिहास-लेखकों ने सचाई पर बहुत सूक्ष्म दृष्टि डाल कर अच्छी कहानी को खराब करने की चेष्टा नहीं की, परन्तु इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता कि ये अठारहवीं शताब्दी की कथाएँ कुछ न कुछ मनोमोहक अवश्य हैं। ये सच्ची

दी याद झूठी, इन में उन मनोरंजक साहसी लोगों के चरित्रों पर उज्ज्वल प्रकाश पड़ता है। इस लिए, आइए, ज़रा मॉग्रे-चरा के सदस्मुन उत्तय की कथा पर ध्यान दें।

कहते हैं, सन् १६९८ में एक अरबी व्यापारी जहाज़ मस्कत से चला। मॉगस स्मूल ही सरदार था। वायु उसे ढकेल कर भारत के पश्चिमी सागर तट पर ले आई। अन्त में वह चीन के समीप एक छोटी सी खाड़ी में किनारे पर पहुँचा। इस लम्बी और कष्टदायक समुद्र यात्रा में मालिक और नौकर दोनों की तबियत पर बड़ा ज़ोर पड़ा था। निकलने के समय उनके सम्बन्ध आपस में अच्छे नहीं रहे थे। जब उस प्रदेश के राजा ने सुना कि एक अनजान जहाज़ उसके राज्य में किनारे पर आ लगा है, तो उसने सारी बातों का निरूपण करने के लिए अपने अफ़सर भेजे। मल्लाहों को इन अफ़सरों के कान में अपनी दुःख-गाथा डालने का अवसर मिल गया। उन्होंने अपने कप्तान पर क्रूर और अमानुषी व्यवहार का दोषारोपण किया। कप्तान ने भी अपना रोना सुनाया। उसने विस्तार के साथ बताया कि ये लोग मेरी आज्ञा का उल्लङ्घन और विद्रोह करते थे। उसने अपने निर्णेताओं से नियमन और सुव्यवस्था के सिद्धान्त को ऊँचा रखने के लिए अपील की। परन्तु दुर्भाग्य से वह अकेला था और उस पर दोषारोपण करने वाले अनेक थे। अफ़सरों ने अपनी समदर्शिता प्रकट करते हुए निर्णय किया कि बहुसंख्या की इच्छा ही प्रधान मानी

जायगी। उन्हों ने बड़ी शिष्टता के साथ उसे सूचना दी कि शोक है कि हमे आप को बड़े कष्ट के साथ मृत्यु-दण्ड देना पड़ता है। इस के बाद उन्होंने चट पट उसको हत्या कर डाली।

अब जिस राजा के प्रदेश मे वे आकर उतरे थे, संयोग से उस समय उसके और मुग़ल-सम्राट के बीच एक छोटा सा युद्ध चल रहा था। परन्तु उसे इस मे सन्तोषजनक सफलता नही हो रही थी। वरन् सच तो यह है कि वह दो बार हार खा चुका था। वह इन अजनबियों को अपनी सेना मे भरती करके बड़ा प्रसन्न हुआ। प्रजा के लगभग एक सौ मनुष्यों के साथ उनको जोड़ कर एक छोटे से अफसर के अधीन उनकी एक सेना बना दी गई और यह बड़ी वीरता के साथ समर-भूमि के लिए चल दी।

दैवयोग से रास्ते मे मुगल-सेना की एक टुकड़ी से उनकी मुठ- भेड़ हो गई। मुगल-सेना उनसे पांच गुना अधिक थी। विवेक को ही शौर्य का उत्तम अङ्ग समझ, उनका नेता चट पट रण-भूमि से भाग गया। कप्तान के इस प्रकार लज्जा-जनक रीति से भाग जाने पर दूसरों का उत्साह भी भंग हो गया। वे भी भाग जाने की तैयारी करने लगे। परन्तु जहां से कुछ आशा न थी वहीं से सहायता आ पहुँची। जो जहाज़ भटक कर वहां आ लगा था उसके माझियों का नेता शम्भु आंग्रे था। कहते है, वह "बड़ा निडर, साहसी और धीर मनुष्य" था।

यह अब आगे आया और उच्च स्वर से बोला—"जो गाड़ियाँ और असबाब व छोड़ गए हैं उन्हें लेकर घेरा बाँध लो।" ऐसा ही किया गया और इस जल्दी में बनाए हुए रक्षा-स्थान से वे शत्रु पर गोली बरसाने लगे। घटनावश में यह परिवर्तन देख मुगलों को कुछ विस्मय हुआ। परन्तु वे नहीं चाहते थे कि उनका शिकार बच कर निकल जाए। इस लिए उन्होंने बड़े जोर से धावा बोला। अन्त को रात हो गई। साहसी आंग्रे ने युद्ध की एक नई कल्पना तैयार की। उसने अपने साथियों को इकट्ठा किया और बीस दसी मनुष्यों को साथ ले, वह छिपे कर मोर्चे से बाहर चला गया। यह छोटा सा दल चुप चाप और होले होले शत्रु-सेना के पिछले भाग के पास जा पहुँचा। गोली की मार के अन्तर पर पहुँच कर, गगन भेदी स्वर से चिल्लाते हुए उन्होंने हल्ला बोल दिया। गाड़ियों की आड़ से गाड़ी के मनुष्य भी गोली बरसाने लगे। इस साहस के काम में उन्हें पूरी सफलता हुई। मुगलों ने समझा कि शत्रु की कुमुक आ गई है। इसलिए उन में घबराहट से भगदड़ मच गई। उनकी हार में अगर कोई त्रुटि रह गई थी तो उसे पूरा करने के लिए गढ़ की सेना ओट से बाहर निकल कर मुगलों पर टूट पड़ी। शत्रु दल के केवल पचास मनुष्य जीते बचे, शेष सब काट डाले गए। कहते हैं, आंग्रे ने स्वयं अपने हाथ से चालीस आदमी मारे।

यह छोटा सा वीर-दल लूट का माल लेकर चल पडा। अन्त मे वह प्रधान सेना के साथ जा मिला। आंग्रे चट पट राजा के तम्बू मे पहुँचा। उसने अपने साहसिक कार्य का वर्णन खूब नमक मिर्च लगा कर सुनाया। राजा को बडा आश्चर्य और प्रसन्नता हुई। इसी प्रसन्नता मे उसने आंग्रे को अपनी सेना मे एक महत्वपूर्ण पद प्रदान किया। विक्रान्त केवट शीघ्र ही उन्नति करके उच्चतम पद पर पहुँच गया। दस वर्ष बाद उसने महामन्त्री की लड़की से विवाह कर लिया। सन् १६७५ मे बडे मान-प्रतिष्ठा के साथ उसने अपना मानव-लीला समाप्त की। उसका स्वामी भी उसके बाद शीघ्र ही परलोक सिधारा। वह अपने पीछे एक पुत्र छोड गया, जो उसके स्थान मे राजा बना।

अब नया राजा अपने नव-प्राप्त सम्मान में थोड़ा फूल गया। उसने अपने को पूरा स्वतन्त्र बनाने का विचार किया। उस ने मुग़लों को कर देने से इकार कर दिया। इस छोटे से कौतुक से दिल्ली-दरबार को उतनी घबराहट नहीं हुई जितना कि मनोरञ्जन। उस ने सूरत के नवाब को उस के देश पर चढ़ाई करने और उस उजड्ड राजा को शिष्टाचार का पाठ पढ़ाने की आज्ञा दी।

वीर आंग्रे को परमेश्वर ने एक पुत्र दिया था। इस बालक ने अपने पिता के सैनिक गुण उत्तराधिकार मे पाए थे। राजा की

सेना का कमान अफसर बनने का अधिकार इसी का था। परन्तु नवयुवक राजा द्वितीय आंग्रे से कुछ असन्तुष्ट रहता था। इस लिए प्रधान सेनापति किसी दूसरे अफसर को बनाया गया। आंग्रे का इस को अपना अपमान समझना स्वाभाविक था। उसने सोचा कि यदि मैं एक पक्ष की सेना का कमाण्डर नहीं बन सकता, तो कोई कारण नहीं कि मैं दूसरे पक्ष का सेना-नायक क्यों न बनूँ। इसलिए उसने अपनी सवाएँ सूरत के नवाब को पेश कीं। उसने इसे सहायक सेनापति बना दिया।

आंग्रे ने नवाब का और भी अधिक कृपापात्र बनने के उद्देश्य से वीरता के बड़े बड़े अद्भुत काम किए। उसे अपने पहले स्वामी से थोड़ा बदला लेना बाकी था। इस लिए जो भी बन्दी उसके हाथ पड़ा वह उसने तलवार के घाट उतार दिया। जिस अफसर ने उसका पद छीना था वह भी पकड़ा जा कर नवाब के सामने लाया गया। इससे आंग्रे को बड़ी प्रसन्नता हुई। वह अधिक खदराग किए बिना उसका सिर काट डालना चाहता था, परन्तु नवाब आगा पीछा करने लगा। बन्दी अपने बन्दी-कर्त्ता के दयालु स्वभाव को ताड़ गया। उसने झट नवाब के सामने पाँव पर गिर कर प्राणों की भिक्षा माँगी। नवाब ने कहा—'डरो मत तुम्हारी प्राण-हानि नहीं की जायगी। इस से आंग्रे को बड़ी निराशा हुई। वह अपने हृदय

की व्यथा को बडी ही होशियारी से छिपा कर, अकडता हुआ वहाँ से चला गया और बदला लेने की चिन्ता करने लगा।

अब से कुछ समय पहले, राजा इस परिणाम पर पहुँचा था कि मुझ से बडी भारी भूल हो गई। उसने आंग्रे के पास लौट आने के लिए अनेक गुप्त दूत भेजे। पुरस्कार मे उस पर बहुत सी कृपाएँ करने का भी वचन दिया। वह बोला—'हम तुम्हारे साथ अपनी बहन का विवाह कर देंगे, तुम्हें अपना प्रधान मन्त्री बना देंगे और अपनी सेना की कमान तुम्हें सौंप देंगे।' रुष्ट सेनापति ने इसे बदला लेने का अच्छा अवसर समझा। झट स्वीकार कर लिया। परन्तु नवाब को अन्तिम रूप से छोडने के पूर्व उसने उसके बहुत से अफसरों और सिपाहियों को अपनी ओर कर लिया। उसने उन से कहा, यदि तुम नवाब को छोड कर मेरे साथ दूसरी ओर चले चलोगे तो मैं तुम्हें बडे बडे अधिकार और पद दूँगा।

नवाब को इस का सन्देह तक न था। सब तैयारी पूरी करके आंग्रे नवाब के निकट पहुँचा और बोला—मैंने एक ऐसी युक्ति सोची है जिस से हम अपने शत्रुओं का विध्वंस कर सकेंगे। मुझे कई गुप्त घाटियों का पता है। हुजूर उन मे से होकर शत्रु की सेना पर धावा बोल दें। मैं तेज़ी से कूच करता हुआ दूसरी ओर से उस पर हल्ला बोलूंगा। इस प्रकार शत्रु सैन्य मे गडबड मच जायगी।

नवाब को यह विचार बहुत अच्छा प्रतीत हुआ। वह अपनी सेना का एक बड़ा भाग लेकर चल पड़ा। उसने अपने अ-नैत के उपदेश पर इतना पूरी तरह से आचरण किया कि उसने तुरन्त अपने को एक तम्बे और तङ्ग नाले में बन्द हुआ पाया। अब वह नाले से निकल कर मैदान में आने लगा तो अपने मार्ग को शत्रु से रुका हुआ देख उसे बड़ी व्याकुलता हुई। जिस मार्ग से वह आया था उसी मार्ग से जाने का उसने यत्न किया, परन्तु आंग्रे और उसके [illegible] हुए सिपाही दूसरे सिरे को रोके खड़े थे। अभागा नवाब पिंजरे में चूहे की तरह फँस गया। काल की कराल मूर्ति उसके सामने खड़ी अट्टहास कर रही थी। उसने बड़ी वीरता से शत्रुदल को तोड़ कर बाहर निकल जाने का उद्योग किया। परन्तु सफलता न हुई। उसकी सारी सेना नष्ट हो गई। उसके चुने हुए १००० मनुष्य रण भूमि में खेत रहे।

बदला ले चुकने के बाद आंग्रे फिर अपने पुराने स्वामी से मिला। उसने इसे विधि पूर्वक अपना प्रधान मन्त्री बना लिया। इसके थोड़ी देर बाद बड़ी धूम धाम से उसका विवाह राजा की बहन के साथ हो गया। परन्तु इस पद और प्रतिष्ठा का आनन्द चिरकाल तक लेना उसके भाग्य में न था। सन् १६८८ में वह मुगलों के साथ बड़ी वीरता से युद्ध कर रहा था कि एक गोली उसके हृदय को पार कर गई। वह वहीं ढेर हो गया।

उसके दो छोटे छोटे पुत्र थे। राजा ने उनको दत्तक पुत्र बना कर बडी सावधानी से उनका पालन-पोषण किया। बडा लडका तो युवावस्था को प्राप्त होने के पहले ही मर गया, परन्तु दूसरा काहनूजी आंग्रे खूब बढा-फूला, और शीघ्र ही दरबार मे लोकप्रिय हो गया।

जब उसने अपने बीसवें वर्ष मे पग रक्खा तो उसके तरुण होने के उपलक्ष मे एक बडा उत्सव मनाया गया। उस समय उस को बडे बडे बहुमूल्य उपहार दिये गये। परन्तु सब से बहुमूल्य उपहार वह था जो उस के मामा, राजा, ने उसे दिया। बम्बई के बन्दर के भीतर, लंगर डालने के स्थान से लग भग साढे चार कोस के अन्तर पर, कनेरी नाम का एक छोटा सा पथरीला टापू है। उस के सीधे खडे सागर-तट पर एक बडे सुदृढ और प्रायः ऊजेय दुर्ग के मीनार सिर उठाए आकाश से बातें करते थे। दयालु राजा ने यह दुर्ग अपने भाजे को भेंट कर दिया। उस के अतिरिक्त उसने थोडी सी नौकाएँ भी उसे दी और उस को अफसरों तथा सिपाहियों की एक टुकडी का नायक भी बना दिया।

इस अनुग्रह के बदले मे काहनूजी राजा की सेना मे भरती हो गया। मुगलों के साथ एक और झगडा खडा हो गया था। इस युद्ध मे काहनूजी ने ऐसे हाथ दिखाये कि गुण-ग्राहक राजा कृतज्ञता के भार से दब गया। भाग्यशाली तरुण

पर सम्मान और प्रतिष्ठा की वृष्टि करदी गई।

इस बीच में आंग्रे सोच रहा था कि मैं अपने टापू से क्या काम लूँ। सहसा उसके मन में एक मनोहर विचार उत्पन्न हुआ। योरोपीय व्यापारी पश्चिमी सागरों में जो अमित धन राशि लाते थे उसे देख इसे बड़ा आश्चर्य होता था। वह सोचता था कि इस धन का कुछ भाग मेरे खजाने में क्यों न जाय? उसने अपने ये विचार राजा पर प्रकट किए। वह भी कुछ कम उत्साही न था। उसने उसे रुपया, जहाज और सिपाही दिए। आंग्रे ने मजबूती के साथ अपने सागर-परिवेष्टित दुर्ग की किला-बन्दी करना शुरू कर दिया। अब वह अपने जहाजों में बैठ कर समुद्र में जाता और जो भी व्यापारी जहाज रास्ते में मिलता उसे लूट लेता। थोड़े ही समय में वह व्यापारियों के लिए एक हौआ बन गया।

परन्तु तरुण समुद्री डाकू अपने चट्टान से घिरे हुए छोटे से टापू पर सन्तुष्ट न था—उसके मन में इससे अधिक महत्वाकांक्षाएँ थीं। उसने कोई २० ००० मनुष्यों की सेना एकत्र की और नए मैदान मारने के लिए जहाजों में बैठ कर सागर तट के साथ साथ गया। भारत के मानचित्र पर यदि आप दृष्टि डालेंगे तो आप को बम्बई और गोआ के बीच आधे मार्ग पर गेरिया नाम का एक स्थान लिखा मिलेगा। पुर्तगीज़ों ने यहाँ कई मजबूत किले बनाए थे। आंग्रे इस परिणाम पर पहुँचा

कि इस स्थान को अपनी छावनी बना कर लूटमार के लिए इधर उधर चढाइयां करना अच्छा रहेगा। इस लिए यहां आशावान सेना को उतारा गया, और शीघ्र ही नारियल के पेडों से ढंके हुए मलाबार के सागर-तट पर एक बड़ा विकट और भयानक गढ खडा हो गया।

कल्पना कीजिए, एक चौडा और खुला बन्दर है। स्थल से एक मील के अन्तर पर एक पाषाणमय अन्तरीप सागर से सिर निकाल रहा है। सागर की हिलोरें लेती हुई तरङ्गमाला ने धो धो कर इसके मुह को गोल और चौरस बना दिया है। इस की चोटी पर एक बडा भारी दुर्ग है। दुर्ग के चारों ओर मोटी मोटी दीवारें और बगलों पर ऊंचे मीनार है। यह समुद्र की खौलती हुई असीम जल-राशि को घुडकी-भरी दृष्टि से देख रहा है। भूमि की एक तग धज्जी इस भूनासिका को तट के साथ जोडती है। यहां इस बालुकामय डमरूमध्य मे बडे बडे डॉक है। यहां सागर-दस्युओं के जहाजी बेडे बनाए और मरम्मत किए जाते है। इसी दुर्ग पर आंग्रे ने अधिकार कर लिया। कुछ वर्ष बाद इसी दुर्ग ने विदेशियों के छक्के छुड़ाए थे।

आंग्रे ने गेहिया लेने तक ही बस नहीं की। पुर्तगीज़ और दूसरे व्यापारियों को भगा कर उसने सागर-तट के साथ साथ एक चौबीस मील लम्बे और लगभग साठ मील चौडे भूभाग पर अधिकार कर लिया। यहां अनेक बस्तियां और

बन्दर बन गए, और आंग्रे मराठा बेड़े का शासक हो गया। एक अहाज वंदियों जाति के अरबी पर हिए आ रहा था। संयोग से वह आंग्रे के हाथ पड़ गया। इस से उसके मन में एक नया विचार उत्पन्न हुआ। उसकी सेना पहले ही बड़ी भयानक थी। अब युद्ध-सरदार मिल जाने से उस में और भी वृद्धि हो गई। उस नाना भांति की सेना में अनेक राष्ट्रों के लोग मिले हुए थे। हिन्दू, मूर, डचमैन, पार्चुगीज और फ्रेंचमैन, वरन् अंगरेजों ने भी सागर दस्यु की रक्त रंजित ध्वजा के सामने राज भक्ति की शपथ ली थी। ये सब साहसी, निर्भीक, निष्ठुर योद्धा, विवेक शून्य और दुरात्मा थे, जिन को उन के देश-वासियों ने उन के उच्छृंखल आचरण के कारण समाज से बहिष्कृत कर रक्खा था।

बड़े बड़े महाराजों के यहां जैसा ठाट बाट और शिष्टाचार होता है, वह सब काहनूजी ने उस सागर परिवेष्टित दुर्ग में स्थापित कर दिया। आस पास के रजवाड़ों और प्रान्तों के राजदूत पाद वन्दन के लिए उस के पास आने लगे। उसके सिंहासन के गिर्द समुज्ज्वल वस्त्रधारी लोगों की भीड़ लगी रहती थी। कीमती पोशाकों वाले जरनैल, सागर सेनापति और दूसरे उच्चपदाधिकारी सदा उसकी सेवा में उपस्थित रहते थे। ये कोई छैल-छबीले दरबारी नहीं थे—वरन भीषण डाकू थे, जिन की जड़ाऊ तलवारें और चमकती हुई कटारें

उनकी कभी तृप्त न होने वाली धनलोलुपता के असहाय और भयभीत शिकारों के रक्त में रँगी हुई थी ।

आंग्रे के उत्कर्ष की ऐसी ही कथा है। इस डाकू राजा को हम यहां छोडते हैं। यदि हम उस के अपने मामा, राजा, के विरुद्ध युद्ध करने, पडोसी प्रान्तों पर निडर होकर धावा बोलने और समुद्री लूट मे उसके हाथ पडने वाली बहुमूल्य सम्पत्ति आदि का सविस्तर वर्णन करने बैठें तो इसके लिए एक बडे ग्रन्थ की आवश्यकता होगी। हम ने उसके साहस के कार्यों का वर्णन कर दिया है हम उसे दूर दूर तक व्यापारियों के लिए हौआ और त्रास बना हुआ देख चुके है· अब हम बताएँगे कि उस को उसकी गर्वित स्थिति से कैसे गिराया गया और उस के दुर्ग के कलशों को तोड कर कैसे धराशायी किया गया।

❀ ❀ ❀

३५

उन्नत देश के देहाती कैसे रहते हैं

लेखक—श्रीयुत महावीर प्रसाद श्रीवास्तव, बी० ए०

[आप का जन्म इलाहाबाद जिले की तहसील हंडिया के गिरौली ग्राम में १८ अक्टोबर सन १८८३ को हुआ था। आप हिन्दी के पुराने प्रसिद्ध लेखक हैं। हिन्दी की बड़ी बड़ी पत्रिकाओं में आपकी अनेक लेख मालाएँ निकल चुकी हैं। आप अधिकतर ज्योतिष पर लिखते हैं। यही आपका प्रिय विषय है। आपकी प्रसिद्ध रचनाएँ दो हैं। एक का नाम है विज्ञान प्रवेशिका दूसरा भाग और दूसरी का सूर्य सिद्धान्त का विज्ञान-भाष्य। पिछली पुस्तक के ५ खण्ड ११००० पृष्ठों में छप चुके हैं। छठा खण्ड तथा भूमिका अभी बाकी है। आप इस समय गवर्नमेंट हाई स्कूल बलिया में प्रधान अध्यापक हैं।]

उन्नत देश के देहाती कैसे रहते हैं

यूरोप में डेनमार्क एक छोटा सा देश है। इसका क्षेत्रफल १४, ८२६ वर्ग मील और जन-संख्या तीस लाख के लगभग है। भारतवर्ष में लखनऊ कमिश्नरी का जितना क्षेत्रफल है उसका सवाया डेनमार्क का है। जनसख्या मे लखनऊ कमिश्नरी इससे बढी हुई है, क्योंकि १९११ की मनुष्य-गणना के अनुसार इसकी जनसंख्या साठ लाख है। डेनमार्क के मनुष्य अधिकतर खेती करते हैं, परन्तु यहां के खेतिहर निरे गँवार नही होते, वरन् इस प्रकार अपना जीवन विताते हैं कि भारतवर्ष के बहुत से नगरों के रहने वाले भी वैसा नहीं करते। ये खेतिहर गांवों मे रहते हुए और खेती करते हुए भी पढने-लिखने से इतना सम्बन्ध रखते है कि अपने देश मे तथा अन्य देशों मे क्या हो रहा है, इसकी वे पूरी जानकारी रखते हैं। अपने देश की पार्लामेंट मे कौन सदस्य प्रजा के हित का कितना ध्यान रखता है, यह उनसे छिपा नही रहता। इसी डेनमार्क के गांव-निवासियों के रहन-सहन के सम्बन्ध में कार्न-हिल मेगज़ीन* मे एडिथ सेलर नाम के सज्जन लिखते हैं कि "जिन जिन देशों को मैं जानता हूँ उनमें डेनमार्क ही अकेला ऐसा देश है जिसने यह दिखा दिया है कि देहात के रहने वालों को किस प्रकार जीवन व्यतीत करना चाहिए। यहां के देहाती बड़े ही चतुर होते है। इनको यह जानने की उतनी ही

*एक मासिक पत्रिका का नाम।

इच्छा होती है कि देश में और संसार में क्या हो रहा है, जितनी कि पढ़े लिखे नगर-वासियों की होती है। यहाँ की भाषा में जब पहले पहल किसान की प्रारम्भिक पुस्तकें सस्ती सस्ती छपीं तब नगर निवासियों से अधिक देहातियों ने ही इन को खरीदा। पार्लामेंट में स्थान चाहने वाले सदस्यों से देहात में ही भाँति भाँति के रहस्य के प्रश्न पूछे जाते हैं और यहीं के रहने वाले इनके कामों को बड़ी सावधानी से देखते रहते हैं और किसी अनुचित काम पर आलोचना करते हैं।

डनमार्क के गाँवों में ऐसा कोई घर नहीं है, जहाँ समाचार पत्र और पुस्तकें न मिलती हों और ऐसा कोई किसान नहीं है जो इँगलैंड और उपनिवेशों के सम्बन्ध में ब्रिटिश मजदूरों से अधिक जानकारी न रखता हो। बोअर युद्ध के समय मैं डनमार्क में था। उस समय मुझ से मालूम नहीं कितनी बार यह पूछा गया, कि इस युद्ध का क्या कारण है। एक बूढ़ी स्त्री के मुँह से यह सुनकर मुझे बड़ा आश्चर्य हुआ कि यदि* आलिवर क्रामवेल जीवित होते तो यह युद्ध न छिड़ने पाता। विज्ञान और राजनीति में ही यहाँ के किसान प्रेम नहीं दिखाते वरन् इतिहास, साहित्य और जनश्रुति में भी नगर निवासियों से अधिक रुचि दिखाते हैं। इन देहातियों की इस जिज्ञासा

* 'आलिवर क्रामवेल'—इँगलिस्तान के एक प्रसिद्ध जनरल जिन्होंने वहाँ के राजा प्रथम चार्ल्स को गद्दी से हटाया था।

वृत्त के लिए आश्चर्य करने की कोई बात नहीं है, क्योंकि इनको भी पढ़ने-लिखने और अध्ययन करने का उतना ही अवसर मिलता है, जितना किसी नगर-निवासी को मिल सकता है, वरन् नगर-निवासियों से देहातियों को पढ़ने-लिखने का अधिक समय मिलता है।

डेनमार्क के देहातियों की यह अनुपम दशा क्यों है, यह जानने के लिए उस संस्था के विषय में कुछ जानना ज़रूरी है, जिससे यहां के देहाती अपनी सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक उन्नति में समर्थ हुए हैं।

डेनमार्क के प्रायः प्रत्येक गांव में एक मिलन-मन्दिर होता है, जिसको उस गांव के निवासी अपने खर्च से बनाते हैं और जिस के प्रबन्ध के लिए अपने में से ही कुछ सदस्यों की समिति नियुक्त करते हैं। यह मन्दिर सारे गांव का सामाजिक केन्द्र होता है, जहां पुरुष और स्त्री सभी दिल बहलाने, पढ़ने और गपशप करने को इकट्ठे होते हैं। गांव की समृद्धि के अनुसार ही मिलन-मन्दिर का आकार होता है। कहीं कहीं तो यह देखने लायक एक रमणीक भवन होता है और कहीं पुरानी झोंपड़ी से ही काम लिया जाता है। चाहे मिलन-मन्दिर छोटा हो, चाहे बड़ा, प्रत्येक में एक सभा-भवन होता है, जिसमें प्रकाश का पूरा प्रबन्ध रक्खा जाता है

और जो इतना बड़ा होता है कि गाँव के सभी अवस्था के पुरुष स्त्री इसमें सुखपूर्वक बैठ सकते हैं। सभा भवन के एक किनारे एक चबूतरा होता है, और दूसरे किनारे वाचनालय और पुस्तकालय। कहीं कहीं वाचनालय और पुस्तकालय के लिए अलग कमरे रहते हैं। डेनमार्क के देहाती इस बात का बड़ा ध्यान रखते हैं, कि सब के पढ़ने लायक समाचार-पत्र ही नहीं वरन् साप्ताहिक और समालोचन पत्र और पत्रिकाएँ तथा पुस्तकें भी मिल सकें। यह बात भी नहीं है कि ये लोग पुस्तकालय की पुस्तकों पर ही भरोसा रक्खें। वे अपने पास से भी पुस्तकें मँगा मँगा कर पढ़ते हैं और यदि निर्धन हुए तो कई मिलकर किसी पुस्तक या समाचार-पत्र को मँगाते हैं और बारी बारी से पढ़ते हैं।

जिस गाँव का प्रबन्ध उत्तम हुआ वहाँ के मिलन मन्दिर में पढ़ने लिखने और गपशप के सिवा कोई न कोई ऐसा काम भी होता है जिसमें सारे गाँव के निवासी सम्मिलित होते हैं। जाड़े के महीनों में, सप्ताह में कम से कम एक दिन, सन्ध्या के समय, गाँव भर के युवक शारीरिक उन्नति के लिए इकट्ठे होते हैं। यहाँ एक अवैतनिक पहलवान सब को तरह तरह की कसरत सिखलाता है। सप्ताह में एक दिन बालक, युवा, वृद्ध, नर, नारी व्याख्यान सुनने के लिए आते हैं। महीने में दो

और वाग्वर्द्धिनी सभा होती है, जिस मे गांव के सब लोग आते है और वाद-विवाद करते है। नियम सिखलाने के लिए विश्व-विद्यालय के विद्यार्थी भी आते है। महीने मे दो बार गाने-बजाने की मण्डली भी अपना गुण दिखला जाती है। कभी कभी निजी नाटक-मण्डलियां भी लोगों के चित्त को प्रसन्न कर जाती हैं।

व्याख्यान-दाताओं को कभी पुरस्कार भी दे दिया जाता है, परन्तु अधिकतर व्याख्यानदाता लोक-सेवा और परोपकार के विचार से ही काम करते हैं, क्योंकि ये या तो किसी कालेज के प्रोफ़ेसर हुए, या विद्यार्थी, या राजनीतिज्ञ जो गांव का सुधारना भी ऐसा ही कर्तव्य समझते हैं जैसे पढ़ना-पढ़ाना।

छोटे से गांव में भी एक राजनीतिक संस्था होती है, जो गवर्नमेंट के कामों को ध्यान से देखती रहती है, और उचित काम के लिए चेतावनी देती रहती है। एक ऐसी संस्था भी होती है, जिस मे लोग तरह तरह के अस्त्र-शस्त्र चलाना सीखते हैं, जिससे काम पडने पर देश-रक्षा कर सकें। प्रायः प्रत्येक गांव मे एक कृषि-सुधारणी संस्था भी होती है, जिसके सदस्य यह विचार करते हैं कि भूमि की उपज किस प्रकार बढ़ाई जाय। इसी के साथ साथ सहयोग समिति भी होती है, जिसके द्वारा गांव के सब आदमी आवश्यक सामग्री खरीदते और अपने खेत की उपज बेचते हैं। ये सब समितियां सर-
[illegible] सम्बन्ध रखती हैं, जिस का काम

यह होता है कि नवीन अनुभव की बातें किसानों को समझाता रहे और अपने कर्मचारियों को देहातों में इसलिए भ्रमता रहे कि जो बात लोगों की समझ में न आवे उसे वे अच्छी तरह समझा दें।

इन मिलन मन्दिरों कृषि-सुधारणी समितियों तथा व्याख्यानों से ही डनमार्क के गाँवों में जैसी आदर्श उन्नति होनी चाहिए, होती है, परन्तु वहाँ के निवासी इतने से ही सन्तुष्ट नहीं रहते। किसान लोग हाई स्कूल और कृषि विद्यालय से भी काम लेते हैं। डेनमार्क की कुल जन-संख्या तीस लाख है, जिसके लिए ७५ हाई स्कूल हैं। उनमें किसान ही नहीं, वरन् किसानों की सहायता करने वाले मजदूर भी जाड़े के दिनों में जब कुछ काम-काज नहीं रहता इतिहास, साहित्य, अर्थशास्त्र राजनीति, स्वास्थ्य विज्ञान और अन्य उपयोगी बातें सीखते हैं। प्रतिवर्ष दस सहस्र शिक्षार्थी जिनमें एक तिहाई मजदूर होते हैं, फुरसत के महीनों में हाई स्कूलों में जाते हैं। ये जब पढ़कर अपने अपने गाँवों को लौटते हैं, तब जो कुछ नई नई बातें सीखते हैं उनको व्याख्यानों और वादविवादिनी सभाओं द्वारा गाँव वालों को सिखाते हैं। इन वाद विवादों से डनमार्क के किसानों को बड़ा लाभ होता है। इनसे उनकी बुद्धि तीव्र ही नहीं होती, वरन् उनको ऐसी बातों से भी प्रेम हो जाता है जिनका उनसे विशेष सम्बन्ध नहीं है। यह याद रखना

चाहिए कि वाद-विवादों मे सम्मिलित होकर लाभ उठाने मे एक टका भी खर्च नही करना पडता।

परन्तु, क्या डेनमार्क की यह दशा सदा से ऐसी ही चली आ रही है, और डेनमार्क के निवासियो को इसके लिए कुछ प्रयत्न नही करना पडा ? इतिहास उत्तर देता है, नही। इनकी वर्तमान समृद्धि का कारण उनकी पिछली आपत्तियाँ है। जब उनका समुद्री बेडा छिन गया, और उनके शक्तिहीन होने के कारण उनके देश का एक बडा प्रान्त, श्लेशविग-होल्स्टी, भी सन् १८६५ ईसवी मे शत्रुओ के हाथ चला गया, तब इस देश को इतना धक्का पहुँचा, कि नगर और गाँव सब जगह के रहने वाले किंकर्तव्य विमूढ हो गए और उन्हें यही जान पडने लगा कि अब उनका अन्त आगया, और अब वे सदा के लिए धूल मे मिल गए। ऐसा होने मे कुछ भी कसर न रहती यदि सच्चे देश-भक्तो की एक मण्डली जी-जान से, धर्म-पथ पर चलने वालो की नाई, श्रद्धा और विश्वास के साथ उन्नति करने के लिए कटिबद्ध न हो जाती। धर्मगुरु 'ग्रटविग' ने इंग्लैण्ड से हार खाने पर जो काम जारी किया था, उसी को इस मण्डली ने फिर जारी किया। यह मण्डली देश के एक सिरे से दूसरे सिरे तक जाती और लोगों को बडे ज़ोरदार शब्दों में सिखलाती कि 'जागो, उठो और अपने अपने काम में फिर लग जाओ. हाथ पर हाथ धरे बैठे रहना और भाग्य

की वासना पूरी करने का काम नहीं है।' इसका परिणाम यह हुआ कि देश में एकदम जागृति हो गई। एक दूसरे से ऐसा प्रेम हो गया जैसा पहले स्वप्न में भी नहीं समझा गया था। लोगों में यह भाव उत्पन्न हो गया कि बिना सब के मिले ऐसी आपत्ति के समय निर्वाह होना कठिन है। इसलिए जहाँ तक हो सके प्रत्येक को अपने देश भाई की सहायता करनी चाहिए और सबसे पहले किसानों को ही सहायता पहुँचाने की जरूरत है, क्योंकि यही सबके जीवनाधार हैं।

उस समय देहात की दशा बड़ी शोचनीय थी। बहुत सी भूमि अच्छी तरह बाढ़ न जाने के कारण ऊसर हो गई थी। किसान जितना बोझ उठा सकते थे उससे कहीं अधिक उनके सिर पर था, साथ ही साथ परिश्रम में भी ये लोग गिर हुए थे। इसलिए ऊपर वाली मण्डली का पहला काम यह था कि इन को इसकी शिक्षा दी जाय कि अच्छी खेती किस प्रकार हो सकती है। इस मण्डली ने उन कड़ी शर्तों को भी सुगम करने की चेष्टा की जिन पर किसानों को ऋण दिए जाते थे। वह बड़े बड़े कृषि विद्याविशारद गाँव गाँव घूम कर व्याख्यान देते, प्रयोग दिखलाते, खेती करने की वैज्ञानिक रीतियाँ बतलाते, खरीदने-बेचने के लिए सहयोग-समितियाँ स्थापित करने में किसानों की सहायता देते और समझाते कि एक दूसरे से मिल कर कैसे काम करना चाहिए। कुछ समय

मे वहाँ की सरकार भी इस काम मे हाथ बँटाने लगी। कृषि-विद्यालय और भ्रमणकारी स्कूल खोले गए, जो घूम घूम कर किसानों को ही नही, वरन् मज़दूरों को भी, उनके काम उनके पास जाकर सिखाते थे।

इस मण्डली ने ऐहिक उन्नति करने का ही बीडा नही उठाया था। इसने समझ लिया था कि अन्न-वस्त्र से ही मनुष्य-जीवन पूर्ण नही होता, वरन् इसके साथ साथ चरित्र-बल के उन्नत करने की भी आवश्यकता है। इस लिए उसने विचारा कि इन किसानो का जीवन तभी सफल होगा जब वे उदासी रूपी गढे से निकल कर संसार के दुःख-सुख का सामना प्रसन्नता-पूर्वक करें, उत्तम नागरिक बनें और केवल अपनी ही उन्नति न करें, वरन् देश को भी लाभ पहुँचावें, क्योंकि सब की भलाई के साथ अपनी भलाई होती है। वैसे तो इस मण्डली मे भिन्न भिन्न प्रकृति के मनुष्य थे, परन्तु उपर्युक्त बात पर सब का मत एक हो गया। कुछ तो किसानों को यह सिखलाने मे लगे कि खेती किस प्रकार की जाय जिस से उनको सब प्रकार का सुख मिले। कुछ इस यत्न मे थे कि कभी कभी मन बहलाने और चित्त को प्रसन्न रखने की सामग्री होनी चाहिए, और कुछ यह चाहते थे कि इन किसानों के हृदय मे ऐसी आशा उत्पन्न कर दी जाय कि वे अपना जीवन भले काम में लगायें। बडे बडे धर्मोपदेशक छोटे छोटे गाँवों के

गिरजाघरों में बड़े ही मनोहर धर्मोपदेश देते, धुरन्धर राजनीति विशारद गाँव व मैदानों में दिल को फड़का देने वाले व्याख्यान सुनाते, पुराने खलिहानों में नामी नामी गायक और बजैया सङ्गीत, नाटक और देश भक्ति की कविताओं द्वारा लोगों के चित्त को लुभाते और अपने पूर्वजों के वीर कर्मों की प्रशंसा द्वारा दिखलाते कि मनुष्य क्या कर सकता है और हम लोगों को आगे क्या करना चाहिए। सप्ताह में कम से कम एक दिन प्रत्येक गाँव में इस तरह का जमाव हुआ करता था। इसमें लोगों के मन बहलाने का ही ध्यान नहीं रक्खा जाता था, कुछ ऐसी चर्चा भी होती थी जिससे किसान स्वयं कुछ सोचें और विचारें, एक पंथ दो काज हो, उनका मन भी बहले और शिक्षा भी मिले। परिणाम यह हुआ कि थोड़े ही दिनों में किसान भाइयों को पढ़ने लिखने की चाट पड़ गई, जिससे पुस्तकों की माँग खूब ही बढ़ी और व्याख्याताओं से तरह तरह के प्रश्न करने का हिसाब पड़ने लगा, देश तथा संसार की बातें जानने के लिए मिलन मन्दिर की आवश्यकता जान पड़ने लगी, जिसे अपने खर्च से बनवा कर अथवा किराये पर लेकर वाचनालय तथा पुस्तकालय का प्रबन्ध किया जाने लगा, किसानों में जागृति होने से मण्डली का उद्देश्य पूरा हो गया। अब केवल इस बात की कमी थी कि कुछ समय तक यह काम ऐसे ही होता रहे। अन्त में, डेनमार्क के देहाती

गुणग्राहकता और चतुराई मे नगर-निवासियों से भी बढ गये।

भारतवर्ष के गांवों की बात सोचिए कि कितने शहर ऐसे हैं जहां पठन-पाठन का तथा विद्या, बुद्धि और बल मे उन्नति करने का लोगों को वैसा ही सुभीता है, जैसा डेनमार्क के छोटे छोटे गांवों मे है। यदि ऐसा सुभीता नहीं है, तो यहां के धर्म-शिक्षकों, राजनीति-विशारदों, प्रोफ़ेसरों, अध्यापकों और विद्यार्थियों का क्या कर्तव्य है ?

—महावीर प्रसाद श्रीवास्तव

३६

कृष्ण-चरित

लेखक—प्रोफेसर शिवाधार पाण्डेय

[आपका जन्म १ फरवरी सन् १८८८ को बुलन्दशहर में हुआ था। इनका निवास स्थान पुराना पीलखाना बाजार कानपुर है। आपने एल० एल० बी० पास करने के बाद कोई तीन वर्ष तक वकालत की। आजकल आप इलाहाबाद यूनिवर्सिटी में अँगरेजी के रीडर हैं। अँगरेजी पर तो आपका अधिकार है ही पर आप हिन्दी के भी अच्छे मर्मज्ञ हैं। आप कविता भी करते हैं।]

घनघोर घटा से घिरी हुई भादों की काली रात है, चारों ओर भयावना जङ्गल है, सिंह दहाड़ रहे हैं, हाथी चिग्घाड़

रहे हैं, ऊपर मेघों के झुण्ड के झुण्ड बारम्बार गरज रहे हैं, अन्धाधुन्ध अन्धकार के बीच बीच मे बिजली की चकाचौंध और भी अँधेरा कर देती है,जल मूसलाधार गिर रहा है, यमुना जी की नीली नीली लहर रेती से टकरा कर कलोलें करती हुई बराबर बढती चली आती है। ऐसे भीषण समय मे, एक पुरुष एक नन्हे से बच्चे को ऊपर उठाए हुए नदी को पैदल पार कर रहा है। बच्चा अभी एक दिन का भी नहीं है, परन्तु उसके जीवन पर सारे संसार का मङ्गल स्थित है, और उसके जन्म की बाट संसार के हित् देवता और महात्मागण बहुत दिनों से जोह रहे थे।

कई हज़ार वर्षों की बात है। पृथ्वी पर कराल कलिकाल आ रहा है। मनुष्य क्षीण और दुर्बल हो गये है। उनकी आत्मा मे बल नही है। उनके मस्तिष्क मे शक्ति नहीं है। पहले के बड़े बड़े नेता और महापुरुष—महाराज मनु, मर्यादा-पुरुषोत्तम रामचन्द्र, पृथ्वीनाथ पृथु, देवर्षि नारद, ब्रह्मर्षि याज्ञवल्क्य, राजर्षि जनक और भक्त-शिरोमणि प्रह्लाद—आदि एक भी अब ढूँढने से नही मिलते। धर्म की जड़ें ढीली पड गई है। परमात्मा मे विश्वास उठा जा रहा है। परोपकार की प्रेरणा इने गिने ही चित्तों मे उठती है। लोग अपने अपने ही भले मे मग्न हैं। स्वार्थ और सुख ही को उन्हों ने अपने जीवन का लक्ष्य बना लिया है। विलास और आनन्द तक ही सुख की सीमा मानी जा रही है। मनुष्य-मात्र की प्रकृति शिथिल पड

गई है।

जब किसी देश की अधिक आर्थिक उन्नति होती है, तब उसकी ऐसी ही दशा होती है। भारत में इस समय प्रत्यक्षरूप में किसी बात का अभाव नहीं है। देश धन से, बल से, विद्या से परिपूर्ण है। परन्तु यदि सच्ची दृष्टि से देखा जाय, तो उसकी इससे अधम अवस्था और नहीं हो सकती। भीतर ही भीतर अश्रद्धा, अविश्वास, अहङ्कार और औद्धत्य रूपी घुन शरीर को कुतर रहे हैं। केवल देखने भर ही का यह खोखला शरीर बाहर से सुन्दर स्वरूप में खड़ा हुआ है। न उसमें आत्म-बल है, न आत्म विश्वास है। आत्मा के स्थान में कोरा मन ही मन है।

देश में बड़े बड़े राजा हैं, बड़े बड़े राज्य हैं। कुरु, पाञ्चाल, मगध, मत्स्य मद्र, चेदि, विदर्भ, भोज, केकय, अङ्ग, वङ्ग, कलिङ्ग, पुण्ड्र उत्कल, पाण्ड्य, चोल, आन्ध्र, द्रविड़, सिन्धु, बाह्लीक, त्रिगर्त, कश्मीर, शाल्व, शाकल, गान्धार—आदि एक से एक शक्तिशाली राज्य स्थित हैं। काशी, अयोध्या, मथुरा, माहिष्मती, प्रस्थल, प्रयाग, प्राग्ज्योतिष, कुण्डिनपुर, शोणितपुर, हस्तिनापुर, अहिच्छत्र, गिरिव्रज, चम्पा, काम्पिल्या—आदि एक से एक समृद्धिशाली नगर उपस्थित हैं। भीष्म, द्रोण, द्रुपद, विराट्, कंस, जरासन्ध, हंस, डिम्भक, शल्य, शाल्व, भीष्मक, पाण्ड्य—आदि अनेकानेक वीर और यशस्वी योद्धा वर्तमान हैं। किरात, काम्बोज, शक, हूण,

चीन, बर्बर आदि अनेक म्लेच्छ देश उनके बाहुबल को स्वीकार कर चुके है, तथा अधीनता मानते और सहायता अर्पण करते आते हैं। सेनाओं की अक्षौहिणी की अक्षौहिणी चलती है। अद्भुत अस्त्रों का प्रहार होता है। सब प्रकार के सांसारिक पदार्थ भरे हुए है। देश सभ्यता के शिखर पर स्थित है।

परन्तु, वास्तव मे क्या नही है? ऐक्य का नाम नही। एक राजा दूसरे से लड़ा मरता है। इधर कुरु और पाञ्चाल मे द्वेष है, तो उधर मत्स्यों और त्रिगर्तों मे; केकय आदि कई देशों मे परस्पर का विरोध है। प्रजा की दशा दिन पर दिन शोचनीय होती चली जाती है। कंस, जरासन्ध सरीखे राजा खुल्लम खुल्ला अत्याचार करते है, दूसरे छुपा-छिपाकर; धींगा धींगी और मन-मानी चल रही है। कोई शासक-शक्ति या समूह नही है, जो प्रजा की रक्षा और देश का भला करे।

प्रजा मे स्वयं कुछ शारीरिक अथवा आध्यात्मिक शक्ति नहीं है। उसकी आध्यात्मिक अवस्था तो अथाह सागर मे गोते खा रही है। प्राचीन कर्म-काण्ड निरा आडम्बर से पूर्ण हो गया है। पुराने दर्शन और शास्त्र का साधारण जन-समाज पर कुछ प्रभाव नही पड रहा है। मनुष्य-मात्र अपने लक्ष्य को, अपने आदर्श को, भूला जा रहा है; जो स्मरण भी करते है, उन्होंने भी नैराश्य-सा धारण कर

लिया है। देश की सत्ता का नाश होने से भविष्य भयावने रूप का हो गया है।

ऐसी दशा में, ठीक अर्द्ध रात्रि के समय, उस आश्चर्यमान ज्योति का आविर्भाव हुआ जो सर्वकाल में स्थिर है और सर्वकाल तक स्थिर रहेगी। उसी ज्योति की अगमगाहट के एक कण मात्र प्रकाश का आज, यहाँ पर, थोड़ा बहुत दर्शन करना है।

हमारे पास इतना समय नहीं है कि हम उन क्षुद्र लोगों की बातों पर यहाँ ध्यान दें, जो इस दिव्य जीवन को जानने और समझने के स्थान में, उसकी व्यर्थ की बुराइयाँ कर पार अपनी मूर्खता दिखाते हुए अपने माथ पर मढ़ते हैं। कृष्ण का जीवन जितना ही उच्च है, उतना ही कुछ लोग उसे नीच करने का प्रयत्न करते हैं। एक की राय में कृष्ण गुजरात का एक चतुर राजा था जिसको अन्त में एक बहेलिए ने मार डाला; परन्तु महाराज गायकवाड़ में और श्रीकृष्ण में अनन्त अन्तर है। दूसरों की राय में कृष्ण एक धार्मिक नेता थे, जिन्होंने हत्या को उचित बतलाया और भारत में आलस्य का आधिक्य किया। कहना नहीं होगा कि भगवान् कृष्ण की दिव्य शिक्षा से ये लोग मुँह मोड़कर आँख-कान मूँद हुए हैं। तीसरे लोगों की घृणित राय में कृष्ण एक मनमौजी भाव युवक थे, जिन पर उन्हों ने संसार भर के दोषा

का भी बडा भक्त था, और स्नातकों की सर्वदा सहायता करता था, तथा ब्राह्मणों से आधी रात तक भी मिलता था, और उनसे किसी बात को नाहीं नही करता था, यह उसके चरित्र से प्रकट है। जरासन्ध के डर से दूसरे सब राजा लोग कांपते थे, परन्तु अकेले उसमे भारत भर को एक कर लेने की बुद्धि नही थी। यह थी शिशुपाल मे।

जिस प्रकार शरीर के भीतर का सारा अशुद्ध रुधिर जमा होकर एक फोडा निकल आता है, उसी प्रकार सारे दुष्ट लोगों का शिरोमणि मूर्तिमान् शिशुपाल था। हिरण्यकशिपु कोरा दैत्य था। रावण वेद का टीकाकार, ब्राह्मण का बेटा था, जो संसर्ग-दोष से राक्षस होकर मनुष्य-समाज से पतित होगया था। परन्तु शिशुपाल चलता फिरता पक्का मनुष्य था, न राक्षस न दैत्य। मनुष्य ही नही कृष्ण का सम्बन्धी, वसुदेव की बहन का लडका, चेदियों का शासक माहिष्मती का महाराज था। उसने जो षड्यन्त्र रचा था, उससे भारतवर्ष अत्याचार के अथाह सागर में अनन्तकाल के लिए डूब जाता। उसके प्रयत्न से पौण्ड्रक, भगदत्त, दन्तवक्र, रुक्म आदि अनेक राजा जरासन्ध के पक्ष के हो गये, और उसको भारत का अधीश्वर मानने में संकोच न करने लगे। यहां तक कि स्वय रुक्मिणी के पिता, श्रीकृष्ण के श्वसुर, विदर्भ ऐसे बड़े राज्य के अधिष्ठाता, महाराज भीष्मक भी जरासन्ध ही के दल के हो गये। ऐसी अवस्था

में श्रीकृष्ण का यदि भारतवर्ष का उद्धार करना था, तो बहुत शीघ्र। उन्होंने धर्मराज युधिष्ठिर को राजसूय यज्ञ करने का उपदेश कर भीम के द्वारा जरासन्ध का कौशल से नाश करवाया, और शिशुपाल के सौ अपराध क्षमा करने पर भी अपनी प्रकृति प्रेरणा से वह स्वयं उनकी तेजोऽग्नि में पतङ्ग की भाँति कूद पड़ा।

इसके पीछे जब श्रीकृष्ण ने देखा कि कौरव लोग भी किसी प्रकार सुधरने वाले नहीं हैं, अत्यन्त दुर्जन व अधर्मी और दुराचारी हैं, जिनके प्रचण्ड पाप पूर्ण प्रताप के आगे भीष्म और द्रोण ऐसे बड़े बड़े विश्वविजयी सरदारों को, विदुर और सञ्जय ऐसे बड़े बड़े राजनीति विशारद, राजवल्लभ महामन्त्रियों को चुप चाप सिर झुकाए भरी सभा में शकुनि के कपट द्यूत और द्रौपदी के चीर हरण सदृश दारुण दृश्यों को विवश होकर देखना पड़ा था, तो उन्होंने महाभारत को भी रोकना पसन्द नहीं किया, और उस अथाह संग्राम रूपी सागर में भारत भर का क्षत्रियत्व गोता खा गया। श्रीकृष्ण ने देश के कल्याण के लिए सारा पक्षपात छोड़ कर जिस प्रकार पाण्डवों से कौरवों का वध कराया था, उसी प्रकार अपने उद्दण्ड कुटुम्ब का नाश कराया। धर्मराज युधिष्ठिर के राज्य-भार में देश हित का कोई बाधा न खड़ी होने दी। यदि पृथ्वी पर कलि काल को आना था, तो श्रीकृष्ण ने पुरानी सारी बुराइयों को दूर कर, दूषित रुधिर को रुधिर की धारा द्वारा बहा कर, मनुष्यों को फिर

एक नया अवसर दिया कि वे सुधरे रहें और कलि के फन्दे में न फँसें। इस अवसर से पूरा लाभ न उठाने का दोष, शिथिलता और मानसिक दौर्बल्य से अधोगति ही को प्राप्त होने का दोष, श्रीकृष्ण पर नहीं है, मनुष्य-मात्र पर ही है।

कहा जाता है कि महाभारत करवा कर श्रीकृष्ण ने भारतवर्ष के पौरुष का नाश करा दिया और उसकी स्वाधीनता का लोप करा दिया। यह बिलकुल ठीक नहीं है। जब परशुराम ने इक्कीस बार ढूँढ ढूँढ कर क्षत्रियों को मारा था, तब भी क्षत्रियों का लोप नहीं हुआ था। बहुत से कुलों के बहुत से बालक बच गए थे, जिनके नाम पूर्ण-रूप से महाभारत में मिलेंगे, जिनसे उनके वंश फिर चले और कुरुक्षेत्र में अट्ठारह अक्षौहिणी क्षत्रिय आकर जमा हो गए। महाभारत के अश्वमेध-पर्व को पढने से मालूम हो जायगा कि महाभारत के पीछे भी अनेक क्षत्रिय घराने विद्यमान थे। महाराज युधिष्ठिर ने अर्जुन को साफ आज्ञा दे दी थी, कि जो कोई महाभारत में मारा गया हो, उसके किसी सम्बन्धी को तुम अब मत मारना। महाभारत के बाद क्षत्रियों का लोप नहीं हुआ, पर कमज़ोरी कुछ समय तक अवश्य हुई। कुछ भी हो, क्या पठानों से लडने के लिए पृथ्वीराज और जयचन्द के पास क्षत्रियों की कमी थी? कमी थी, तो न राजाओं की; पर दूसरी ही बात की, जिस की शिक्षा उनको श्रीकृष्ण भारत के इतिहास में काफी

सौर पर द गए थ, यदि उन में उससे लाभ उत्थान की वृद्धि होती।

सच तो यह है कि जिस प्रकार परशुराम के नाश होने के बाद मर्यादा पुरुषोत्तम रामचन्द्र का चरित्र देख कर भारतवर्ष ने फिर से रत्न धारण कर लिया था, उसी प्रकार महाभारत के बाद भगवान् श्रीकृष्ण के आदर्श से उसने फिर वृद्धि नहीं की। यह कलिकाल के प्रभाव और मनुष्यों की दुर्बलता का परिणाम है, श्रीकृष्ण पर इसका दोष लगाना वृथा है। उन्होंने एक सिर से एक बार फिर देश को नया कर दिया। धर्मराज्य स्थापित कर, धर्म का उपदेश कर सत्य धर्म का मार्ग बतला दिया। यदि भारतवर्ष ने श्रीकृष्ण के उस सरल।तिसरल धर्म मार्ग तथा कर्म मार्ग से लाभ नहीं उठाया, तो देश का दोष है, श्रीकृष्ण का नहीं।

श्रीकृष्ण ने धर्म का क्या मार्ग बतलाया—इस प्रश्न का उत्तर देना श्रीकृष्ण के जीवन के सच्चे तात्पर्य को जान लेना है। उपनिषदों में जिन को कृष्ण देवकीपुत्र कहा है, यह वही थे जिन्होंने एक बेर कलिकाल में गाता खाते हुए, आलस्य और विलासिता में डूबते हुए, मनुष्यों की आत्मा को फिर से नया कर देना चाहा। उनका उपदेश ऐसा था कि वह मुर्दे से भी मुर्दे मनुष्य को एक बार जीता जागता बना कर ही छोड़े। यह उपदेश 'भगवद्गीता' अर्थात् भगवान् का गीत है।

गीता संसार-साहित्य मे अपूर्व पुस्तक है। उसके कई भाव महाभारत में श्रीकृष्ण के मुख से जगह जगह निकले है। परन्तु जिस स्थान पर गीता स्वयं कही गई है वह अद्वितीय है। गीता उस से अमर है।

धर्मक्षेत्र कुरुक्षेत्र मे एकत्र, लडने के लिए तैयार, शस्त्र उठाए हुए, कौरवों और पाण्डवों की अट्ठारह अक्षौहिणियो के बीच मे एक अकेला रथ खडा हुआ है। सारा युद्ध ठहर गया है। वह रथ अर्जुन का है, और भगवान् कृष्ण अपना यह दिव्य गीत—नर को नारायण का सन्देश— कह रहे है, जिसको पान करने के लिए सब लोग चित्र लिखे से हो रहे है, और आगे भी होते रहेंगे।

अर्जुन की अवस्था प्रत्येक मनुष्य की अवस्था है। मनुष्य के जीवन-क्षेत्र मे अनेक स्थानों पर कठिनाइयां उपस्थित हो जाती है, मार्ग साफ नही मालूम देता। एक धर्म कहता है, यह मत करो; दूसरा कहता है, यह अवश्य करो। तब मनुष्य चकरा कर निराश हो जाता है कि वह किस प्रकार तय करे कि उसका कर्तव्य क्या है। गीता इसी का प्रत्यक्ष उत्तर है।

गीता का ज्ञान अनन्त है। उस पर भारतवर्ष के बडे बडे विद्वानों ने टीकाएँ लिखी है। उसके बिना श्रीकृष्ण के जीवन के उद्देश्य ही को निष्फल समझना चाहिए। इसलिए यहां पर उसका, कम से कम, सारांश ही कह देना आवश्यक है।

भगवान् ने कहा है कि मनुष्य को व्यर्थ का सोच न करना

चाहिए, आत्मा कभी नहीं मरती अथवा नाश होती--फिर सोच काहे का ? दु:ख और क्लेश उसको जरा भी नहीं व्याप होते। मनुष्य की आत्मा का नाश नहीं होता, उसका जीवन अनन्त है। प्रत्यक्ष में, मनुष्य संसार में मर जाता है, परन्तु असल में बराबर जीता रहता है। मनुष्य को चाहिए कि वह इसी असल अवस्था में हमेशा रहे। इस संसार के जीवन को ही अपना असली जीवन न मान बैठे। प्रश्न यह है कि उस सच्चे असली जीवन को मनुष्य किस प्रकार प्राप्त कर सकता है (क्योंकि वही मोक्ष, कल्याण और निर्वाण है)। देखना चाहिये कि वह सच्चा जीवन इस संसार का झूठा जीवन कैसे हो जाता है।

श्रीकृष्ण कहते हैं--माया के कारण। माया कैसे पैदा होती है ? कर्मों से। मनुष्य कर्म करता है, उसका फल होता है, उन फलों को वह भोगता है, दु:ख सुख जो कुछ हो, उसे भोगना होता है। वह अपना समय इस झूठे स्वर्ग नरक संसार में बिताता फिरता है। इसी से इस माया का, इस झूठे संसार का, और इस झूठे जीवन का अन्त नहीं होता। यदि माया छूट जाय, तो इससे भी छुटकारा मिल जाय और मोक्ष हो जाय।

माया कैसे छूट सकती है ? श्रीकृष्ण ने कहा है कि कर्मों से। कर्मों ही से वह पैदा होती है, और कर्मों ही से वह नाश भी होती है। पर कैसे कर्मों से ?--निष्काम कर्मों से। यही

श्रीकृष्ण का उपदेश है। कर्म करो, बराबर कर्म करो, परन्तु कैसे कर्म ?—निष्काम अर्थात् इच्छा रहित, स्वार्थ-रहित और वासना-रहित कर्म। इन कर्मों का कुछ फल नहीं होता, क्योंकि वह फल की कामना से नहीं किए गए हैं। उन का फल तुम्हारे लिए नहीं होगा, दूसरों के लिए होगा। संग्राम में सिपाही युद्ध करते हैं, शत्रुओं को मारते हैं। क्यों ? सेनापति की आज्ञा से, अपनी इच्छा से नहीं। उनका कर्म निष्काम है। उसका पाप-पुण्य उनको नहीं लग सकता। श्रीकृष्ण कहते हैं कि मनुष्य का 'ईश्वर का सिपाही' होना चाहिए। जो कुछ ईश्वर करावे, आँख बन्द कर निष्काम करना चाहिए। ईश्वर को प्रिय भले काम होते हैं, उनको मनुष्य करे; परन्तु कामना छोड़ कर। परिणाम यह होगा कि उसको उन कर्मों का कुछ फल न होगा। वह कामना से धीरे धीरे रहित हो जायगा। स्वर्ग-नरक के चक्र-व्यूह से छूट जायगा। माया उसको छोड़ देगी। यह झूठा जीवन भी छूट जायगा। उसका मोक्ष हो जायगा और वह सच्चे जीवन को प्राप्त होगा, क्योंकि उसका नाश तो हो ही नहीं सकता।

मोक्ष को मनुष्य बहुत कठिन समझते थे कि कहीं करोड़ों जन्म-जन्मान्तरों में जाकर प्राप्त होगा, परन्तु इससे सीधा रास्ता और क्या हो सकता है ! बुद्धि के अनुसार भी यह बिलकुल ठीक है। निष्काम कर्म ही मोक्ष का सीधा

सरल रास्ता है, यही भगवान् की शिक्षा है। कलिकाल में सीधा रास्ता बतलाए जाने की जरूरत थी इसीलिए भगवान् का अवतार हुआ था और उन्होंने रास्ता बतला दिया।

माया नाश करने के और भी रास्ते हैं। भक्ति, ज्ञान और कर्म ये तीनों मार्ग श्रीकृष्ण ने दिखलाये हैं, तीनों की प्रशंसा की है, और तीनों का आपस में सम्बन्ध बतलाया है। किस सीढ़ी से मनुष्य कितना दूर पहुँचता है और किस मार्ग से उसको कम कठिनाई होती है, यह भगवान् के उपदेश से प्रकट होता है। परन्तु सब से सरल मार्ग या सीढ़ी निष्काम कर्म ही की है, यह श्रीकृष्ण का सबसे बड़ा सन्देश है।

निष्काम कर्म के विषय में श्रीकृष्ण का यह भी उपदेश है—यदि मनुष्य में विद्या है, तो वह संसार से—सब भूतों से—प्रेम करेगा; यदि उसका सब जीवों से प्रेम होगा, तो उसका प्रकृति से प्रेम होगा; यदि प्रकृति से प्रेम होगा तो प्रकृति की आत्मा से भी होगा; यदि प्रकृति की आत्मा में प्रेम होगा तो वह परमात्मा पर भरोसा रक्खेगा। यदि परमात्मा पर भरोसा रक्खेगा, तो उसके कर्म भी निष्काम होंगे। निष्काम कर्मों से माया का नाश होगा भव सागर से मोक्ष होगा सच्चा जीवन प्राप्त होगा।

गीता में ऐसे ऐसे भाव हैं जो सारे संसार को एक करते हैं। मनुष्य मात्र भगवान् के सामने बराबर हैं— यही शिक्षा इन श्लोकों की शङ्ख ध्वनि द्वारा दी गई है।

भगवान् ने कहा है:—

"कोई बड़ा दुराचारी भी मेरी अनन्य रूप से सेवा करे, तो उसको साधु मानना चाहिए।"

"जो जो जिस जिस का भक्त होकर श्रद्धा-पूर्वक उसकी पूजा करता है, मैं उसी में उसकी भक्ति दृढ़ करता हूँ।"

"देवताओं की भक्ति करनेवाले देवलोक को जाते हैं, पितरों की भक्ति करने वाले पितृलोक को, भूतों के भक्त भूतों के लोक को और मेरी पूजा करने वाले मेरे लोक को।"

"पत्र, पुष्प, फल, जल जो कुछ मुझको भक्ति-पूर्वक दिया जाय, वही मैं प्रसन्नता-पूर्वक ग्रहण करता हूँ"—जैसे सुदामा के चावल या विदुर का साग।

"जो मेरी जिस प्रकार सेवा करते हैं, मैं भी उनको उसी प्रकार भजता हूँ। सारे मनुष्य मेरे ही मार्ग में लगे हुए हैं।"

"जो अपने ही समान सबको एक सा देखता है, सुख-दुःख सब को बराबर समझता है, वही योगी है।"

"मुझ से परे और कुछ नहीं है। जो करते हो, खाते हो देते हो, यज्ञ करते हो, तप करते हो, सब मुझको अर्पण करो।"

संसार के इतिहास में वेद को छोड़ गीता ही परम पुरानी ऐसी पुस्तक है जिसमें साफ साफ, सब से प्रथम परमेश्वर-द्वारा अपना पथ प्रकट किया जाना वर्णित है।

गीता से बढ़कर हित-कर उपदेश हमको कहाँ मिलता है।

यदि संसार ने भगवद्गीता से बहुत पूरा लाभ नहीं उठाया तो अब उठाने को तैयार हो रहा है। चारों ओर पूर्व पश्चिम, यूरप अमरिका चारों ओर इस अमूल्य रत्न का प्रकाश फैल रहा है, और मनुष्य मात्र अपने सच्चे जीवन को जान रहा है।

हम हिन्दू लोग मानते हैं और स्वयं श्रीकृष्ण ने कहा है—

'यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्॥'

'जब जब धर्म का क्षय और अधर्म का अभ्युदय होता है तब तब हे अर्जुन! मैं अपने को सृजता हूँ।' यह भगवान का वचन है। जहाँ मर्यादा पुरुषोत्तम के दो अक्षर के 'राम' नाम ही को हम परमेश्वर का नाम मानते हैं, वहाँ कृष्ण को कोई विशेष नाम लेकर भी नहीं पुकारते। केवल 'भगवान' ही कहते हैं। उनके लिए यही नाम यथार्थ है। भगवान् ही में सब कुछ है।

यत्र सत्यं यतो धर्मो यतो ह्रीरार्जवं यतः।
ततो भवति गोविन्दो यतः कृष्णस्ततो जयः॥

"जहाँ सत्य है, धर्म है, लज्जा है, सीधापन है, वहीं तो भगवान् पाये जाते हैं। जहाँ भगवान् हैं वहीं तो जय होती है।"

भगवान् कृष्ण ने जय का—संसार जय का—सीधा, सरल रास्ता बतलाया है। फिर क्यों न कहें?—

'यतः कृष्णस्ततो जयः।' अर्थात जहां कृष्ण है, वहां जय है।

जिनके हृदय मे कमल-दल-लोचन, दुरित-दुःख-मोचन, वृन्दावन-विहारी, भक्त-भय-हारी, भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र रहेंगे, उसकी अनन्त विजय होगी, इस मे सन्देह का नाम-मात्र नही। हमारा प्रत्येक हिन्दू से, प्रत्येक प्राणी से यही कहना हैः—

"गीता को मत भूलो। श्रीकृष्ण को मत भूलो।
निष्काम-मार्ग मे ही कल्याण है। भगवान् ही से निर्वाण है।'

३७

भरत

मूल लेखक—श्रीदिनेश चन्द्र सेन

अनुवादक—श्रीभगवानदास हालना और श्रीबदरीनाथ शर्मा

भरत के विषय में महाराज दशरथ ने कैकयी से कहा था—"रामादपि हि तं मन्ये धर्मतो बलवत्तरम्।" धर्म की दृष्टि से हम भरत को राम से भी श्रेष्ठ समझते हैं।'

भरत के चरित्र को वे विलक्षण रूप से जानते थे तथापि रामचन्द्र के वन जाने पर उन्होंने भरत को त्याज्य पुत्र और अपनी अन्त्येष्टि क्रिया करने के अयोग्य समझा। इस प्रकार निर्दोष—बिलकुल निर्दोष कहना भी ठीक नहीं—और रामायण काव्य के आदर्श चरित्र भरत के भाग्य में यह क्या

विडम्बना हुई। इसकी आलोचना करते हुए हमे दुःख होता है। पिता ने अन्याय करके उन्हें त्याग दिया। और कहाँ तक कहें, अयोध्या के जो सब दूत केकय राज्य मे उन्हें लेने गये थे, उन्होंने भी भरत के अयोध्या सम्बन्धी कुशल-समाचार पूछने पर कुछ क्रूर व्यग्य ही से कहा था कि—

"कुशलास्ते महाबाहोर्येषां कुशलमिच्छसि।"

"आप जिनकी कुशल पूछते है, वे सकुशल हैं।" अर्थात मानों भरत वास्तव मे दशरथ, राम, लक्ष्मण आदि की कुशल नही चाहते थे, किन्तु हृदय से वे कैकेयी और मन्थरा ही की कुशल मनाते थे। या तो सब दूत आपस मे मिलकर झूठ बोलते थे या निठुर बन व्यग्य छोडते थे। इस जगह इस पद का और कुछ अर्थ हो ही नही सकता। रामचन्द्र के वनवास होने पर अयोध्या के राजमहल मे जो भयानक वितण्डावाद हुआ, उसमे भी दो एक जगह इस निर्दोष राजकुमार पर अन्यायपूर्वक कटाक्ष किया गया है। प्रजा रामचन्द्र के वनवास के समय—

"भरते सन्निबद्धाःस्मि सौनिके पशवो यथा।"

"हम लोग कसाई के निकट पशुओं की तरह भरत के सामने खडे है"—यह कहकर आर्तनाद करती थी। इस साधु व्यक्ति को अपने अत्यन्त निकटस्थ सम्बन्धियों से भी अन्याय-पूर्वक लाञ्छित होना पडा था। रामचन्द्र भरत को इतना

अधिक प्यार करते थे कि उन्होंने बारम्बार 'मम प्राण प्रियतर' — हमारे प्राणों से भी प्यारे — कह कर भरत का उल्लेख किया है। कौशल्या से रामचन्द्र ने कहा था—"धर्म प्राण भरत की बात देख कर तुम्हें अयोध्या छोड़ने में हर्ष कुछ भी चिन्ता नहीं होती।' पर इन रामचन्द्र ने भी भरत पर सन्देह के दो एक वाण न छोड़े हों ऐसा नहीं है। उन्होंने माता से कहा था — तुम भरत के सामने हमारी प्रशंसा मत करना, क्योंकि ऋद्धियुक्त पुरुष दूसरे की प्रशंसा नहीं सुनना चाहता।" यह सन्देह क्षमा नहीं किया जा सकता। पिता दशरथ ने भी रामचन्द्र के राज्याभिषेक के समय भरत को सन्देह की दृष्टि से देखा था। उन्होंने राम को बुला कर कहा था— 'हम चाहते हैं कि मामा के यहाँ भरत के रहते रहते ही तुम्हारा अभिषेक हो जाय क्योंकि यद्यपि भरत धार्मिक और तुम्हारे पीछे पीछे चलने वाला है, तथापि मनुष्य का मन विचलित होते कितनी देर लगती है।' इक्ष्वाकु-वंश की परम्परागत प्रथा के अनुसार राजसिंहासन बड़े भाई ही को मिलता है, तो फिर ऐसी दशा में धार्मिकाग्रगण्य भरत पर ऐसा सन्देह करना माजनीय नहीं हो सकता। रामचन्द्र भरत के चरित्र की महिमा इतनी जानते थे तो भी वनवास के अन्त में भरद्वाज के आश्रम में उन्होंने हनुमान को यह कह कर भरत के पास भेजा कि 'हमारे आने की खबर सुन कर भरत के मुख पर कुछ विकार होता है या नहीं, यह अच्छी तरह

देखना।' यह सन्देह भी सर्वथा अमार्जनीय है। संसार में निरपराधी को भी कई बार दण्ड हुआ है, पर भरत के समान आदर्श धार्मिक को इस तरह के दण्ड देने का दृष्टान्त कहीं विरले ही मिलेगा। लक्ष्मण तो बारम्बार –

'भरतस्य वधे दोषं नाहं पश्यामि राघव।'

'भरत के वध करने में मैं कोई पाप नहीं समझता।' कह कर उछल-कूद करते थे। किन्तु उसी भरत ने अश्रुरुद्ध कण्ठ हो लक्ष्मण के विषय में कहा था—

'सिद्धार्थः खलु सौमित्रिर्यश्चन्द्रविमलोपमम्।
मुखं पश्यति रामस्य राजीवाक्षं महाद्युतिम्।

'लक्ष्मण, तू धन्य है जो राजीवलोचन रामचन्द्र के चन्द्रमा के समान उज्ज्वल मुख को देखता है।' भरत से सब लोगों के रुष्ट होने का कुछ न कुछ कारण अवश्य होगा। इतना बड़ा षड्यन्त्र रचा गया, क्या भरत ने परोक्ष में इसका किसी तरह अनुमोदन नहीं किया? अपने मामा युधाजित से परामर्श कर भरत दूर ही से डोर हिला कर कैकेयी को कठपुतली की तरह नहीं नचाते थे, इसका क्या प्रमाण है? इसी सन्देह की आशङ्का करके भरत ने वैराग्य की दशा में कैकेयी से कहा था—'जिस समय अयोध्या की सारी प्रजा रुद्धकण्ठ और सजल-नेत्र हो हमारी ओर देखेगी, हम उस का सह नहीं सकेंगे।' कौशल्या भरत को बुला कर कटु वाक्य कहने लगी। उन कटु वचनों से भरत को घाव में सुई छेदने के समान पीड़ा

हुए। देव के यज्ञ में पड़ कर देवताओं के समान चरित्र-सम्पन्न भरत सारे संसार के सन्देह भाजन हो लाञ्छित हुए। जब वे रामचन्द्र को मनाने के लिये बहुत सी सेना लेकर जा रहे थे, तब निषादों का राजा गुह मन में यह विचार कर कि ये रामचन्द्र का अनिष्ट करने के लिए जाते हैं, हाथ में लट्ठ लेकर रास्ते में खड़ा हो गया। यहाँ तक कि भरद्वाज ऋषि तक ने भय की दृष्टि से देखते हुए उन से यह पूछा—'आप उस निष्पाप राजपुत्र के पास कोई पाप विचार कर तो नहीं जाते हैं?' इस प्रकार हर एक का समाधान करते करते भरत के प्राण कण्ठगत हो गये। भरत कैकेयी को 'मातृरूप महामित्र' कह कर सम्बोधन करते थे। वास्तव में कैकेयी माता के रूप में उनकी बड़ी भारी शत्रु ही थी। सारे संसार की भरत पर जो सन्देह की दृष्टि का विष-बाण गिरता था, उसका मूल कारण कैकेयी ही थी।

किन्तु घटनाक्रम कितना ही जटिल भाव क्यों न धारण कर, पर भरत के अपूर्व भ्रातृ स्नेह ने सारी जटिलता को सहज कर दिया था। रामचन्द्र को हमने अनेक अवस्थाओं में सुखी होते देखा है। जिस समय चित्रकूट की पुष्प-वाटिका की शोभा और टूटे फूटे पत्थरों के टुकड़ों से ढाई हुई अविरलता भूमि में अधिष्ठित पवन के शिखर और रंग बिरंगे फूलों को देख कर रामचन्द्र ने सीता से कहा—"इस स्थान पर तुम्हारे

संग विचर कर हम अयोध्या के राज्यपद को तुच्छ समझते हैं" उस समय दम्पति का निर्मल आनन्दमय चित्र हमे बडा ही सुन्दर और सुखप्रद बोध होता है। रामचन्द्र रूपी आकाश कभी बादलों से घिर जाता और कभी स्वच्छ हो जाता था। किन्तु भरत का सदा ही खिन्न चित्र मर्मान्तिक करुणा के योग्य था। जिस समय भरत रामचन्द्र को लौटाने के लिए आए उस समय रामचन्द्र उनकी जटिल, कृश और विवर्ण मूर्ति को देख कर चकित हो गए और उन्हे बडी कठिनाई से पहचाना।

भरत का चित्र प्रदर्शन करने के अभिप्राय से जिस समय कवि-गुरु ने पहले ही पहल पर्दा उठाया, उसी समय उनकी मूर्ति विषण्णतापूर्ण थी। वे इस बुरे स्वप्न को देख कर प्रातः काल उठे कि नर्तकियाँ उनके प्रमोद के लिए उनके सामने नृत्य कर रही है, सखा लोग व्यग्रचित्त हो कर कुशल पूछ रहे है और भरत का चित्त भारी और मुख श्री-हीन है। अयोध्या की विषम विपत्ति के पूर्वाभास ने मानो उनके मन पर अधिकार कर लिया था और वे किसी प्रकार स्वस्थ नहीं होते थे। इसी समय उनको लेने के लिए अयोध्या से दूत आए। व्यग्र कंठ से भरत ने दूतों से अयोध्या के सब लोगों की अलग अलग कुशल पूछी। दूतों ने दो अर्थ वाला उत्तर दिया—

"कुशलास्ते महाबाहो येषां कुशलमिच्छसि।"

'हे महाबाहो! आप जिनकी कुशल पूछते हैं वे सकुशल हैं। किन्तु पिछली रात का बुरा स्वप्न और दूतों की व्यग्रता ये दोनों उन्हें एक समस्या के समान समझ पड़े। इन दो घटनाओं की दुश्चिन्ता के सूत्र में बाँध कर वे अत्यन्त दुःखी हुए।

बहुत से स्थान, नदी नाले और झाड़ियों पार करके भरत दूर ही से अयोध्या की हिरण्यामल वृक्षावली को देख सकते थे और हरी हुई जबान से उन्होंने सारथी से पूछा—"अयोध्या तो तो नहीं मालूम होती। इस नगरी का वह चिरश्रुत तुमुल शब्द क्यों नहीं सुनाई पड़ता? वेदपाठी ब्राह्मणों का कण्ठस्वर और काम में लगे हुए स्त्री पुरुषों का कोलाहल भी बिलकुल नहीं सुनाई देता। जिन प्रभात उद्यानों में स्त्री पुरुष अकेले विचरते थे, वे आज सूने पड़े हैं। सड़कें चन्दन और अगर के छिड़काव से पवित्र नहीं होतीं। सड़कों पर रथ, हाथी, घोड़े कुछ भी नहीं हैं। जिसके सब दरवाजे खुले हैं, ऐसी श्री-हीन राजपुरी मानो व्यंग्य कर रही है। यह तो अयोध्या नहीं है, मानो अयोध्या का वन है।'

वास्तव में अयोध्या श्री-हीन हो गई थी। रामचन्द्र रूपी चन्द्र के बिना अयोध्या के सुन्दर बाजारों की शोभा बिलकुल नष्ट हो गई थी। तीनों लोकों में यशस्वी महाराज दशरथ ने पुत्र-शोक में अपने प्राण त्याग दिए थे। अभिषेक के उत्सव से आनन्दित बड़े राजकुमार मुनियों के वेष में वन को चले

गए थे और हाथों के कङ्कण, कडे और अन्य आभूषण सखियों को वितरण कर अयोध्या की राजवधू तपस्विनियों के वेश मे अपने स्वामी के संग हो ली थी। जिनकी दोनों लम्बी और सुडौल भुजाएँ अङ्गद प्रभृति सब आभूषण धारण करने के योग्य थी, ऐसे "स्वर्णच्छवि" लक्ष्मण भाई और भाभी के पैरों के पीछे जा रहे थे। अयोध्या मे घर घर इन तीनों देवताओं के लिए करुणा के आंसुओं की नदी बह रही थी। हा, अब वे वन मे रहते हैं और राजमहल त्याग दिया है। सुमन्त ने ठीक ही कहा था कि सारी अयोध्या पुत्रहीना कौशल्या की दशा को प्राप्त हुई है।

किन्तु भरत यह सब कुछ नहीं जानते थे। उन्होंने चुपचाप प्रतिहारियों का अभिवादन स्वीकार किया और बड़े उत्कण्ठित चित्त से पिता के महल मे गये, पर वहां पिता को नहीं पाया—

"राजा भवति भूयिष्टमिहाम्बायाः निवेशने।"

'कैकेयी के महल में महाराज अनेक समय रहते थे,' अत-एव भरत पिता को ढूँढ़ते ढूँढ़ते माता के महल मे पहुँचे।

सद्योविधवा कैकयी आनन्द से फूली नहीं [illegible]

वह पतिघाति [illegible] के भावी अभिषेक के [illegible]

मन ही [illegible] कर सुखी हो रही थी। [illegible]

कर [illegible] न हुई। जब भरत ने [illegible]

पूछा [illegible]

"या गति सयभूताना ता गति त पिता गत ।"

'सब प्राणियों की जो गति होती है वही गति तुम्हारे पिता की हुई है। इस समाचार को सुन कर कुठार से कटे गए वन वृक्ष की तरह भरत पृथिवी पर गिर पड़े।

'क स पाणि सुखस्पर्शस्तातस्याक्लिष्टकर्मण ।'

अक्लिष्टकर्मा पिता के हाथ के स्पर्श का वह सुख अब कहाँ मिलेगा?' यह कह कर भरत रोने लगे। राजा के बिना राजशय्या उन्हें चन्द्रमा के बिना आकाश के समान दिखाई पड़ी। उन्होंने कैकेयी से कहा—"राम कहाँ हैं? इस समय पिता के न होने पर जो हमारे पिता, जो हमारे बन्धु और मैं जिनका दास हूँ—उन रामचन्द्र के दर्शन के लिए हमारा प्राण व्याकुल हो रहा है।" राम, लक्ष्मण और सीता का वनवास हुआ सुन कर भरत क्षण भर के लिए मूर्ति के समान खड़े रह गए और भाई के चरित्र में आशंका करने वाले—"राम ने क्या किसी ब्राह्मण का धन छीन लिया था? क्या उन्होंने दीन दुखियों को सताया था? अथवा परस्त्री में आसक्त हो गये थे, जिससे उन्हें निर्वासन का दण्ड मिला?" अन्तिम प्रश्न के उत्तर में कैकेयी ने कहा—

'न राम परदारान् चक्षुर्भ्यामपि पश्यति।'

'रामचन्द्र पराई स्त्रियों को आँखों से भी नहीं देखते।'

अन्त में भरत की उन्नति और राजश्री की कामना से कैकेयी ने जो सब लीला रची थी, उसे कह कर वह पुत्र को प्रसन्न करने की प्रतीक्षा में उनके मुख की ओर देखने लगी।

घने बादलों ने मानो आकाश को घेर लिया था। धर्मप्राण विश्वस्त भ्राता क्षण भर तक इस दुःख-संवाद का मर्म समझने में समर्थ नहीं हुए। उन्होंने माता को जो धिक्कार दी, उसे हम उसकी महादुर्गति का स्मरण कर सम्पूर्ण रूप से समयोपयोगी समझते हैं। तू धार्मिकवर अश्वपति की कन्या नहीं है, उनके वंश में तू राक्षसी पैदा हुई है। तूने हमारे धर्मवत्सल पिता का नाश कर दिया है और भाइयों को गली गली का भिखमँगा बना दिया है। तू नरक में पड।' जिस समय कातर कण्ठ हो कर भरत ये बातें कह रहे थे, उस समय दूसरे महल में कौशल्या ने सुमित्रा से कहा—'भरत की आवाज सुनाई पडती है। वह आ गया है। उसे हमारे पास बुला।' कृशाङ्गी सुमित्रा ने भरत को बुलाया। तब कौशल्या ने कहा—'तुम्हारी माता तुमको लेकर निष्कंटक राज्य भोगे, तुम हमको राम के पास पहुँचा दो।' इन कटु वचनों से मर्मविद्ध हो कर भरत ने कौशल्या के सामने अनेक शपथें खाईं कि वे इस मामले के षड्यन्त्र को रत्ती भर भी नहीं जा[illegible]ते। अपनी बात को अनेक प्रकार से समझाने की चे[illegible] शोक और लज्जा के मारे

भरत का चेहरा कुम्हला गया और वे अपने को बारम्बार कोसने और शाप ठहराने लगे। मार से शोक और दारुण शोक के कारण वे मूर्छित हो कर पृथ्वी पर गिर पड़े। करुणामयी अम्बा कौशल्या धर्मभीरु कुमार के मन के भाव को समझ गई और उन्हें गोद में उठा कर रोने लगी।

भरत का शोक और उदासीनता क्रम से बढ़ चली। श्मशान भूमि में मृत पिता के गले से लग कर वे रोते रोते बोले—'हे पिता, अपने दोनों प्यारे पुत्रों को वन भेज कर आप कहाँ जाते हैं?' सजल नेत्र और शोकविमूढ़ राजकुमार को वशिष्ठ ने ताड़ना कर के पिता की अन्त्येष्टि क्रिया करने में प्रवृत्त किया। शोक विह्वल हो कर भरत एक बेर मूर्छित होकर गिर पड़े।

प्रात काल वन्दीजन भरत की स्तुति गाने लगे। उस समय भरत ने पागलों की तरह दौड़ कर उन्हें मना कर दिया—'इक्ष्वाकु-वंश की प्रथा के अनुसार सिंहासन बड़े राजकुमार को मिलता है। तुम किस की वन्दना कर रहे हो?' राजा की मृत्यु के चौदहवें दिन वशिष्ठ आदि मंत्रियों ने भरत से राज्य ग्रहण करने का अनुरोध किया। भरत बोले—'रामचन्द्र राजा बनेंगे। हम अयोध्या की सारी प्रजा को लेकर उन्हें पैरों पड़ कर मना लावेंगे। यदि वे न लौटें, तो हम भी चौदह वर्ष वन में रहेंगे।'

शत्रुघ्न मन्थरा को मारने और कैकयी को . .

किन्तु क्षमा के अवतार भरत जी ने उन्हें मना कर दिया।

सब अयोध्यावासी रामचन्द्र को लौटाने के लिए चल पड़े। शृङ्गवेरपुर मे गुह के साथ भरत का साक्षात्कार हुआ। गुह ने भरत पर पहले सन्देह किया था, किन्तु भरत के मुख को देख कर उसे उनके हृदय का भाव जानने में देर नही लगी। इंगुदी के वृक्ष के नीचे रामचन्द्र ने तृण-शय्या पर कुछ जलपान कर एक रात्रि व्यतीत की थी। वह तृण-शय्या रामचन्द्र के विशाल बाहुओं की रगड से दब गई थी और सीता के वस्त्रों से गिरे हुए स्वर्ण-बिन्दु तृण पर दिखाई देते थे। यह दृश्य देखते देखते भरत मौन हो एकटक खड़े रह गये। गुह बातें करता था, पर भरत सुन नहीं सकते थे। भरत को संज्ञाशून्य देख कर शत्रुघ्न उनसे लिपट कर रोने लगे। रानियां और मंत्री लोग शोक से विह्वल हो गये।। बहुत यत्न से जब भरत होश में आये, तब उन्हों ने नेत्रों मे जल भर कर कहा—'क्या यह उन्हीं की शय्या है, जिन्हें सदा आकाशस्पर्शी राजप्रासाद मे रहने का अभ्यास है—जिनके गृह पुष्प-माला, चित्र और चन्दन से सदा चर्चित रहते हैं—जिनके महल का शिखर नृत्यशील पक्षियों और मोरों की विहारभूमि है और गाने-बजाने के शब्द से सदा मुखरित रहता है और जिसकी स्वर्ण की दीवारों पर आदर्श चित्रकारी का काम किया हुआ है? उसी गृह के स्वामी इंगुदी के नीचे रहे हैं! ये बाते स्वप्न सी मालूम पडती हैं, मैं विश्वास

के योग्य नहीं हैं। हम क्या मुँह लेकर राजचन्द्र धारण करेंगे? भोग विलास की वस्तुओं से हम प्रयोजन नहीं। हम आज ही से जटा-वल्कल धारण करेंगे, भूमि पर सोएँगे और फल फूल खा कर अपना जीवन व्यतीत करेंगे।'

इस प्रकार जटा-वल्कलधारी शोकविमूढ राजकुमार भरद्वाज मुनि के आश्रम में जा कर रामचन्द्र का पता लगाने लगे। सरल ऋषि ने भी पहले सन्देह प्रकट कर भरत के मन को पीड़ा पहुँचाई थी। एक रात्रि भरद्वाज के आश्रम में आतिथ्य सत्कार ग्रहण कर मुनि के निर्देशानुसार राजकुमार ने चित्रकूट की ओर प्रस्थान किया। भरद्वाज ने भरत के डेरों में आ कर रानियों को देखना चाहा। भरत ने इस प्रकार माताओं का परिचय दिया—भगवन्, यह जो शोक और निरादर से क्षीण देह, सौम्य मूर्ति और देवताओं की तरह दिखलाई पड़ती हैं, वह हमारे अग्रज रामचन्द्र की माता हैं। वह जो वाम हाथ का सहारा लगाए उदास खड़ी और वन में सूखे हुए कर्णिकार पुष्पों के पेड़ की तरह शीर्णांगी हैं, लक्ष्मण और शत्रुघ्न की जननी सुमित्रा हैं। और उन के पास ही वह, जिस ने अयोध्या की राजलक्ष्मी को विदा कर दिया है, वह पति घातिनी और सार अनार्थ की मूल वृथा प्रज्ञामानिनी और राज्यकामुका इस अभागे की माता है।' यह कहते कहते भरत के दोनों नेत्रों से जल बहने लगा और क्रुद्ध सर्प की तरह

उन्होंने एक बार अश्रुपूर्ण चक्षुओं से माता की ओर देखा।

चित्रकूट के पास पहुँच कर माताओं और मन्त्रियों को लिए हुए भरत ने रथ त्याग दिया और पैदल चलने लगे।

उस समय रमणीय चित्रकूट पर अर्क और केतकी के पुष्प खिल रहे थे और आम और लोध के पके हुए फल डालियों पर लटक रहे थे। चित्रकूट पर्वत पर कहीं टूटे फूटे पत्थर के टुकड़े पड़े हुए थे, कहीं नीचे की अधित्यका भूमि पुष्पों के लगने से रमणीय बगीचों की तरह सुन्दर मालूम होती थी और कहीं पर्वत के एक गात्र से एक शैल-शिखर ऊँचा उठ कर आकाश का ही चुम्बन कर रहा था। पास ही मन्दाकिनी कभी किनारे पर आ जाती और कभी उसकी छोटी सी धारा वृक्षों की नील आभा ही मे विलुप्त हो जाती थी। कहीं मन्दाकिनी की लहरें वायु के वेग से इस प्रकार फर्राटे ले रही थीं, मानों सुन्दरियों के शरीर से वस्त्र ही उड़ रहे हों। और कहीं झरनों के प्रवाह से पर्वती फूल अपनी ही छटा दिखा रहे थे। इस दृश्य को देख कर रामचन्द्र ने सीता से कहा—'राज्यनाश और सुहृद्विरह हमारी समझ मे हमें कोई पीड़ा नहीं दे रहा है। हम इस पर्वत की दृश्यावली का निर्मल आनन्द सम्पूर्ण रूप से उपभोग कर सकते हैं।'

इस बात के समाप्त होते न होते आकाश सहसा बड़े भारी शब्द से गूँजने लगा, धूल से दसों दिशाएँ छा गईं और

तुमुल शब्द से पशु पक्षी चारों ओर भागने लगे। रामचन्द्र ने प्रसन्न हो कर लक्ष्मण से जिज्ञासा की—'देखो, क्या कोई राजा या राजपुत्र इस वन में शिकार खेलने आया है? अथवा किसी भीषण जन्तु के आने से इस सौम्य निर्जन की शान्ति इस प्रकार भङ्ग हो रही है?' लक्ष्मण दोघपुष्पित शाल वृक्ष पर चढ़ कर इधर उधर देखने लगे, तो उन्हें पूर्व दिशा में फौज दिखाई पड़ी। उसे देख कर वे बोले—'अग्नि बुझा दो, सीता को कहीं गुफा में छिपा दो और अस्त्र शस्त्र ले कर सुसज्जित हो जाओ।' किसकी फौज आ रही है? क्या कुछ समझ में आया?' लक्ष्मण ने इस प्रश्न का उत्तर दिया—'पास ही वह वृक्ष जो दिखाई पड़ता है उसके पत्तों में से भरत की कोविदारयुक्त * रथ की ध्वजा दिखाई पड़ती है। अभिषेक होने से उनका मनोरथ पूर्ण नहीं हुआ। अपने राज्य की शोभा को निष्कण्टक करने के लिए भरत हम लोगों का वध करने के लिए आये हैं। आज हम इस सब अनर्थ के मूल भरत का वध करेंगे।'

रामचन्द्र बोले—'भरत हमें लौटाने के लिए आये हैं। सब बातों को अच्छी तरह जान कर हमसे सदा स्नेह करने वाले, हमारे प्राणों से भी प्यारे भरत स्नेहार्द्र हृदय से पिता को प्रसन्न कर हमें लेने के लिए आये हैं। तुम उन पर अन्याय करने का

* भरत की फौज के झंडे का निशान 'कोविदार' था।

क्यों सन्देह करते हो? भरत ने कभी हमारे साथ बुराई नहीं की। तुम उन्हें क्यों ऐसे क्रूर वचन कहते हो? यदि राज्य के लोभ से तुमने ऐसा किया है, तो भरत से कह कर निश्चय ही हम राज्य तुम्हें दिला देंगे।' धर्मशील भ्राता की इन बातों से लक्ष्मण बड़े ही लज्जित हुए।

थोड़ी देर बाद ही भरत आ उपस्थित हुए। उपवास से कृश और शोक की जीवन्त मूर्त्ति देवोपम भरत रामचन्द्र को तृण के ऊपर बैठे देख कर बालक की तरह फूट फूट कर रोने और कहने लगे—'जिनके मस्तक पर स्वर्ण-छत्र शोभा पाता था, उस राजश्री से उज्ज्वल ललाट पर आज जटाजूट कैसे बँधे हैं? हमारे अग्रज का शरीर सदा चन्दन और अगर से मार्जित होता था। आज वह अङ्गराग से रहित है और उसकी कान्ति धूल-धूसरित हो रही है। जो सारे विश्व के प्राणियों के आराधन की वस्तु थे, वे ही आज वन वन में भिखमँगे की तरह टकराते फिरते हैं। हमारे लिए ही यह सब कष्ट आप भोग रहे हैं। हमारे इस लोकगर्हित और नृशंस जीवन को धिक्कार है!' इस प्रकार कहते और उच्च स्वर से रुदन करते हुए भरत रामचन्द्र के पैरों में जाकर गिर पड़े। इन दोनों त्यागी महापुरुषों का मिलाप बड़ा ही करुण है। भरत का मुख सूख गया था; उनके माथे पर जटाजूट बँधे थे और शरीर पर वे चीर धारण किये हुए थे। रामचन्द्र ने विवर्ण

और इस भरत को कठिनता से पहचाना । उन्होंने बड़े आदरपूर्वक भरत को जमीन से उठा लिया और उनके सिर को सूँघ और हृदय से लगा कर बोले—'वत्स, तुम्हारा यह वेष क्यों ? तुम्हें इस दशा में वन में आना उचित नहीं था।'

भरत बड़े भाई के चरणों में लेट गये और बोले—'हमारी जननी घोर नरक में गिर पड़ी है, आप उस की रक्षा कीजिये। मैं आप का भाई हूँ, शिष्य हूँ और दासानुदास हूँ । आप मुझ पर प्रसन्न हो अयोध्या चल कर सिंहासन पर बैठिये' । बहुत बातें हुईं और बड़ा तर्क वितर्क हुआ । राम बोले—'हम चौदह वर्ष तक वन में वास करेंगे । महाराज की प्रतिज्ञा पालन करना हमारा कर्तव्य है।' जब राम को किसी प्रकार अयोध्या चलने के लिए राजी न कर सके, तो भरत अनशन व्रत धारण कर उनकी कुटि के द्वार पर धरना देकर पड़ गये । भूमि पर लोटे हुए भरत को रामचन्द्र ने आदरपूर्वक उठा कर अपनी पादुकाएँ प्रदान कीं । भाई के पद रज से विभूषित पादुकाएँ भरत के जटाजूट को शोभित कर उनके शिर पर मुकुट के समान देदीप्यमान हो रही थीं । सहस्रों आभूषणों से जो शोभा नहीं आ सकती, इन पादुकाओं ने भरत को वही अपूर्व राजश्री प्रदान की । भरत ने विदा होते समय कहा—'चौदह वर्ष तक हम आप की प्रतीक्षा में इन पादुकाओं की आज्ञा लेकर राज्य का काम चलावेंगे । यदि इतने समय में आप नहीं आये, तो

अग्नि मे हम अपना प्राण होम देंगे।' अयोध्या के समीप पहुँच कर भरत बोले—'अयोध्या वह अयोध्या नही है। हम इस विना सिंह की गुफा मे प्रवेश नही कर सकेंगे।' नन्दीग्राम मे राजधानी बनाई गई। पर वह राजधानी नहीं, ऋषि का आश्रम था। मन्त्री लोग जटा-वल्कल-धारी और फलमूलाहारी राजा के पास बहुमूल्य वस्त्र धारण कर कैसे बैठेंगे, यह विचार कर उन सब ने कषाय वस्त्र पहनना आरम्भ कर दिया। सचिव वृन्द की सहायता से इस कषाय वस्त्रधारी, व्रत और उपवास से कृशांग और त्यागी राजकुमार ने रामचन्द्र की पादुकाओं के ऊपर छत्र धारण कर चौदह वर्ष तक राज्य कर प्रजा का पालन किया।

भरत की वह विवर्ण मूर्त्ति राम के चित्त मे कांटे की तरह बिध गई थी। जिस समय सीता के हरण होने पर वे पम्पा के किनारे उन्मत्त की तरह घूम रहे थे, उस समय उन्होंने कहा था—'इस पम्पा-तीर की रमणीय दृश्यावली सीता के विरह और भरत के दुःख मे हमे रमणीय नहीं मालूम होती।' और एक दिन लङ्का मे रामचन्द्र ने सुग्रीव से कहा था—'बन्धु भरत के समान भाई इस संसार में कहां मिलेगा!'

जब रामचन्द्र लौट कर अयोध्या को आये, तब भरत उन्ही पादुकाओं को अपने हाथों से उनके चरणों मे पहना कर कृतार्थ हुए और रामचन्द्र के चरणों मे प्रणाम

करते थाते--'देव, आप इस अयोग्य के हाथ में जो राज्यभार छोड़ गए थे उसे ग्रहण कीजिए। चौदह वर्ष में राज्यदेव में दस गुना धन बढ़ गया है।'

रामायण में यदि कोई चरित्र ठीक आदर्श समझ कर ग्रहण किया जा सकता है, तो वह एक मात्र भरत ही का चरित्र है। सीता ने लक्ष्मण से जो कटु वचन कहे थे, वह क्षमा के योग्य नहीं है। रामचन्द्र के बालि वध आदि अनेक कार्यों का समर्थन नहीं किया जा सकता। लक्ष्मण की बातें तो कई बार बड़ी रूखी और दुर्विनीत हुई हैं। कौशल्या ने दशरथ से कहा था--'कई जल जन्तु जिस प्रकार अपनी सन्तान भक्षण कर जाते हैं, तुमने भी उसी प्रकार किया है'। किन्तु भरत के चरित्र में एक भी दोष नहीं। रामचन्द्र की पादुकाओं पर स्वर्ण-छत्र धारण करनेवाले जटा-वल्कल धारी इस राजर्षि का चरित्र रामायण में एक अद्वितीय सौन्दर्य धारण कर रहा है। दशरथ ने सत्य ही कहा था--

'रामादपि हि तं मन्ये धर्मतो बलवत्तरम्।'

'धर्म की दृष्टि से हम राम की अपेक्षा भरत को अधिक बलवान् समझते हैं।'

जब हम देखते हैं कि कैकेयी ऐसे सुपुत्र की गर्भधारिणी थी, तो हम उसके सहस्रों दोषों को क्षमा के योग्य समझते हैं। हम निषादाधिपति गुह के स्वर में स्वर मिला कर एक वाक्य

में यही कहेंगे—

'धन्यस्त्वं न त्वया तुल्यं पश्यामि जगतीतले।
अयत्नादातं राज्य यस्त्वं त्यक्तुमिच्छसि।'

तुम धन्य हो जो विना यत्न से आए हुए राज्य को छोड़ना चाहते हो। इस संसार में तुम्हारे समान और कोई नहीं दिखाई देता। *

—["रामायणी कथा" में]

卐卐
卐卐

२६

रक्षा-बन्धन

लेखक—श्रीयुत विश्वम्भरनाथ कौशिक

[इन का जन्म सन १८९७ में अम्बाला छावनी में हुआ था पर इन के दादा के भाई ने इन्हें गोद ले लिया। तब से आप कानपुर में रहते हैं। आप अँगरेजी बंगाली गुजराती और मराठी के अच्छे ज्ञाता हैं। आप हिन्दी के एक बहुत अच्छे उपन्यास लेखक हैं। माँ, चित्रशाला भाग्य, संसार की असभ्य जातियों की स्त्रियाँ आप की रचनाएँ हैं।]

[१]

'माँ मैं भी राखी बाँधूँगी।'

श्रावण की धूमधाम है। नगरवासी स्त्री पुरुष बड़े आनन्द

तथा उत्सव से श्रावणी का उत्सव मना रहे है। बहनें भाइयों के और ब्राह्मण अपने यजमानों के राखियां बांध बांध कर चांदी कर रहे हैं। ऐसे ही समय एक छोटे से घर मे एक दस वर्ष की बालिका ने अपनी माता से कहा—'मां' मैं भी राखी बांधूंगी'।

उत्तर मे माता ने एक ठडी सांस भरी और कहा—'किस के बांधेगी बेटी—आज तेरा भाई होता तो—।'

माता आगे कुछ न कह सकी। उसका गला रूंध गया और नेत्र अश्रुपूर्ण हो गये।

अबोध बालिका ने इठला कर कहा –'तो क्या भैया ही के राखी बांधी जाती है और किसी के नही? भैया नहीं है तो अम्मा, मै तुम्हारे ही राखी बांधूंगी'।

इस दुःख के समय भी पुत्री की बात सुन कर माता मुस्कराने लगी और बोली—'अरी, तू इतनी बडी हो गई—भला कही मां के भी राखी बांधी जाती है'?

बालिका ने कहा—'वाह, जो पैसा दे उसी को राखी बांधी जाती है।'

माता—'अरी पगली! पैसे पर नहीं भाई ही के राखी बांधी जाती है'।

यह सुन कर बालिका कुछ उदास हो गई।

माता घर का काम काज करने लगी। घर का काम शेष

करके उसने पुत्री से कहा—'आ तुझे न्हिला (नहला) दूँ'।

बालिका मुख गम्भीर करके बोली—'मैं नहीं नहाऊँगी'।

माता—'क्यों, नहावेगी क्यों नहीं' ?

बालिका—मुझे क्या किसी के राखी बाँधना है' ?

माता—'अरी, राखी नहीं बाँधनी है तो क्या नहावेगी भी नहीं ? आज त्योहार का दिन है। चल उठ नहा'।

बालिका—'राखी नहीं बाँधूँगी तो त्योहार काहे का ?'

माता—(कुछ क्रुद्ध होकर) अरी कुछ सिड़न हो गई है। राखी राखी की रटन लगा रखी है। बड़ी राखी बाँधने वाली बनी है। ऐसी हो होता तो आज यह दिन देखना पड़ता। पैदा होते ही बाप को खा बैठी। ढाई बरस की होते होते भाई से घर छुड़ा दिया। तेरे ही कर्मों से सब नास (नाश) हो गया।'

बालिका बड़ी अप्रतिभ हुई और आँखों में आँसू भर हुए चुपचाप नहाने को उठ खड़ी हुई।

× × ×

एक घण्टा पश्चात् हम उसी बालिका को उसके द्वार पर खड़ा देखते हैं। इस समय भी उसके सुन्दर मुख पर उदासी विद्यमान है। अब भी उसके बड़े बड़े नेत्रों में पानी डबडबा रहा है।

परन्तु बालिका इस समय द्वार पर क्यों खड़ी है ? जान पड़ता है, वह किसी कार्यवश खड़ी है, क्योंकि उसके द्वार के

सामने से जब कोई पुरुष निकलता है तब वह बड़ी उत्सुकता से उसकी ओर ताकने लगती है। मानो वह मुख से कुछ कहे बिना, केवल इच्छाशक्ति ही से, उस पुरुष का ध्यान अपनी ओर आकर्षित करने की चेष्टा करती है। परन्तु जब उसे इसमें सफलता नहीं होती तब उसकी उदासी बढ़ जाती है।

इसी प्रकार एक, दो, तीन करके कई पुरुष, बिना उसकी ओर देखे, निकल गये।

अन्त को बालिका निराश हो कर घर के भीतर लौट जाने को उद्यत ही हुई थी कि एक सुन्दर युवक की दृष्टि, जो कुछ सोचता हुआ धीरे धीरे जा रहा था, बालिका पर पड़ी। बालिका की आँखें युवक की आँखों में जा लगीं। न जाने उन उदास तथा करुणा-पूर्ण नेत्रों में क्या जादू भरा था, जिसके प्रभाव से युवक ठिठक कर खड़ा हो गया और बड़े ध्यान से बालिका को सिर से पैर तक देखने लगा। ध्यान से देखने पर युवक को ज्ञात हुआ कि बालिका की आँखें अश्रुपूर्ण हैं। तब युवक अधीर हो गया। उसने निकट जाकर पूछा—'बेटी, क्यों रोती हो' ?

बालिका इसका कुछ उत्तर न दे सकी। परन्तु उसने अपना एक हाथ युवक की ओर बढ़ाया। युवक ने देखा, बालिका के हाथ में एक लाल डोरा है। उसने पूछा—'यह क्या है ?' बालिका ने आँखें नीची करके उत्तर दिया—'राखी'।

युवक समझ गया। उसने मुसकरा कर अपना दाहिना हाथ आगे बढ़ा दिया।

बालिका का मुख कमल खिल उठा। उसने बड़े चाव से युवक के हाथ में राखी बाँध दी।

राखी बँधवा चुकने पर युवक ने जेब में हाथ डाला और दो रुपए निकाल कर बालिका को देने लगा। परन्तु बालिका ने उन्हें लेना स्वीकार न किया। वह बोली—'नहीं, यह नहीं, यह नहीं; पैसे दो।'

युवक—'ये पैसे से भी अच्छे हैं।'

बालिका—'नहीं—मैं पैसे लूँगी, यह नहीं।'

युवक—'ले लो बिटिया। इसके पैसे मँगा लेना। बहुत से मिलेंगे।

बालिका—'नहीं, पैसे दो।'

युवक ने चार आने पैसे निकाल कर कहा—'अच्छा, लो पैसे भी ले और यह भी ले।'

बालिका—'नहीं, खाली पैसे लूँगी।'

'तुम्हें दोनों लेने पड़ेंगे'—यह कह कर युवक ने बलपूर्वक पैसे तथा रुपए बालिका के हाथ पर रख दिए।

इतने में घर के भीतर से किसी ने पुकारा—'अरी सरसुती, (सरस्वती) कहाँ गई?'

बालिका ने 'आई' कह कर युवक की ओर कृतज्ञता पूर्ण

दृष्टि डाली और भीतर चली गई।

[२]

गोलागञ्ज (लखनऊ) की एक बड़ी तथा सुन्दर अट्टालिका के एक सुसज्जित कमरे मे एक युवक चिन्ता-सागर मे निमग्न बैठा है। कभी वह ठण्डी साँसें भरता है ; कभी रुमाल से आँखें पोंछता है; कभी आप ही आप कहता है—'हा! सारा परिश्रम व्यर्थ गया। सारी चेष्टाएं निष्फल हुई। क्या करूँ! कहाँ जाऊँ। उन्हें कहाँ ढूँढूँ। सारा उन्नाव छान डाला, परन्तु फिर भी पता न लगा—।' युवक आगे कुछ और कहने को था कि कमरे का द्वार धीरे धीरे खुला और एक नौकर अन्दर आया।

युवक ने कुछ विरक्त हो कर पूछा—'क्यों क्या है?'

नौकर—'सरकार, अमरनाथ बाबू आए है।'

युवक (सँभल कर)—'अच्छा, यहीं भेज दो।'

नौकर के चले जाने पर युवक ने रूमाल से आँखें पोंछ डालीं और मुख पर गम्भीरता लाने की चेष्टा करने लगा।

द्वार फिर खुला और एक युवक अन्दर आया।

युवक—'आओ भाई अमरनाथ!'

अमरनाथ—'कहो घनश्याम, आज अकेले कैसे बैठे हो! कानपुर से कब

अमरनाथ—'उन्नाव भी अवश्य ही उतर होंगे' ?

घनश्याम—(एक ठण्डी सांस भर कर) 'हां उतरा तो था, परन्तु व्यर्थ। यहां अब धरा क्या रक्खा है' ?

अमरनाथ—'परन्तु करो क्या। हृदय नहीं मानता है—क्यों? और सच पूछो तो बात ही ऐसी है। यदि तुम्हारे स्थान पर मैं होता तो कदाचित् मैं भी ऐसा ही करता।

घनश्याम—'क्या कहूँ मित्र मैं तो हार गया। तुमने जानते ही हो कि मुझे लखनऊ आकर एक वर्ष हो गया और तब से मैं यहां आया हूँ मैंने उन्हें ढूँढने में कुछ भी कसर उठा नहीं रक्खी—परन्तु सब व्यर्थ'।

अमरनाथ—'उन्होंने उन्नाव न जाने क्या छोड़ दिया और कब छोड़ा—इस का भी कोई पता नहीं चलता'।

घनश्याम—'इसका तो पता चल गया न, कि वे लोग मेरे चले जाने के एक वर्ष पश्चात् उन्नाव से चले गए। परन्तु कहां गये, यह नहीं मालूम'।

अमरनाथ—'यह किससे मालूम हुआ' ?

घनश्याम—'उसी मकान वाले से जिसके मकान में हम लोग रहते थे'।

अमरनाथ—'हा शोक'।

घनश्याम—'कुछ नहीं, यह सब मेरे ही कर्मों का फल है। यदि मैं उन्हें छोड़कर न आता; यदि गया था

तो उन की खोज खबर लेता रहता। परन्तु मैं तो दक्षिण जाकर रुपया कमाने में इतना व्यस्त रहा कि घर की कभी याद ही न आई। और जो आई भी तो क्षणमात्र के लिए। उफ, इतना भी कोई अपने घर को भूल जाता है। मैं ही ऐसा अधम'—

अमरनाथ—(बात काट कर) 'अजी नहीं सब समय की बात है'।

घनश्याम—'मैं दक्षिण न जाता तो अच्छा था'।

अमरनाथ—'तुम्हारा दक्षिण जाना तो व्यर्थ नहीं हुआ, यदि न जाते तो इतना धन—।'

घनश्याम—'अजी चूल्हे में जाय धन। ऐसा धन किस काम का। मेरे हृदय में सुख-शान्ति नहीं तो धन किस मर्ज़ की दवा है'?

अमरनाथ—'एँ, यह हाथ में लाल डोरा क्यों बाँधा है'?

घनश्याम—'इसकी तो बात ही भूल गया। यह राखी है'।

अमरनाथ—'भाई वाह, अच्छी राखी है। लाल डोरे को राखी बताते हो। यह किसने बाँधी है। किसी बड़े कन्जूस ब्राह्मण ने बाँधी होगी। दुष्ट ने एक पैसा तक खर्चना पाप समझा। डोरे ही से काम निकाला'।

घनश्याम—'संसार में यदि कोई बढ़िया से बढ़िया राखी

बन सकती है तो मुझे उसमें भी कहीं अधिक प्यारा यह बाल डोरा है'। यह कह कर घनश्याम ने उस बाल को बड़े यत्न पूर्वक अपने बक्स में रख दिया।

अमरनाथ—'भाई, तुम भी विचित्र मनुष्य हो। आखिर यह डोरा बाँधा किसने है'?

घनश्याम—'एक बालिका ने'।

पाठक समझ गए होंगे कि यह घनश्याम कौन है।

अमरनाथ—'बालिका ने कैसे बाँधा और कहाँ?'

घनश्याम—'कानपुर में।

घनश्याम ने सारी घटना कह सुनाई।

अमरनाथ—'यदि यह बात है तो सत्य ही यह डोरा अमूल्य है'।

घनश्याम—'न जाने क्यों उस बालिका का ध्यान मेरे मन से नहीं उतरता'।

अमर नाथ—'उसकी सरलता तथा प्रेम ने तुम्हारे हृदय पर प्रभाव डाला है। भला उसका नाम क्या है?

घनश्याम—'नाम तो मुझे नहीं मालूम। भीतर से किसी ने उसका नाम लेकर पुकारा तो था। परन्तु मैं सुन न सका'।

अमरनाथ—'अच्छा, खैर। अब तुमने क्या करना विचारा है'?

घनश्याम—धैर्य धर कर चुपचाप बैठने के अतिरिक्त और

मैं कर ही क्या सकता हूँ। मुझ से जो हो सका, मैं कर चुका।'

अमरनाथ—'हाँ, नहीं ठीक भी है। ईश्वर पर छोड़ दो। देखो क्या होता है'।

[३]

पूर्वोक्त घटना हुए पांच साल व्यतीत हो गए। घनश्यामदास पिछली बातें प्रायः भूल गये हैं। परन्तु उस बालिका की याद कभी कभी आ जाती है। उसे देखने वे एक बार कानपुर गये भी थे। परन्तु उसका पता न चला। उस घर में पूछने पर ज्ञात हुआ कि वह वहाँ से, अपनी माता सहित, बहुत दिन हुए, न जाने कहाँ चली गई। इसके पश्चात् ज्यों ज्यों समय बीतता गया उसका ध्यान भी कम होता गया। पर अब भी जब वे अपना बक्स खोलते हैं तब कोई वस्तु देख कर चौंक पड़ते हैं और साथ ही कोई पुराना दृश्य भी आँखों के सामने आ जाता है।

घनश्याम अभी तक अविवाहित हैं। पहले तो उन्हों ने निश्चय कर लिया था कि विवाह करेंगे ही नहीं। पर मित्रों के कहने और स्वयं अपने अनुभव ने उनका यह विचार बदल दिया। अब वे विवाह करने पर तैयार हैं। परन्तु अभी तक कोई कन्या उनकी रुचि के अनुसार नहीं मिली।

जेठ का महीना है। दिन भर की जला देने वाली धूप के पश्चात् सूर्यास्त का समय अत्यन्त सुखदायी प्रतीत हो रहा

है। इस समय घनश्यामदास अपनी कुठी के बाग में मित्रों सहित बैठे मन्द मन्द शीतल वायु का आनन्द ले रहे हैं। आपस में हास्यरस पूर्ण बातें हो रही हैं। बातें करते करते एक मित्र ने कहा—'अजी, अभी तक अमरनाथ नहीं आये'!

घनश्याम—'वह मनमौजी आदमी है। कहीं रम गया होगा'।

दूसरा—'नहीं रम नहीं, वह आज कल तुम्हारे लिए दुल हिन ढूँढने की चिन्ता में रहता है।

घनश्याम—'यह दिल्लगी रहने दो'।

दूसरा—'नहीं दिल्लगी की बात नहीं।

तीसरा—'हाँ, परसों मुझ से भी यह कहता था कि घन श्याम का विवाह हो जाय तो मुझे चैन पड़े'।

ये बातें हो ही रही थीं कि अमरनाथ लपकते हुए आ पहुँचे।

घनश्याम—'आओ यार, बड़ी उमर—अभी तुम्हारी ही याद हो रही थी'।

अमरनाथ—इस समय बोलिए नहीं, नहीं एक आध को मार बैठूँगा'।

दूसरा—'जान पड़ता है, कहीं से पिट कर आये हो?'

अमरनाथ—'तू फिर बोला—क्यों?'

दूसरा—'क्यों,बोलना किसी के हाथ क्या बेच खाया है?'

अमरनाथ—'अच्छा, दिल्लगी छोड़ो। एक आवश्यक बात है।' सब उत्सुक हो कर बोले—'कहो कहो, क्या बात है?'

अमरनाथ—(घनश्याम से)'तुम्हारे लिए दुलहिन ढूँढ़ली है।'

सब—(एक स्वर से) 'फिर क्या! तुम्हारी चाँदी है।'

अमरनाथ—'फिर वही दिल्लगी। यार तुम लोग अजीब आदमी हो।'

तीसरा—'अच्छा, बताओ, कहाँ ढूँढ़ी?'

अमरनाथ—'यहीं, लखनऊ में।'

दूसरा—'लड़की का पिता क्या करता है?'

अमरनाथ—'पिता तो स्वर्गवास करता है।'

तीसरा—'यह बुरी बात है!'

अमरनाथ—'लड़की है और उसकी माँ। बस, तीसरा कोई नहीं। विवाह में कुछ मिलेगा भी नहीं। लड़की की माता बड़ी ग़रीब है।'

दूसरा—'यह उससे भी बुरी बात है।'

तीसरा—'उल्लू मर गए, पट्ठे छोड़ गए। घर भी ढूँढ़ा तो ग़रीब। कहाँ हमारे घनश्याम इतने धनाढ्य और कहाँ ससुराल इतनी दरिद्र! लोग क्या कहेंगे?'

अमरनाथ—'अरे भई, कहने और न कहने वाले हमीं तुम

है। और यहाँ उनका कौन बैठा है जो कहेगा ?'

घनश्याम ने ठण्डी साँस ली।

तीसरा—'आपने क्या भलाई देखी जो यह सम्बन्ध करना है ?'

अमरनाथ—'लड़की की भलाई। लड़की लक्ष्मी-रूपा है। जैसी सुन्दर वैसी ही सरल। ऐसी लड़की यदि दीपक लेकर ढूँढ़ी जाय तो भी कदाचित् ही मिले।'

दूसरा—'हाँ, यह अवश्य एक बात है।'

अमरनाथ—'परन्तु लड़की की माता लड़का देख कर विवाह करने को कहती है।'

तीसरा—'यह तो व्यवहार की बात है'।

घनश्याम—'और, मैं भी लड़की देख कर विवाह करूँगा'।

दूसरा—'यह भी ठीक ही है'।

अमरनाथ—'तो इसके लिए क्या विचार है' ?

तीसरा—'विचार क्या लड़की देखेंगे।

अमरनाथ—'तो कब' ?

घनश्याम—'कल'।

[४]

दूसरे दिन शाम को घनश्याम और अमरनाथ गाड़ी पर सवार होकर लड़की देखने चले। गाड़ी चक्कर खाती हुई अहियापु

गंज की एक गली के सामने जा खड़ी हुई। गाडी से उतर कर दोनों मित्र गली में घुसे। लगभग सौ क़दम चल कर अमरनाथ एक छोटे से मकान के सामने खडे हो गये और मकान का द्वार खटखटाया।

घनश्याम बोले—'मकान देखने से तो बडे ग़रीब जान पडते हैं।'

अमरनाथ—'हाँ, बात तो ऐसी ही है, परन्तु यदि लडकी तुम्हारे पसन्द आजाय तो यह सब सहन किया जा सक्ता है।

इतने मे द्वार खुला और दोनों भीतर गये। सन्ध्या हो जाने के कारण मकान मे अँधेरा हो गया था। अतएव ये लोग द्वार खोलने वाले को स्पष्ट न देख सके।

एक दालान मे पहुँच कर ये दोनों चारपाइयों पर बिठा दिए गये और बिठाने वाली ने, जो स्त्री थी, कहा—'मैं जरा दिया जला लूँ'।

अमरनाथ—'हाँ, जला लो'।

स्त्री ने दीपक जलाया और पास ही एक दीवार पर उसे रख दिया। फिर इनकी ओर मुख करके वह नीचे चटाई पर बैठ गई। परन्तु ज्यों ही उसने घनश्याम पर अपनी दृष्टि डाली एक हृदयवेधी आह उसके मुख से निकली—और वह ज्ञान-शून्य होकर गिर पड़ी।

स्त्री की ओर कुछ अँधेरा था। इस कारण इन लोगों को उसका मुख स्पष्ट न दिखाई पड़ता था। घनश्याम उसे उठाने को उठे। परन्तु ज्योंही उन्होंने उसका सिर उठाया और रोशनी उसके मुख पर पड़ी त्योंही घनश्याम के मुख से निकला—'मेरी माता'—और उठकर वे भूमि पर बैठ गये।

अमरनाथ विस्मित होकर उठकर बैठ रहे। थोड़ी देर कुछ क्षण उपरान्त बोले—"यह ईश्वर की महिमा बड़ी विचित्र है। जिनके लिए तुमने न जाने कहाँ कहाँ की ठोकरें खाईं वे अन्त को इस प्रकार मिले।"

घनश्याम अपने को सँभाल कर बोले—"थोड़ा पानी मँगाओ"।

अमरनाथ—"किससे मँगाऊँ। यहाँ तो कोई और दिखाई ही नहीं पड़ता। परन्तु हाँ 'वह लड़की तुम्हारी'—कहते कहते अमरनाथ रुक गए। फिर उन्होंने पुकारा—'बिटिया, थोड़ा पानी दे जाओ'।

परन्तु कोई उत्तर न मिला।

अमरनाथ ने फिर पुकारा—"बेटी तुम्हारी माँ अचेत हो गई है। थोड़ा पानी दे जाओ।"

इस 'अचेत' शब्द में न जाने क्या बात थी कि तुरन्त ही घर के दूसरी ओर बरतन खड़कने का शब्द हुआ। तत्पश्चात् एक पूर्ण वयस्क लड़की लोटा लिए आई। लड़की मुँह कुछ ढके हुए थी। अमरनाथ ने पानी लेकर घनश्याम की माता को

आंखें तथा मुख धो दिया। थोडी देर मे उसे होश आया। उसने आंखें खोलते ही फिर घनश्याम को देखा। तब वह शीघ्रता से उठ कर बैठ गई और बोली—'एँ, मै क्या स्वप्न देख रही हूँ ? घनश्याम, क्या तू मेरा खोया हुआ घनश्याम है या कोई और' ?

घनश्याम की आंखों से अश्रुधारा फूट निकली। वह रोता हुआ माता के चरणों पर लोट गया और बोला—हां मां, मैं तुम्हारा वही कपूत घनश्याम हूँ जो छोड कर भाग गया था'।

माता ने पुत्र को उठा कर छाती से लगा लिया और अश्रु-बिन्दु विसर्जन किए। परन्तु वे बिन्दु सुख के थे अथवा दुःख के— कौन कहे ?

लडकी ने यह सब देख सुन कर अपना मुंह खोल दिया और भैया, भैया कहती हुई घनश्याम से लिपट गई। घनश्याम ने देखा, लडकी कोई और नहीं, वही बालिका है जिसने पांच वर्ष पूर्व उनके राखी बांधी थी और जिसकी याद प्रायः आया करती थी।

\+ \- +

श्रावण का महीना है और श्रावणी का महोत्सव। घनश्याम दास की कोठी खूब सजाई गई है। घनश्याम अपने कमरे में बैठे एक पुस्तक पढ रहे है। इतने मे एक दासी ने आकर कहा-'बाबू, भीतर चलो'। घनश्याम भीतर गए। माता ने उन्हें एक

आसन पर बिठाया और उनकी भगिनी सरस्वती ने उनके तिलक लगाकर राखी बाँधी। घनश्याम ने दो अशर्फियाँ उसके हाथ में धर दीं और मुस्करा कर बोले—'क्या पैसे भी कम होंगे?'

सरस्वती ने हँस कर कहा—'नहीं, भैया, ये अशर्फियाँ पैसों से अच्छी हैं। इनसे बहुत से पैसे आयेंगे।

३१

सुधा

[१]

नीरव निशा में निशाकर के रजत-किरण धारण कर लेने से निर्मल नीलाकाश की अपूर्व शोभा हो गई है। आज पूर्णिमा है। ऋतुराज के राज्य में दिगन्त को कम्पित करता हुआ पपीहा मधुर स्वर में गान कर रहा है। चतुर्दिक् कुसुम-सुगन्ध से परिपूर्ण हो रही है। निर्जन गृहकोण में बैठे हुए शशिशेखर सोच रहे हैं—'मैं किस अन्याय-कार्य में प्रवृत्त हो रहा हूँ !'

मस्तक के ऊपर शैलबाला का तैल-चित्र सुशोभित है। ऊपर की ओर देखकर शशिशेखर कहने लगे—'शैल ! अब भी

मैं तुम्हें भूल नहीं सकता। इस जीवन में तुम्हें कभी न भूल सकूँगा। भूलने का भाव भी हृदय में उपस्थित नहीं होता। जिस प्रकार चिरकाल पर्यन्त मैं ने तुम्हारी आराधना की थी उसी प्रकार शेष जीवन भी तुम्हारी ही आराधना में व्यतीत करूँगा। क्या इतने पर भी तुम मुझे अपने पास न बुला लोगी ?'

शैल चित्र उसी प्रकार नीरव रहा। उसकी दृष्टि में तिरस्कार की कठोरता न थी, न मनोरञ्जन का मृदु हास्य ही विद्यमान था। उसकी दृष्टि स्थिर तथा अचञ्चल थी। परन्तु उसमें अलौकिक भाव अज्ञात रूप से अवश्य विद्यमान था। शशि शेखर उस दृष्टि का भाव जान लेने में असमर्थ हुए। वे उच्च स्वर से बोल उठे—'शैल ! तुम मुझे वृथा दोषी बनाती हो। मैं ने अपनी इच्छा से विवाह नहीं किया। यद्यपि माता ने अपना हठ पूर्ण किया तथापि क्या मैं तुम्हारी आनन्ददायिनी मूर्त्ति हृदय मन्दिर से बाहर करने में समर्थ हो सकता हूँ ? कदापि नहीं। तुम मेरे हृदय मन्दिर की अधिष्ठात्री देवी हो। मेरे हृदय में 'सुधा' के लिए तिल मात्र भी स्थान नहीं।'

इतने में पीछे से कोई कोमल मधुर स्वर से बोला—'प्रियतम ! मैं आती हूँ।'

घर में चन्द्र की चन्द्रिका छिटक रही थी। पूर्वोक्त शब्द कहने वाली की देह तथा मुख मण्डल की मधुर ज्योत्स्ना देदीप्यमान कर रही थी। शशि शेखर के विचार भङ्ग हुए। पीछे फिर कर देखा तो अनिन्द्य सुषमामयी रमणी की मूर्त्ति है।

कम्पित कण्ठ से शेखर बोले—'सुधा! यहाँ क्यों आई हो? जाओ, माता के पास जाओ।'

नेत्रों को नीचे किए हुए सुधा बोली—'प्रभु! आज के लिए तो अपराधिनी को क्षमा करो। चरण-कमल पूजने की आज्ञा देकर आज इस दासी को कृतार्थ होने दो।'

शेखर चुप रहे। तब सुधा ने हाथ में लिए हुए कुङ्कुम से शेखर के दोनों पैर रँगे। अनेक दिनों बाद आज सुधा स्वामी के चरण पर गिर पड़ी। फिर उसने उठ कर कहा—'हृदयेश! मेरी पूजा समाप्त हो गई। मैं जाती हूँ।'

सुधा चली गई। ऊर्ध्व-आबद्ध दृष्टि से देखते हुए शेखर अचल अटल भाव से बैठे रहे।

[२]

इस घटना को हुए कितने ही दिन व्यतीत हो गए। परन्तु शशिशेखर के हृदय का दुर्दमनीय वेग किसी प्रकार शान्त न हो सका। कितनी ही नीरव भिक्षाओं ने, तथा कितनी ही बार कातर नयनों की दृष्टि ने, उनके हृदय-पटल पर कुछ भी प्रभाव न जमा पाया। एक ही चिन्ता—एक ही भावना—के कारण शेखर की देह जीर्ण होने लगी। जब तक वे इस यातना को सह सके, उन्होंने चुपचाप सहन किया। परन्तु जब यह यातना असह्य हो गई, तब एक रात को उन्होंने तीर्थराज प्रयाग की ओर प्रस्थान किया।

उस समय कुम्भ का मेला था। हजारों यात्री, संन्यासी प्रभृति वहाँ एकत्र हुए थे। अनन्त जन राशि में उस महानाद का एकत्र आन्दोलित था। पुण्य पीयूषवाहिनी भगवती जाह्नवी और यमुना का संगम! यमुना के कृष्ण जल का जाह्नवी के शुभ्र जल में मिलन! यह दृश्य बहुत ही सुन्दर तथा मनोरम था।

कुछ दिन तो शशिशेखर ने किसी न किसी तरह व्यतीत किए। नवीन स्थल पर नवीन दृश्य देख कर किस का हृदय पुलकित नहीं होता। शेखर ने बहुतेरे संन्यासियों के साथ इतस्ततः परिभ्रमण करके मन को बहुत कुछ स्थिर किया। परन्तु यह स्थिरता कितने दिनों के लिए थी! शान्ति का फिर नाश हो गया। शशिशेखर अस्थिर चित्त से देश विदेश में परिभ्रमण करने लगे।

[३]

सुधा के हृदय में भाव उठा— उन्हें एक बार और देख पाती तो अच्छा होता। उनसे वियोग हुए बहुत दिन हो गए। उस तैल चित्र के सम्मुख बैठकर सुधा कहने लगी—'भगिनी! तुम जैसी भाग्यशीला संसार में धन्य हैं! तुमने पति के हृदय मन्दिर में स्थान-लाभ किया। मैं हत भागिनी हूँ जो तुम्हारा द्रव्य छीनने का प्रयत्न करती हूँ।

सुधा और न बोल सकी। नयन मोचित अश्रुधारा से

उसका वक्षस्थल भीग गया। सुधा फिर कम्पित कण्ठ से बोली—'बहन ! मैं तुम्हारी वस्तु पाने की इच्छा नही करती हूँ। परन्तु उस अमूल्य रत्न की आराधना करने की इच्छा अवश्य है। क्या यह इच्छा पूर्ण करोगी ?' इतने मे पीछे से ननद ने कहा—'बहू ! क्यों रोती हो' ? आंसू पोंछ कर सुधा ने उत्तर दिया—'हृदय जिस व्यथा से व्यथित हो रहा है, उसे क्या कह कर समझाऊँ ? स्त्री होकर भी मेरा हृदय विदीर्ण नहीं होता ! इस कष्ट से पत्थर, वृक्ष प्रभृति भी फट जाते। क्या उनकी खबर पाने का कुछ उपाय नहीं ?' शैवलिनी ने धीरे से कहा—'बहू, क्या तू पागल हो जायगी ? चल सारा दिन बीत गया। कुछ खायगी भी ? चल, खा ले। दादा की खबर आई है। आजकल वृन्दावन मे हैं'। उत्तेजित स्वर से सुधा ने सुधा-वर्षण किया—'तुम माता जी से कहो, मैं उन्हें देखने जाऊँगी।' शैवलिनी ने कहा—'बहू ! तू निश्चय पागल हो गई है। दो दिन के बाद दादा स्वयं घर आ जायँगे'।

सुधा बोली—'न दीदी ! वे कभी न आवेंगे। चलो, उन्हें लौटा लावें।'

'अच्छा, यही सही। मै जाकर रविशेखर से कहती हूँ। तू तब तक चल। खाना खा'।

रवि शशिशेखर के कनिष्ठ भ्राता है। सुधा ने नाम-मात्र भोजन किया। सती का स्वामी से वियोग होने के कारण

भुत्पिपासा से भी वियोग हो गया। इस वियोग के कारण सुधा की सुन्दर लावण्यमयी देह की समुज्ज्वल कान्ति क्रमशः क्षीण होने लगी। देहलता निर्जीव सी हो गई। तब पुत्र शोकातुरा सास ने कहा— 'चलो, मैं तुम्हें वृन्दावन ले चलूँगी। मैं भी अपनी शेष अवस्था श्री गोविन्द के पादपद्मों में अर्पण करूँगी'।

शैवलिनी बोली—'माता! अच्छी बात है। चलो, हम सब रवि को संग लेकर दादा को खोजें। वे फिर न कहीं चले जायँ। वह भी पागल सी होती जाती है'।

वृन्दावन के लिए यात्रा स्थिर हुई। उसी दिन सन्ध्या को रविशेखर के साथ सब ने पुण्य तीर्थ वृन्दावन का गमन किया। जो घर सदा ही आनन्द लहरी से मुखरित होता था, वही आज निविड़ निस्तब्धता में परिणत हो गया।

[४]

नील सलिला स्वच्छा यमुना आज नीरव स्वर से बह रही है। पर हाय! उस बाँसुरी का स्वर नहीं। इसी से आज यमुना उदास होकर बह रही है। जिस बाँसुरी के शब्द को सुन कर गृह वासिनी गोपिकाएँ उदास हो जाती थीं, हाय यमुने! तुम्हारे तट पर से वह बाँसुरी का स्वर कहाँ गया? और आज महामाया राधारानी कहाँ हैं? वृन्दावन में यद्यपि तुम्हारा सब कुछ है, परन्तु वह मोहन मुरली नहीं है। यमुने

क्या उसी के विरह में सूख गई हो ? कितनी गोपिकाओं की तप्त अश्रुधाराएँ तुम्हारे जल में मिल गई हैं, सो कौन कह सकता है !

वृन्दावन के निकट तमाल-वन है। इस वन का दृश्य अति मनोरम है। सुन्दर नृत्य से मयूरों ने इस वन की शोभा को बहुत बढ़ा दिया है। इसी वन के मध्य एक पर्णकुटी में बैठे हुए दो सन्यासी कथनोपकथन कर रहे हैं।

अच्युतानन्द ने कहा—'वत्स, तुम घर लौट जाओ। अभी तुम्हारे लिए कठोर कर्तव्य करना शेष है। अभी कर्म-योग पालना ही तुम्हारा कर्तव्य है। ज्ञान-योग में तुम्हारा अधिकार नहीं'।

दूसरे संन्यासी ने कहा—'प्रभो, घर में मुझे शान्ति नहीं। मैं ज्ञान के द्वारा शान्ति लाभ करना चाहता हूँ।'

अच्युतानन्द गोस्वामी ने हँसते हुए कहा—'वत्स ! नयन खोल कर देखो। तुम्हारे सम्मुख कितना महत् कर्तव्य करने को पड़ा है। पुत्र-शोकातुरा माता सन्तान के आगमन की प्रतीक्षा करती हुई पथ की ओर एकटक निहार रही होगी। दीर्घ वियोग से व्याकुल पतिगतप्राणा सती स्वामी के दर्शन की लालसा से प्राण धारण कर रही होगी। वत्स ! अन्धे मत बनो। तुम्हारी वासना अभी बलवती बनी है। जाओ, गृह-धर्म पालन करो। धीरे धीरे शान्ति प्राप्त कर सकोगे'।

यह कह कर वह महापुरुष वहाँ से चला गया। ध्यान-

स्तिमित लोचन शशिशेखर के हृदय में नाना प्रकार की चिन्तायें उत्पन्न होने लगीं।

जैसा प्रायः देखने में आता है, घर से बाहर होने पर,शशिशेखर की अस्थिरता बढ़ गई। शान्ति लाभ की आशा से वे जितनी ही दूर गए, हृदय में शांति की उतनी ही कमी वे अनुभव करने लगे। शांति की आशा से शेखर कठोर आत्मसंयम का अभ्यास करने लगे। परन्तु सफल मनोरथ न हुए।

शेखर का हृदय शून्य था। उन्होंने स्वप्न में देखा कि कोई उनके दोनों चरण नयनाश्रुओं से धो रहा है। कितनी ही दफे मना करने पर भी नहीं मानता। वह पैरों पर गिर कर लोट रहा है। शेखर उसको उठाना चाहते हैं, परन्तु उठा नहीं सकते। वृन्दावन में निवास करते करते शेखर को उन्माद हो गया। उनके हृदय की ज्वाला और बढ़ने लगी। इसी कारण वे अच्युतानन्द गोस्वामी के शिष्य हो गए। इस से उन को कहाँ तक शान्ति मिली होगी, सो पाठक स्वयं ही जान सकते हैं। आज सारा दिन क्लान्ति से पीड़ित होने के उपरान्त शेखर इस समय गम्भीर निन्द्रा में निमग्न हैं। परन्तु निन्द्रादेवी भी उनके मन में शान्ति स्थापित करने में असमर्थ हुई। शेखर ने एक विचित्र स्वप्न देखा।

× × ×

शैल ने कहा—'और कितने दिन इस अशान्ति से पीड़ित

रहोगे ?जाओ, सुधा को ले कर सुख से जीवन व्यतीत करो !'

शेखर बोले—'शैल ! भला तुम्हें छोड कर मैं कैसे सुखी हो सकता हूँ !'

शैल ने कहा—'स्त्रियाँ स्वार्थपर नहीं होतीं। मेरा देहान्त अवश्य हो गया, परन्तु मैं तुम्हें दुखी न होने दूँगी। इसी लिए मैं ने तुम्हें सुधा का हाथ सौंप दिया है।

शैल अदृश्य हो गई। किन्तु फिर वही दृश्य। कोई नयना-श्रुओं से पद-युगल धो रहा है। प्रेम-परिपूर्ण हृदय से पद-तल में लोट रहा है। शशिशेखर चौंक पडे। वे उच्च स्वर से बोल उठे—'सुधा ! सुधा !' उनकी निद्रा भङ्ग हो गई। उन्होंने देखा कि सचमुच ही कोई उनके पैर नयनाश्रुओं से धो कर चला गया है।

[६]

चिन्ता करते करते शशिशेखर की देह भग्न होने लगी। वे विषम-ज्वर से पीडित हो गए। अच्युतानन्द स्वामी उनकी सेवा-शुश्रूषा करने लगे। शेखरकी माता और पत्नी उनको इस अवस्था में देख कर चिन्तित होंगी, इसी कारण स्वामी जी ने उन्हें इसकी खबर न दी। किन्तु जब ज्वर-प्रकोप उत्तरोत्तर बढने लगा, तब वे उन्हें लाने के लिए बाध्य हो गए।

पतिगत-प्राणा सुधा स्वामी के पैरों के निकट बैठी हुई अहर्निशि स्वामी की सेवा-शुश्रूषा करती थी। आहार-निद्रा

परित्याग कर के साध्वी सुधा श्री माधव के चरणारविन्दों में प्रार्थना करती थी—'प्रभु! हमारे स्वामी की रक्षा करो।'

कितनी ही नीरव रजनियाँ व्यतीत हो गईं; परन्तु शेखर की अवस्था में कुछ भी परिवर्तन न हुआ। ज्वर की ज्वाला से वे बकने लगे—'मेरा जीवन आज शेष होना चाहता है। मुझे अपने पास बुला लो।' माता और सुधा चुपचाप रोने लगीं। अच्युतानन्द ने कहा—'तुम अधीर न हो। तुम्हारे अधीर होने से रोगी की अवस्था और भी बिगड़ जायगी।' तब बहुत कष्ट होने से उन्होंने आत्मा संवरण किया। परन्तु हृदय में शान्ति न हुई।

शेखर की अवस्था क्रमशः बिगड़ने लगी। कभी कभी वे प्रेम की स्थिर दृष्टि से सुधा के मुख मण्डल की ओर देखते। एक दिन वे कह उठे—'शैल! हमारे पास आई हो? चलो, प्राणेश्वरी! हम दोनों हाथ पर हाथ रख कर अनन्त पथ पर चलें। हमें कोई बाधा नहीं दे सकता।' दारुण शोक-यातना से सुधा चिल्ला उठी। उसकी चिल्लाहट सुन कर शेखर को ज्ञान हुआ। वे कहने लगे—'सुधा! तुम रोती हो? रोओ मत। अपने तप्त अश्रुजल से मेरे हृदय को सन्तप्त न करो। मुझे जाने दो। यह जीवन तुम्हारे साथ व्यतीत नहीं हो सकता। यदि मरणोपरान्त फिर जन्म होगा, तो मेरा तुम्हारा मिलन होगा। तब मैं तुम्हें और शैल को ले कर सुखी रहूँगा।' इतना कह शेखर निःस्वर हो गए। रोरुद्यमाना सुधा

पास ही मूर्च्छित हो गई।

[७]

अनेक निद्राहीन रातों तथा अनेक अनशन-क्लिष्ट दिवसों के कारण सुधा की देह-लता निर्जीव-प्राय हो गई। सुधा की मूर्च्छा भंग हुई। परन्तु समय समय पर मूर्च्छा आती रही। एक दिन शशिशेखर की व्याधि ने प्रबल मूर्ति धारण की। अच्युतानन्द ने कहा—"माता! चित्त स्थिर कर। आज तेरी कठोर परीक्षा का दिन है। भगवान् गोविन्द के पाद-पद्म में आत्म-समर्पण कर।' शोकातुरा माता धूल में लोटती हुई उच्च स्वर से रोदन करने लगी। रोने से शेखर की रोग-निद्रा भंग हुई। उनके नेत्र अश्रु-पूर्ण हो गये। उन्हों ने कहा—'माता! रो मत। अपराधी पुत्र को क्षमा कर। पद-धूलि दे। आशीर्वाद दे। मेरा समय पूर्ण हो गया। मैं चलता हूँ'। घोर विकार के प्रकोप में शेखर ने देखा कि शैल उँगली के संकेत से उन्हें बुला रही है। उच्च स्वर से वे बोल उठे—'शैल! मैं आता हूँ'। उसी दिन रात्रि के शेष होने पर शेखर का प्राणपक्षी पिञ्जर-मुक्त हो कर उड़ गया। बालिका सुधा मृतक स्वामी के पैरों के निकट मूर्च्छित हो कर पृथिवी पर गिर गई।

× ×

इस के उपरान्त वृन्दावन में बहुत दिन व्यतीत हो गए। माता और सुधा ने वृन्दावन में अच्युतानन्द स्वामी का

आश्रम परित्याग न किया। शङ्कर की माता ने यथार्थ ही माधव के पाद पद्म में आत्म समर्पण कर दिया। उसी आत्म समर्पण के कारण उसने निदारुण पुत्र-शोक पर जय प्राप्ति की। जब मनुष्य का चित्त भगवान् के पाद पद्म में आकृष्ट हो जाता है, तब उसे पार्थिव शोक व्याकुल नहीं कर सकते। और बालिका सुधा! हाय! उसके स्माङ्ग में आज शुभ्र वस्त्र शोभा पा रहे हैं। यह हृदय विदारक दृश्य है! दृश्य संसार के प्रति वैराग्योत्पन्नकारी है।

सुधा प्रति मुहूर्त निज जीवन के शेष दिनों की प्रतीक्षा करती रही।

सुधा जान गई थी कि प्रेम अविनश्वर है। मृत्यु के उपरान्त भी प्रेम का नाश नहीं होता। प्रेम स्वर्ग में भी मिलता है। ऊपर की तरफ हाथ उठा कर यह बात उठी—हृदयेश! प्राण वल्लभ! प्राण जीवन! तुम बहुत दूर होते हुए भी मेरे हृदय से दूर नहीं। मैं इस हृदय मन्दिर में चिर दिन तुम्हारी पूजा करूँगी। मेरा देवता दूसरा नहीं। मेरे देवता तुम्हीं हो। यदि साधना की जीत हुई, मेरा जीवन शेष होने पर तुम से अवश्य मिलन होगा। हे प्रियतम! तब भी तुम मुझे फिर चरण से मत ठुकराना"*।

—पर्णीप्रसाद

*बङ्गभाषा के प्रसिद्ध लेखक श्रीयुत यतीन्द्रनाथ सोम एम० ए० की 'सुधा' नामक कहानी का भाषानुवाद।

५०

मध्य एशिया के खँडहरों की खुदाई का फल

[लेखक—श्रीयुत पुराण-पाटी]

जिस समय बौद्ध धर्म अपनी ऊर्जितावस्था में था उस समय यूनान, रूस, मिस्र, बाबुल आदि की तो बात ही नहीं, मध्य एशिया की राह, उसके आचार्य चीन तक जाते और वहां अपने धर्म का प्रचार करते थे। अफगानिस्तान तो उस समय भारतीय साम्राज्य का एक अंश ही था। उस समय तो भारतवासी बलख, बुखारा, खुरासान, खुतन और ताशकन्द तक फैले हुए थे। चीन और भारत के बीच आवागमन का मार्ग उस प्रान्त से था जिसे इस समय पूर्वी तुर्किस्तान कहते हैं। बर्बर मुसलमानों के आक्रमण से अपने देश की

रक्षा करने के लिए चीनियों ने जो इतिहास प्रसिद्ध दीवार बनाई थी उसका कुछ अंश इस पूर्वी तुर्किस्तान में भी था। इस प्रान्त में बहुत बड़े बड़े नगर थे। बौद्धों के विहारों और मठों से यह प्रान्त सर्वत्र भरा हुआ था। इन मठों में बड़े बड़े बौद्ध विद्वान निवास करते थे। वे हजारों विद्यार्थियों को विद्या दान करते थे। उन्होंने बहुमूल्य पुस्तकालयों की स्थापना की थी। जो बौद्ध श्रमण चीन से भारत और जो भारत से चीन जाते थे वे इन्हीं मठों और विहारों में ठहरते हुए जाते थे। इन लोगों के काफिले के काफिले चलते थे। चीनी परिव्राजक ह्वेनसांग और इत्सिंग आदि इसी मार्ग से भारत आए थे। उनके यात्रा वर्णनों में इस मार्ग में पड़ने वाले नगरों, नदियों पर्वतों रेगिस्थानों आदि का बहुत कुछ उल्लेख पाया जाता है।

कालान्तर में उधर मुसलमानों का जोर बढ़ने पर उन्होंने चीन और भारत के बीच के इस राज मार्ग को धीरे धीरे नष्ट भ्रष्ट कर दिया। मठों, स्तूपों और विहारों को उजाड़ दिया। हजारों बौद्ध श्रमणों को तलवार के घाट उतार दिया। नगरों को तहस-नहस करके उनको जमींदोज कर दिया। ये सभी स्थान बालू के टीलों में परिणत हो गए। तूफानों के कारण उड़ी हुई बालू ने इन सबको अपने नीचे यहाँ तक दबा लिया कि इनका नामनिशां तक न रहा। अपने ऊपर आई हुई या आने

वाली विपत्ति से अपनी प्राणरक्षा असम्भव समझ कर बौद्ध विद्वान् प्राणदान देने के लिए तैयार हो गये । परन्तु उन्होंने अपने एकत्र किए हुए ग्रन्थ और चित्रादि के समुदाय को अपने प्राणों से भी अधिक समझा । अतएव कही कहीं उन्हों ने उस समुदाय को पर्वतों की गुफाओं के भीतर, कहीं कहीं ज़मीन के नीचे भूतलवर्तिनी कोठरियों के भीतर, और कहीं कही पत्थर के संदूकों के भीतर रख कर उन्हें छिपा दिया । उनमे से अनेक वस्तु-समुदाय तो अवश्य ही नष्ट हो गए, पर जो गुफाओं के भीतर और पृथ्वी के पेट मे छिपा दिए गए थे वे अब धीरे धीरे निकलते जाते हैं । इसका विशेष श्रेय बौद्ध और हिन्दू-धर्म के अनुयायियों को नहीं, योरप के पुरा-तत्त्व-प्रेमी ईसाइयो को है । लाखों रुपया खर्च करके और कठिन मे भी कठिन क्लेश उठाकर ये लोग उन निर्जन वनों और रेतीले स्थानों के ध्वंसावशेष खोद खोद कर उन हजारो वर्ष के पुराने ग्रन्थों और कागज-पत्रों को जमीन के पेट से बाहर निकाल रहे हैं । उनमे से कितने ही तो विवरण और टीका-टिप्पणी सहित छप कर प्रकाशित भी हो गए । परन्तु अभी अनन्त रत्न-राशि प्रकाश मे आने को बाकी है ।

१८७६ ईसवी मे जर्मन-विद्वान् डाक्टर रेजल का ध्यान चीनी तुर्किस्तान के उजाड़-खण्ड की ओर आकृष्ट हुआ । वे वहां गए । उन्हें वहां कितने ही प्राचीन खँडहरों का पता

चला। इसके बाद रूस के रहने वाले दो पुरातत्ववेत्ताओं ने सन् १८६९-६७ ईसवी में उसी तुर्किस्तान के तुरफान प्रान्त में खोज की। उन्हें अपनी खोज में जो चीज़ें मिलीं उनका विस्तृत वर्णन उन्होंने अपनी भाषा में प्रकाशित किया। उनकी देखा देखी फिनलैंड के भी कुछ पुरातत्वज्ञों ने उस रेगिस्तान में घूम घाम करके वहाँ का कुछ हाल लिखा। इस तरह, धीरे धीरे, लोगों का कौतूहल बढ़ता ही गया। अन्त में रूसी विद्वान रैडलफ ने, सन् १८६६ ई० में, पुरातत्व विशारदों की एक सभा में इस बात का प्रस्ताव किया कि पूर्वी और मध्य एशिया के खण्डहरों की बाक़ायदा जाँच की जाय। यह प्रस्ताव पास हो गया। तब से इन प्रान्तों की जाँच के लिए कई देशों के विद्वानों के यूथ के यूथ वहाँ पहुँचे और अनेक बहुमूल्य पुस्तकों, मूर्तियों, चित्रों आदि का पता लगा कर उन्होंने उन पर बड़े मार्के के लेख प्रकाशित किए। यहाँ तक कि सुदूरवर्ती जापान तक ने कई विद्वानों को भेज कर वहाँ खोज कराई। वे लोग भी कितनी ही बहुमूल्य सामग्री अपने देश को ले गए।

१८६१ ईसवी में ब्रिटिश गवर्नमेण्ट के एक दूत चीनी तुर्किस्तान में थे। उनका नाम था कप्तान बावर। उन्हें भोज पत्र पर लिखा हुआ एक ग्रन्थ मिला। उसे उन्होंने बङ्गाल की एशियाटिक सोसायटी को भेज दिया। डाक्टर हार्नली ने उसे पढ़ा। मालूम हुआ कि वह गुप्त नरेशों के समय की देवनागरी लिपि

मे है और ईसा की चौथी शताब्दी मे लिखा गया था। अतएव उसकी रचना उसके भी बहुत पहले हुई होगी। एक आध को छोड कर इस से अधिक पुरानी हस्त-लिखित पोथी भारत मे कही नही पाई गई। जो पोथियाँ सब मे अधिक पुरानी है वे ईसा के ग्यारहवें शतक के पहले की नहीं। यहाँ की आबोहवा मे इस से अधिक पुस्तकें रही नहीं सकतीं। वे टूट फूट कर नष्ट हो जाती है। बावर साहब को मिली हुई पोथी मे भिन्न भिन्न सात पुस्तकें है। उन मे से तीन वैद्यक विषय की है। अवशिष्ट पुस्तकें विशेष करके बौद्ध धर्म से सम्बन्ध रखती हैं।

जब से बावर साहब की पोथी प्रकट हुई तब से तुर्किस्तान के रेगिस्तानी खँडहरों की खुदाई आदि का काम और भी जोरों पर किया जाने लगा। फ्रांस, रूस, स्वीडन, जर्मनी आदि के पुरातत्वज्ञ वहाँ से राशि राशि प्राचीन वस्तु-समुदाय अपने अपने देश को उठा ले गए। चुनांचे ब्रिटिश गवर्नमेंट भी इस सम्बन्ध में चुप नहीं रही। कलकत्ता मदरसा के प्रधान अध्यापक, डाक्टर आरल स्टीन, की योजना उसने इस काम के लिए की। सन् १६०१ ईसवी मे डाक्टर साहब चीनी तुर्किस्तान को गए। वहाँ उन्होंने खुतन या खोटान Khotan के सूबे मे जाँच पड़ताल की। उन्हें अपने काम मे अच्छी कामयाबी हुई। अनेक ग्रन्थ-रत्न उन्हें प्राप्त हुए। उनका वर्णन

उनकी लिखी हई पुस्तक—'प्राचीन खुतन' (Ancient Khotan) में सविस्तर पाया जाता है। इसके बाद डाक्टर साहब ने चीनी तुर्किस्तान पर दो चढ़ाइयाँ और कीं। उनकी तीसरी चढ़ाई सन १९१३ में हुई। सन १९०६ इसकी यात्रा दूसरी चढ़ाई में उन्हें एक ऐसी कोठरी मिली जो बाहर से बन्द थी, परन्तु भीतर जिसके पुस्तकें भरी हुई थीं। इन पुस्तकों का कुछ ही अंश डाक्टर स्टीन को मिला; अवशिष्ट अंश एम० पालियो नाम के एक फ्रेंच विद्वान् के हाथ लगा। इस चढ़ाई का बहुत ही विशद वर्णन डाक्टर स्टीन ने पाँच बड़ी बड़ी जिल्दों में किया है। वे प्रकाशित भी हो गई हैं। उनका नाम है सेरेंडिया (Serindia)।

अपनी दूसरी चढ़ाई में जिस समय डाक्टर स्टीन तुर्किस्तान में प्राचीन चिन्हों और वस्तुओं की खोज कर रहे थे उसी समय मध्य एशिया में खोज करने के लिए फ्रांस की राजधानी पेरिस में एक परिषद् की स्थापना हुई। उसकी सहायता फ्रांस की गवर्नमेंट ने भी धन से की और कई एक अन्य सभाओं ने भी की। इस परिषद् ने एक चढ़ाई की योजना की। एम० पालियो, जिनका नाम ऊपर एक जगह आया है, इसके प्रधानाध्यक्ष नियत हुए। वे दल बल समेत जून सन १९०८ में पेरिस से रवाना हुए और मास्को, ताशकन्द होते हुए, पामीर के उत्तर काशगर तक पहुँच गए। वहाँ आस पास खोज करते हुए वे तुन होंग नामक स्थान में पहुँचे। इसके

कुछ ही समय पहले डाक्टर स्टीन एक गुफा से बहुत सी पुस्तकें प्राप्त कर के लौट चुके थे। यह एक प्रसिद्ध प्राचीन स्थान था। इसकी खबर पोलियो को पहले ही से थी। उन्होंने यह भी सुन लिया था कि डाक्टर स्टीन वहाँ से बहुत-सी प्राचीन पुस्तकें लेकर पहले ही चम्पत होगए हैं। फिर भी उन्होंने वहा पर अपने मतलब की कुछ चीज़े पाने की आशा न छोडी।

खोज करने पर पोलियो को मालूम हुआ कि वंग-ताउ नाम का एक चीनी बौद्ध पुरानी पुस्तकों का स्थिति-स्थान जानता है। पता लगाने पर वह बौद्ध साधु उन्हे मिल गया। पोलियो ने उससे हेल-मेल पैदा करके पुस्तकों का अनुसधान लगाने की प्रार्थना की। उसने इस प्रार्थना को स्वीकार किया। वह उन्हें एक ऐसी जगह ले गया जहाँ पर कोई एक हज़ार वर्ष की पुरानी सैकडों बौद्ध गुफाएँ या कोठरियाँ थीं। उनमे से, किसी समय, उसने एक को खोल कर देखा था और वह उसे पुस्तकों से परिपूर्ण मिली थी। इसी गुफा को वंगने पोलियो के लिए खोला। खोलने पर जो दृश्य पोलियो को दिखाई दिया उससे उनके आश्चर्य और हर्ष की सीमा न रही। ईसवी सन् की दसवीं शताब्दी के अन्त मे जब मुसलमानों ने बौद्धों के नाश का बीडा उठाया तब उस प्रान्त के बौद्ध विद्वानों ने अपना सारा ग्रन्थ और चित्र समुदाय लाकर उस गुफा मे बन्द कर दिया। फिर उसका मुँह चुनवा दिया और चुनी हुई जगह पर बेल बूटे और चित्र खिंचा दिए। यह इस लिए किया जिसमे वह

दीवार सी मालूम हो, किसी को यह सन्देह न हो कि यह गुफा है और इस के भीतर पुस्तकें भरी हुई हैं। मुसलमानों ने पुस्तकादि के इस संग्रह के स्वामी बौद्धों की क्या दशा की, कुछ मालूम नहीं। तब से सन् १६०८ ईसवी तक यह गुफा बराबर बन्द रही।

इस गुफा के भीतर कोई १५ हजार पुस्तकें—संस्कृत, प्राकृत, चीनी, तिब्बती तथा कई अन्य अज्ञात भाषाओं और लिपियों में—मिलीं। रेशम के टुकड़ों पर खिंचे हुए सैकड़ों अनमोल चित्र भी प्राप्त हुए। पुस्तकें सभी ग्यारहवीं सदी के पहले की हैं। कितनी ही ब्राह्मी लिपि में हैं। अधिकतर पुस्तकों का सम्बन्ध बौद्ध धर्म से है। परन्तु काव्य, साहित्य, इतिहास, भूगोल, ज्ञान आदि शास्त्रों से भी सम्बन्ध रखने वाली पुस्तकें इस पुस्तकालय से मिलीं। संस्कृत भाषा में कितनी ही लिखी हुई पुस्तकें इसमें ऐसी हैं जो भारत में सर्वथा अप्राप्य हैं। यहाँ तक कि इसकी अनेक पुस्तकें, जो चीनी भाषा में हैं चीन में भी दुर्लभ क्या अलभ्य ही हैं। पुराने बही खाते, राजनामचे और दस्तावेज तक मिले। इन सब का प्रकाशन धीरे धीरे हो रहा है।

इससे स्पष्ट है कि प्राचीन भारत ने मध्य एशिया की राह चीन, सीस्तान (शकस्थान) और यूनान आदि को विद्या-दान देने और उन्हें सभ्य बनाने का कितना काम किया था।

[सरस्वती]

५१

हमीर

भूमि भारत की सदा से सद्गुणों की खान है।
धर्म-रक्षा, धर्म-निष्ठा ही यहाँ की बान है॥

दीन-दुखियों पर दया करना यहाँ की शान है।
बस इसी से आज तक सर्वत्र इसका मान है॥

—कमलाकर

प्रसिद्ध गढ रणथम्भोर को कौन इतिहास-प्रेमी नहीं जानता? किसने शरणागत-वत्सल वीरवर हमीर राव का नाम नहीं सुना? सब इतिहास-प्रेमियों को मालूम है कि वीर हमीर अला उद्दीन जैसे प्रबल शत्रु से कैसी वीरता से लड़ा था। अला उद्दीन

जैसे उद्दण्ड बादशाह को भी एक बार उसके सामनेसे भागना पड़ा था। परन्तु हमीर राव के राज्यकालमें शैतान की असावधानता तथा अहंकारता से रणथम्भौर जैसे अजेय दुर्ग पर मुसलमानों का झण्डा फहराया।

अलाउद्दीन बादशाह के मैहमाशाह नामक एक मुसलमान दरबारी से एक अपराध बन पड़ा। बादशाह ने इस अपराध की खबर पाते ही उसे प्राण-दण्ड की आज्ञा दे दी। मैहमाशाह को इस कठोर आज्ञा की सूचना पहले मिल चुकी थी। इस लिए उसने भाग कर शरणागत-वत्सल वीर हमीर की शरण ली।

यह सुन कर बादशाह ने हमीर को कहला भेजा कि मैंने सुना है कि तुमने मैहमा को शरण दी है। क्या तुम को मालूम न था कि वह शाही अपराधी है? अथवा क्या तुम को मेरा प्रताप विदित नहीं है जो तुमने ऐसी धृष्टता की है? क्यों व्यर्थ पतङ्गे की भाँति सकुटुम्ब प्राण देने को उद्यत हुए हो? इसलिए मैहमा को मेरे पास भेज कर क्षमा-प्रार्थी बनो। नहीं तो मैं शीघ्र ही आकर तुम्हारी इस उद्दण्डता का उचित पुरस्कार दूँगा।

दूत द्वारा बादशाह के इस सन्देश को सुनते ही वीर हमीर दूत से कड़क कर बोले—बादशाह से कह देना कि हमीर ऐसी धमकियों से डरने वाला नहीं है। मैंने उसी वंश में जन्म लिया है जिसके एक सरदार ने शहाबुद्दीन गोरी को सात बार हराया था और उसे सात बार ही सही-सलामत

छोड कर अपनी वीरता तथा उदारता का परिचय दिया था।
क्या मै राजपूत होकर एक शरण आए हुए मनुष्य को
पकडवा दूँ? नही, कभी नही। सूर्य पश्चिम मे निकल सकता
है, हिमालय फूँक से उड सकता है और समुद्र अपनी मर्यादा
को भी लांघ सकता है, परन्तु हमीर स्वप्न मे भी एक
शरणागत मनुष्य को नही त्याग सकता। जब तक धड़ पर
मस्तक है, जब तक हाथ मे कृपाण है, तब तक यदि सारे
ससार की शक्तियाँ भी मिल कर लडें, तो भी वे मेहमा का
नही ले सकती, तेरी तो हकीकत ही क्या है।

अपने दूत के मुँह से हमीर के वाक्य सुन कर बादशाह के
क्रोध की आग और भी भडक उठी। तुरन्त ही उसने एक
बडी सेना तैयार करने की आज्ञा दे दी। सेना तैयार हो कर
रणथम्भोर की ओर चल दी। स्वय बादशाह भी अपनी फौज
के साथ था। कहते है कि लग भग दस मील तक फ़ौज की
छावनी पडी थी। इस सेना ने दुर्ग को घेर लिया। पर अपने
दुर्ग को इस तरह इतनी बडी फौज द्वारा घिरे हुए देख कर भी
निर्भय वीर हमीर का कलेजा जरा भी नही दहला, वरन दुर्ग
के ऊपर से बादशाह की विस्तृत फौज को देख कर वे बोले
कि बादशाह तो एक सौदागर सा मालूम पडता है।

बादशाह ने समझा था कि इतनी बडी सेना देख कर
हमीर भयभीत हो गया होगा। ऐसा सोच कर उसने फिर

एक बार अपने अपराधों को माँगा, परन्तु उस को फिर भी यही निर्भीक उत्तर मिला।

मैहमा शाह भी बड़ा वीर पुरुष था। वह तीर चलाने में अद्वितीय वीर था। ऐसा कहा जाता है कि युद्ध आरम्भ होने के दिन की पहली रात्रि को, किले के ऊपर छतरी छत पर, हमीर का दरबार लगा हुआ था और नाच हो रहा था। सब राजपूत आनन्द मना रहे थे। कल युद्ध होने वाला है, इसकी किसी को कुछ भी परवाह नहीं थी। एक वीर राजपूत के लिए इससे बढ़ कर आनन्द का स्थान और क्या हो सकती है? उनके शास्त्र में तो लिखा है कि क्षत्रिय को युद्ध में मरने से स्वर्ग मिलता है। फिर भला लड़ाई में मरने से कौन डरेगा? हमीर का ऐसा निश्चय दृढ़ देख कर, अलाउद्दीन जैसे वीर मनुष्य का भी कलेजा दहल गया। उसके मुख पर निराशा के चिह्न स्पष्ट दृष्टिगोचर होने लगे। यह देख कर मैहमा का भाई मीर गाबरू, जो कि बादशाह की फौज में था, बोला—आप इतने निराश क्यों होते हैं? मैं अभी हमीर के रङ्ग में भङ्ग किये देता हूँ। ऐसा कह कर उसने एक ऐसा तीर पातुर की एड़ी पर मारा, जिस से वह बेचारी धड़ाम से गिर पड़ी। यह देख कर हमीर के मन में कुछ शङ्का हुई। परन्तु मैहमा ने आगे बढ़ कर कहा कि महाराज, यह काम मेरे भाई का है,

क्योंकि वह भी तीर चलाने मे मेरे ही बराबर है। यदि आप आज्ञा दें तो मैं भी अपनी तीरन्दाजी दिखलाऊँ। बस, हमीर की आज्ञा पा कर मँहमा ने ऐसा तीर मारा, जिससे बादशाह की टोपी उडकर अलग जा पडी! यह देख कर शाह की फौज मे हलचल मच गई।

प्रातःकाल ही वीर राजपूत प्रात.क्रिया से निवृत्त हो कर युद्ध-भूमि पर जा डटे। छान के दर्रे पर हमीर के काका रण-धीर नायक ने घोर युद्ध किया। यह युद्ध बडा ही लोमहर्षण हुआ। दोनों ओर के बडे बडे वीर योद्धा रण मे काम आये। पृथ्वीराज के प्रसिद्ध सामन्त, काका कान्ह, की उपमा रणधीर से दी जाती है। कहावत है कि 'जो काका कनवज करो, सो छानि करो रणधीर।' कहते हैं कि रणधीर पांच वर्ष लड़ कर वीर-गति को प्राप्त हुआ।

अब छान के दर्रे को विजय करके बादशाह की फौज किले की ओर बढी। यहां भी बहुत दिनों तक घमसान युद्ध होता रहा। बादशाह ने किला विजय करने के अनेक उपाय किए, परन्तु स्वदेश और स्वजाति-प्रेमी वीर राजपूतों के सामने उसका एक भी दांव न चला। अन्त मे विश्वासघाती, महा-तस, दुष्ट सुरजन नामक हमीर का दीवान (मन्त्री) राज्य के लोभ में आकर बादशाह से जा मिला और उसने प्रतिज्ञा की

कि मैं दुर्ग को फतह कर दूँगा। वीर राजपूत अपनी विजय के लिये जी तोड़ कर लड़ रहे थे। उन्हें दुष्ट सुरजन की दुष्टता की कुछ भी खबर न थी। उस समय मन्त्री ने आकर हमीर से कहा—महाराज, दुर्ग की खाद्य-सामग्री समाप्त हो गई है। 'आरा भारा' नामक खास खाती हो गए हैं। अब सामग्री एकत्र करना दुरसाध्य है। यह सुनते ही वीर हमीर के ऊपर वज्रपात सा हो गया। वह अवाक् रह गया। सरल हृदय हमीर उनकी दुष्टता न समझ सका।

रात्रि को एक दरबार किया गया और सब सरदारों की राय पूछी गई। किले में बन्द होकर भूखों मरना वीर हृदय राजपूतों को कब पसन्द आ सकता था। और अधीनता स्वीकार करना तो उनका अपना गला घोंटना था। सब ने एकमति होकर जौहर करने की सम्मति दी। इस समय इस प्रकार हमीर को सङ्कट में देख, मैहमाशाह बोला—महाराज, आप चिन्ता न करें। यह सब लड़ाई मेरे पीछे है। मुझे बादशाह के हवाले कर दीजिए। यह सुनकर हमीर बोले—यह कभी नहीं हो सकता कि मैं राजपूत और राजा हो कर एक शरण आए हुए मनुष्य को पकड़ कर पकड़ा दूँ। धिक्कार है मुझे और मेरी माता को, यदि मैं ऐसा विचार भी करूँ। जब तक शरीर में प्राण है तब तक तुझे प्राणों से अधिक मानता हूँ।

यह कहकर वीर हमीर महलों मे चले गए और अपनी वीर पत्नी से बोले—प्रिये। किले की भोज्य-सामग्री समाप्त हो गई। अब क्या करना चाहिए ? मँहमा को पकड़वा कर अधीनता स्वीकार करूँ या किले के बाहर होकर युद्ध करूँ ?

यह सुनते ही रानी अपने पति को वीर वाक्यों से उत्साहित करती हुई बोली—महाराज, क्या शरण आए हुए मनुष्य को आप पकड़ा देंगे ? क्या आप पवित्र राजपूत कुल मे कलङ्क लगावेंगे ? क्या आप वीर मनुष्य हो कर प्राणों के लोभ मे राजपूतों के स्वाभाविक गुण शरणागत-वत्सलता को इस प्रकार तिलाञ्जली दे देंगे ? कभी नहीं। महाराज, ऐसा कभी विचार भी न कीजिए। हम लोग भी जल कर आप से स्वर्ग मे मिलेंगी। बस, अब सोच-विचार का काम नहीं।

रानी के ऐसे वीर वाक्य सुन कर हमीर बोले—मुझे तुम से ऐसी ही आशा थी।

प्रातःकाल होते ही वीर राजपूत अन्तिम युद्ध के लिए सज्जित होने लगे। सब ने स्नान-सन्ध्यादि करके केसरिया वस्त्र धारण किए और मस्तक पर केसर का त्रिपुण्ड लगाया। हमीर को उनकी रानी ने स्वय अपने हाथों मे युद्ध के साजों से सज्जित करके उनकी आरती की। अब वह प्रेम-भरी आँखों से अपने पति का अन्तिम दर्शन करने लगी। इतने मे लड़ाई के नगाड़े का घनघोर शब्द सुन पड़ा। नगाड़े

के शब्द की ध्वनि राजपूत वीरों की विकट गर्जना से प्रतिध्वनित होने लगी। अब विलम्ब का समय न देख, रानी से अन्तिम भेंट कर और बादशाही सेना को किले की ओर बढ़ते देख, जौहर करने का उपदेश दे, वे बहुत शीघ्र महलों से बाहर आए। उनके दृष्टिगोचर होते ही सेना ने विकट गर्जना करके 'हमीरराव की जय!' का उच्चारण करके उनका स्वागत किया।

बस, अपनी सेना को शब्दों द्वारा उत्तेजित करके वे रणभूमि में जा डटे। दोनों सेनाओं के आमने सामने होते ही घोर घमासान युद्ध आरम्भ हो गया। वीर पुरुष अपने खड्गों को शत्रुओं का रुधिर पान कराने लगे। वीर हमीर भी शाही सेना का मथन करने लगा। कई बार उसने बादशाह के हाथी की ओर रुख किया, परन्तु कृतकार्य न हो सका। अन्त में बादशाह का हठ टूट गया और राजपूतों की सच्ची वीरता के सामने मुसलमान लोग न ठहर सके और धीरे धीरे पीछे हटने लगे। राजपूत वीर भी उत्साहित हो बड़ी वीरता से लड़ने लगे। अब मुसलमान लोग उनके सामने न डट सके और बची हुई सेना के साथ बादशाह भाग निकला। हमीर के सैनिकों ने बादशाह से शाही निशान छीन लिए। आनन्द में मग्न होते, जीते हुए निशानों को सेना के आगे किए हमीर लौटे।

मुसलमानों के निशानों को दूर से आते देख किले के

विश्वास पात्र सेवकों ने समझा कि बादशाह की विजय हुई। राजपूत रमणियों ने यह सुनते ही मुसलमानों से अपनी प्रतिष्ठा बचाने के लिये धधकती हुई अग्नि मे प्रवेश किया। देखते ही देखते अगणित रूप- लावण्य-मयी ललनाएँ जल कर राख का ढेर होगईं।

जब वीर हमीर ने किले के पास पहुँच कर यह हृदय-विदारक शोक-संवाद सुना, जो कि उनके सैनिकों की असावधानी के कारण संगठित हुआ था, तब वे शोक से विह्वल हो गए। जब शोक कुछ कम हुआ, तब वे इसे दैव का कर्त्तव्य मान कर बोले—अब ईश्वर की यही इच्छा है कि पवित्र भारत मे मुसलमानों का राज्य हो ! अब कुटुम्ब-रहित हो कर संसार मे रहने से तो मरना ही श्रेष्ठ है। यह कह कर उन्होंने अपने खड्ग से अपना मस्तक काट शिवजी को चढ़ा दिया।

सुरजन ने बादशाह को यह खबर दी। इसके सुनते ही वह लौट आया। राजपूतों ने अन्त तक उसका सामना किया, पर बिना स्वामी के वे कब तक लड़ते ! अन्त मे बादशाह की विजय हुई और मनुष्य-रहित दुर्ग पर उसने अपना अधिकार जमाया। मैहमाशाह ने भी लड़ाई मे वीरता से प्राण त्यागे। इस प्रकार गढ़-रणथम्भोर सदा के लिए शून्य हो गया।

परन्तु वीर हमीर ने अपने प्राण देकर भी शरणागत

परायणता का व्रत पाला और राजा शिवि की भाँति अपनी कीर्ति अटल कर गये। हमीर की इच्छा वर्णन करते हुये किसी कवि ने कहा है—

सिंह-गमन, सत्पुरुष-वचन कदलि फरै इक बार।
तिरिया तेल हमीर हठ, चढ़ै न दूजी बार॥

आज तक यह दोहा बड़े ही आदर के साथ हमीर का नाम स्मरण कराता है।

—कुँवर नारायण सिंह
(भारतीय आत्मत्याग से)

४२

हिन्दी साहित्य और मुसलमान कवि

सभी देशों के इतिहास में भिन्न-भिन्न जातियों के पारस्परिक सङ्घर्षण के उदाहरण मिलते हैं। उनसे यही सिद्ध होता है कि ऐसे ही सङ्घर्षण से सभ्यता का विकास होता है। भिन्न भिन्न देशों में भिन्न भिन्न अवस्थाओं के कारण विभिन्न जातियों के विभिन्न आदर्श होते हैं। जब एक जाति का दूसरी जाति के साथ मिलन होता है तब उसका सामाजिक जीवन जटिल होता है, पर इसी जटिलता से सभ्यता का विकास होता है। दो जातियों में परस्पर भिन्नता रहनी चाहिए। परन्तु जब उन्हें एक ही स्थान में रहना पड़ता है तब विवश होकर उन्हें कोई एक ऐसा सम्बन्ध-सूत्र खोजना

पड़ता है जिसमें उस भिन्नता में भी एकता स्थापित हो जाय। यही सत्य का अन्वेषण है, यह है एक और व्यष्टि में समष्टि।

भारतवर्ष के इतिहास में महत्वपूर्ण घटना भिन्न भिन्न जातियों का पारस्परिक सम्मिलन है। अन्य देशों की अपेक्षा भारत में जाति प्रेम की समस्या अधिक कठिन थी। योरप में जिन जातियों का सम्मिलन हुआ है उनमें इतनी विषमता नहीं थी। उनमें से अधिकांश की उत्पत्ति एक ही शाखा से हुई थी। इसमें सन्देह नहीं कि उनमें जातिगत उद्वेग और विरोध की मात्रा कम नहीं थी तो भी कदाचित् उनमें वर्ण भेद नहीं था। यही कारण है कि इंग्लैंड में सैक्सन और नामन जातियों में इतना शीघ्र मिलाप हो गया। सच तो यही है कि सभी पाश्चात्य जातियों में वर्ण और शारीरिक गठन की समता है। यही नहीं, किन्तु उनके आदर्शों में भी अधिक भेद नहीं है। इसी लिए उनके पारस्परिक सम्मिलन में बाधा नहीं आती। परन्तु भारतवर्ष की यह दशा नहीं है। प्राचीन काल में श्वेतांग आर्यों का कृष्णकाय आदिम निवासियों से मिलाप हुआ। फिर द्राविड़ जाति से उनका संघर्षण हुआ। उस समय द्राविड़ जाति भी सभ्य थी और उनका आचार व्यवहार आर्यों के आचार व्यवहार से सर्वथा भिन्न था। यह विषमता दूर करने के लिए तीन ही उपाय थे। एक तो यह कि इन जातियों का नाश ही कर दिया जाय। दूसरा

यह कि इन्हे वशीभूत कर उन पर अपनी सभ्यता का प्रभाव डाला जाय। और तीसरा यह कि एक ऐसे बृहत् सत्य का आविष्कार किया जाय जहाँ किसी भी प्रकार की भिन्नता नही रह सकती। भारतीय आर्यों ने इस तीसरे उपाय का अवलम्बन किया। भारतवर्ष के इतिहास मे जिन महापुरुषों का नाम अग्रगण्य है, उन्होंने यही कार्य किया है। भगवान् बुद्ध ने विश्व-मैत्री की शिक्षा देकर भारत के राष्ट्रीय जीवन मे एकता का प्रचार किया। जब भारत पर मुसलमानो का आक्रमण हुआ तब देश मे एक नए आन्दोलन का जन्म हुआ। उस आन्दोलन का उद्देश्य था जातीय और धार्मिक विरोध को भूल कर नारायण के प्रेम मे सभी नरों को भ्रातृरूप से ग्रहण करना। हिन्दी-साहित्य पर इस आन्दोलन का जो प्रभाव पड़ा उसी की चर्चा यहाँ की जाती है।

भारत पर मुसलमानों का आधिपत्य सहसा स्थापित नहीं हो गया। समस्त हिन्दू जाति ने—विशेषकर राजपूतों और मरहठों ने—बड़ी दृढता से उनका आक्रमण रोका था। मुसलमानों का पहला आक्रमण सन् ६६४ ईसवी मे हुआ। उस समय मुसलमान मुलतान तक ही आकर लौट गए। उनका दूसरा आक्रमण सन् ७११ मे हुआ। तब उन्होंने सिन्धु देश पर अधिकार कर लिया था। परन्तु कुछ समय के बाद राजपूतों ने

उनको वहाँ से हटा दिया। इसके बाद महमूद गजनवी का आक्रमण हुआ। उस समय भी मुसलमानों का प्रभुत्व यहाँ स्थापित नहीं हुआ। सन् ११६३ में मुसलमानों का शासन युग प्रारम्भ हुआ। उत्तर भारत में उनका साम्राज्य स्थापित हो जाने पर भी दक्षिण में हिन्दू साम्राज्य बना रहा। विजयनगर के पतन होने पर कुछ समय के लिए समग्र भारत पर से हिन्दू साम्राज्य का लोप हो गया। परन्तु सत्रहवीं सदी में मरहठे प्रबल हुए, और अन्त में उन्होंने फिर हिन्दू-साम्राज्य की स्थापना की। इसी समय अँग्रेजों का प्रभुत्व बढ़ा और कुछ ही समय में हिन्दू और मुसलमान दोनों को अँगरेजों का आधिपत्य स्वीकार करना पड़ा।

यद्यपि भारतवर्ष में मुसलमानों का साम्राज्य सन् ११६३ से प्रारम्भ होता है, तथापि कितने ही मुसलमान साधक और फकीर इन आक्रमणकारियों के पहले ही यहाँ आ चुके थे। आठवीं सदी में जब मुसलमानों ने भारत का एक भाग विजय कर लिया तब तो हिन्दुओं और मुसलमानों में घनिष्ठता हो गई। उस समय मुसलमानों का अभ्युदय बढ़ रहा था। बगदाद विद्या का केन्द्र हो गया था। कितने ही भारतीय विद्वान् खलीफा के दरबार तक जा पहुँचे। वहाँ उन लोगों की बदौलत संस्कृत के कितने ही ग्रन्थों का अनुवाद अरबी भाषा में हुआ। भारत में मुसलमानों ने केवल अपनी प्रभुता ही स्थापित

नहीं की किन्तु अपने धर्म का भी प्रचार किया। तभी हिन्दू और मुसलमान का विरोध आरम्भ हुआ। इस विरोध को दूर करने का सब से अधिक प्रयत्न किया कबीर ने। कबीर ने देखा कि भारतवर्ष मे हिन्दू और मुसलमानो का विरोध बिलकुल अस्वाभाविक है।

कोइ हिन्दू कोइ तुरक कहावै एक जमीं पर रहिए।
वही महादेव वही मुहम्मद ब्रह्मा आदम कहिए॥
वेद किताब पढ़ै वे कुतबा मौलाना वे पांडे।
बिगत बिगत के नाम धरायो यक माटी के भांडे॥

कबीर हिन्दू और मुसलमान दोनों का हाथ पकड़ कर एक ही पथ पर ले जाना चाहते थे। परन्तु दोनों इस का विरोध करते थे। कबीर को उनकी इस मूढता—इस धर्मान्धता—पर आश्चर्य होता था। उन्होंने देखा कि इस विरोधाग्नि मे पड़ कर दोनों नष्ट हो जावेंगे।

साधो देखो जग बौराना।
सांच कहो तो मारन धावै झूठे जग पतियाना।
हिन्दू कहत है राम हमारा, मुसलमान रहिमाना॥
आपस मे दोउ लरि लरि मूए मरम न काहू जाना।
हिन्दू की दया मेहर तुरकन की, दोनों घट सों त्यागी॥
वे हलाल वे झटका मारैं, आग दोऊ घर लागी।
या विधि हँसत चलत हैं हम को आप कहावे स्याना।

कहैं कबीर सुनो भाई साधो, इन में कौन दिवाना ॥

इसीलिए कबीर की कल्याण कामना में प्रवृत्ति हो कबीर उस पथ का खोज निकालना चाहते थे जिस पर हिन्दू और मुसलमान दोनों चल कर आत्मोन्नति कर सकें। परन्तु हिन्दू जिधर जा रहे थे तो मुसलमान ठीक उसके विपरीत जा रहे थे। कबीर ने उनको बताया भी—

अरे इन दुहूँ राह न पाई।

हिन्दू की हिन्दुआई देखी तुरकन की तुरकाई।
कहैं कबीर सुनो भई साधो कौन राह ह्वै जाई ॥

इसी लिए कबीर ने हिन्दू की हिन्दुआई और तुर्क की तुरकाई दोनों को छोड़ दिया। उन्हों ने केवल मनुष्यत्व को ग्रहण किया—

हिन्दू कहूँ तो मैं नहीं मुसलमान भी नाहिं।

उन्होंने दोनों को एक ही दृष्टि से देखा—

सम दृष्टि सतगुरु किया मेटा भरम विकार।
जहँ देखौं तहँ एक ही साहब का दीदार ॥

सम-दृष्टी तब जानिए सीतल समता होय।
सब जीवन की आतमा लखै एक सी सोय ॥

कबीर का प्रयास व्यर्थ नहीं हुआ। हिन्दू और मुसलमान सम्मिलन की ओर अग्रसर हुए। भाषा के क्षेत्र में इनका सम्मिलन बहुत पहले हो चुका था। अमीर खुसरो ने इस

एकता की नींव को दृढ किया। हिन्दी मे कागज-पत्र, शादी-ब्याह, खत-पत्र आदि शब्द उसी सम्मिलन के सूचक है। इस के बाद जायसी ने मुसलमानों को हिन्दी-साहित्य मे सौंदर्य का दर्शन कराया।

तुरकी अरबी हिन्दवी भाषा जेती आहि।
जामे मारग प्रेम का सबै सराहैं ताहि॥

मलिक मुहम्मद जायसी कवि ही नहीं थे साधक भी थे। हिन्दू और मुसलमान दोनों उनकी पूजा करते थे। कितने ही लोग उनके शिष्य थे। अतएव यह कहना नहीं होगा कि हिन्दी-भाषा मे रचना कर उन्होंने मुसलमानों को हिन्दू-जाति से प्रेम करने की शिक्षा दी। जायसी के धार्मिक विचारों का आभास उनके अखरावट से मिलता है। अपने धर्म पर अविचल रह कर भी कोई दूसरे के धर्म को श्रद्धा की दृष्टि से देख सकता है, यही नहीं, उनका भी धर्म ईश्वर-प्रदत्त है, अतएव वे हमारी घृणा के पात्र नहीं है।

तिन्ह सन्तति उपराजा भाँतिहि भाँति कुलीन।
हिन्दू तुरक दुनउ भए अपने अपने दीन।

जायसी ने जो शिक्षाएँ दी हैं उनमे ऐसी कोई शिक्षा नहीं है जिसे कोई हिन्दू स्वीकार न कर सके। ईश्वर की सर्वव्यापकता पर उन्होंने कहा है—

जस तन तस यह धरती जस मन तइस अकास।

परम हंस तेहि मानस अइस पूल मँह वास ॥

जो उनका दर्शन करना चाहते हैं उन्हें अपने हृदय को सदैव स्वच्छ रखना चाहिए—

तन दरपन कहँ साज दरसन देखा जौ चहइ।
मन सौं लीजइ माँज, महमद निरमल होइ किया।

उन्होंने पवित्र ध्यान की सदैव शिक्षा दी है—

एक करत दुइ होय दुइ सो राज न चलि सकइ
बीच तें आपहु खोय महमद एकाइ होइ रहइ ॥

मानव और आत्मा में भी उन्होंने कोई भिन्नता नहीं देखी है—

सबइ जगत दरपन कइ लेखा,
आपुहि दरपन आपुहि देखा।
आपुहि बन अउ आपु पखेरू,
आपुहि सउजा आपु अहेरू ॥

आपुहि पुहुप फूल बनि फूल,
आपुहि भँवर बास रस भूल।
आपुहि फल आपुहि रखवारा,
आपुहि सो रस चाखन हारा।
आपु है घट घट मँह मुख चाहइ,
आपुहि आपन रूप सराहइ।

आपुहि कागद आपु मसि आपुहि लिखन हार।
आपुहि लिखनी आखर आपुहि पँडित अपार ॥

जिस आन्दोलन के प्रवर्तक कबीर थे उसकी पुष्टि जायसी के समान मुसलमान साधकों और फ़क़ीरों ने की। भारत में राजकीय सत्ता स्थापित करने के लिए हिन्दू और मुसलमान दोनों प्रयत्न करते रहे। परन्तु देश में दोनों का स्थान निर्दिष्ट हो चुका था। भारत से मुसलमानों का उतना ही सम्बन्ध हो गया जितना हिन्दुओं का। प्रतिद्वन्द्वी होने पर भी इन दोनों के धर्मों का प्रवेश भारतीय सभ्यता में हो गया। हिन्दी और फ़ारसी से उर्दू की सृष्टि हुई। उसी प्रकार हिन्दू और मुसलमान की कला ने मध्य युग में एक नवीन भारतीय कला की सृष्टि की। देश में शान्ति भी स्थापित हुई। कृषकों का कार्य निर्विघ्न हो गया। व्यवसाय और वाणिज्य की वृद्धि होने लगी, देश में नवीन भाव का यथेष्ट प्रचार हो गया। अकबर के राजत्व-काल में जिस साहित्य और कला की सृष्टि हुई उसमें हिन्दू और मुसलमान का व्यवधान नहीं था। अकबर के महामंत्री अबुल फ़ज़ल ने एक हिन्दू-मंदिर के लिए जो लेख उत्कीर्ण कराया था उसका भावार्थ यह है—हे ईश्वर, सभी देव-मंदिरों में मनुष्य तुम्हीं को खोजते हैं, सभी भाषाओं में मनुष्य तुम्हीं को पुकारते हैं। विश्व-ब्रह्मवाद तुम्हीं हो और मुसलमान-धर्म भी तुम्हीं हो। सभी धर्म एक ही बात कहते हैं कि तुम एक हो, तुम अद्वितीय हो। मुसलमान मसजिदों में तुम्हारी प्रार्थना करते हैं और ईसाई गिर्जा-घरों में तुम्हारे

लिए धर्म रखाते हैं। एक दिन मैं मसजिद जाता हूँ और एक दिन गिर्जा। पर मन्दिर मन्दिर में मैं तुम्हीं को खोजता हूँ। तुम्हारे शिष्यों के लिए सत्य न तो प्राचीन है और न नवीन। अकबर के काल का यह उदार मध्ययुग का नवीन सन्देश था। हिन्दी में सूरदास और तुलसी दास ने अपने युग को इसी भावना से प्रेरित हो मनुष्य जीवन में श्रेष्ठ आदर्श दिखलाया। उसी भाव को ग्रहण कर मुसलमानों में रहीम ने कविता लिखी। निम्नलिखित पद्यों से प्रकट हो जाता है कि रहीम ने हिन्दू भाव को कितना अपना लिया था।

> अनुचित वचन न मानिए जदपि गुराइस गाढ़ि।
> है रहीम रघुनाथ ते सुजस भरत को बाढ़ि॥
> कमला थिर न रहीम कहि यह जानत सब कोय।
> पुरुष पुरातन की बधू क्यों न चंचला होय॥
> गहि सरनागति राम की भवसागर की नाव।
> रहिमन जगत उधार कर और न कछू उपाव॥
> जो रहीम करिबो हतो ब्रज को इहै हवाल॥
> तो काहे कर पर धरयो गोवर्धन गोपाल॥

मुगलों के शासन काल में हिन्दी-साहित्य की जो श्री वृद्धि हुई उसका कारण यही है कि उस समय मुसलमान भारत को स्वदेश समझने लगे थे। न तो हिन्दुओं में

अधिक प्यार करते थे कि उन्होंने बारम्बार 'मम प्राण प्रियतर' — हमारे प्राणों से भी प्यारे — कह कर भरत का उल्लेख किया है। कौशल्या से रामचन्द्र ने कहा था —"धर्म प्राण भरत की बात देख कर तुम्हें अयोध्या छोड़ने में हर्ष कुछ भी चिन्ता नहीं होती।' पर इन रामचन्द्र ने भी भरत पर सन्देह के दो चक्र बाण न छोड़े हों ऐसा नहीं है। उन्होंने सीता से कहा था — तुम भरत के सामने हमारी प्रशंसा मत करना, क्योंकि ऋद्धियुक्त पुरुष दूसरे की प्रशंसा नहीं सुनना चाहता।" यह सन्देह क्षमा नहीं किया जा सकता। पिता दशरथ ने भी रामचन्द्र के राज्याभिषेक के समय भरत को सन्देह की दृष्टि से देखा था। उन्होंने राम को बुला कर कहा था— 'हम चाहते हैं कि मामा के यहाँ भरत के रहते रहते ही तुम्हारा अभिषेक हो जाय क्योंकि यद्यपि भरत धार्मिक और तुम्हारे पीछे पीछे चलने वाला है, तथापि मनुष्य का मन विचलित होते कितनी देर लगती है।' इक्ष्वाकु-वंश की परम्परागत प्रथा के अनुसार राजसिंहासन बड़े भाई ही को मिलता है, तो फिर ऐसी दशा में धार्मिकाग्रगण्य भरत पर ऐसा सन्देह करना माननीय नहीं हो सकता। रामचन्द्र भरत के चरित्र की महिमा इतनी जानते थे तो भी वनवास के अन्त में भरद्वाज के आश्रम में उन्होंने हनुमान को यह कह कर भरत के पास भेजा कि 'हमारे आने की खबर सुन कर भरत के मुख पर कुछ विकार होता है या नहीं, यह अच्छी तरह

देखना।' यह सन्देह भी सर्वथा अमार्जनीय है। संसार में निरपराधी को भी कई वार दण्ड हुआ हैं, पर भरत के समान आदर्श धार्मिक को इस तरह के दण्ड देने का दृष्टान्त कहीं विरले ही मिलेगा। लक्ष्मण तो वारम्वार –

'भरतस्य वधे दोष नाह पश्यामि राघव।'

'भरत के वध करने में मैं कोई पाप नहीं समझता।' कह कर उछल-कूद करते थे। किन्तु उसी भरत ने अश्रुरुद्ध कण्ठ हो लक्ष्मण के विषय में कहा था—

'सिद्धार्थः खलु सौमित्रिर्यश्चन्द्रविमलोपमम्।
मुखं पश्यति रामस्य राजीवाक्ष महाद्युतिम्।

'लक्ष्मण, तू धन्य है जो राजीवलोचन रामचन्द्र के चन्द्रमा के समान उज्ज्वल मुख को देखता है।' भरत से सब लोगों के रुष्ट होने का कुछ न कुछ कारण अवश्य होगा। इतना बड़ा षड्यन्त्र रचा गया, क्या भरत ने परोक्ष में इसका किसी तरह अनुमोदन नहीं किया? अपने मामा युधाजित से परामर्श कर भरत दूर ही से डोर हिला कर कैकेयी को कठपुतली की तरह नहीं नचाते थे, इसका क्या प्रमाण है? इसी सन्देह की आशङ्का करके भरत ने वैराग्य की दशा में कैकेयी से कहा था—'जिस समय अयोध्या की सारी प्रजा रुद्धकण्ठ और सजल-नेत्र हो हमारी ओर देखेगी, हम उस को सह नहीं सकेंगे।' कौशल्या भरत को बुला कर कटु वाक्य कहने लगी। उन कटु वचनों से भरत को घाव में सुई छेदने के समान पीड़ा

हुए। दैव के चक्र में पड़ कर देवताओं के समान चरित्र-सम्पन्न भरत सारे संसार के सन्देह भाजन हो लाञ्छित हुए। जब वे रामचन्द्र को मनाने के लिए बहुत सी सेना लेकर जा रहे थे, तब निषादों का राजा गुह मन में यह विचार कर कि ये रामचन्द्र का अनिष्ट करने के लिए जाते हैं, हाथ में लट्ठ लेकर रास्ते में खड़ा हो गया। यहाँ तक कि भरद्वाज ऋषि तक ने भय की दृष्टि से देखते हुए उन से यह पूछा—'आप उस निष्पाप राजपुत्र के पास कोई पाप विचार कर तो नहीं जाते हैं?' इस प्रकार हर एक का समाधान करते करते भरत के प्राण कण्ठगत हो गये। भरत कैकेयी को 'मातृरूप महाअमित्र' कह कर सम्बोधन करते थे। वास्तव में कैकेयी माता के रूप में उनकी बड़ी भारी शत्रु ही थी। सारे संसार का भरत पर जो सन्देह की दृष्टि का विष-बाण गिरता था, उसका मूल कारण कैकेयी ही थी।

किन्तु घटनावली कितनी ही जटिल भाव क्यों न धारण करे, पर भरत के अपूर्व भ्रातृ स्नेह ने सारी जटिलता को सरल कर दिया था। रामचन्द्र को हमने अनेक अवस्थाओं में सुखी होते देखा है। जिस समय चित्रकूट की पुष्प-वाटिका की शोभा और टूटे फूटे पत्थरों के टुकड़ों से छाई हुई अपरिचित भूमि में अधिष्ठित पर्वत के शिखर और रंग बिरंगे फूलों को देख कर रामचन्द्र ने सीता से कहा—"इस स्थान पर तुम्हारे

संग विचर कर हम अयोध्या के राज्यपद को तुच्छ समझते हैं" उस समय दम्पति का निर्मल आनन्दमय चित्र हमे बडा ही सुन्दर और सुखप्रद बोध होता है। रामचन्द्र रूपी आकाश कभी बादलों से घिर जाता और कभी स्वच्छ हो जाता था। किन्तु भरत का सदा ही खिन्न चित्र मर्मान्तिक करुणा के योग्य था। जिस समय भरत रामचन्द्र को लौटाने के लिए आए उस समय रामचन्द्र उनकी जटिल, कृश और विवर्ण मूर्ति को देख कर चकित हो गए और उन्हे बडी कठिनाई से पहचाना।

भरत का चित्र प्रदर्शन करने के अभिप्राय से जिस समय कवि-गुरु ने पहले ही पहल पर्दा उठाया, उसी समय उनकी मूर्ति विषण्णतापूर्ण थी। वे इस बुरे स्वप्न को देख कर प्रातः काल उठे कि नर्तकियाँ उनके प्रमोद के लिए उनके सामने नृत्य कर रही हैं, सखा लोग व्यग्रचित्त हो कर कुशल पूछ रहे हैं और भरत का चित्त भारी और मुख श्री-हीन है। अयोध्या की विषम विपत्ति के पूर्वाभास ने मानो उनके मन पर अधिकार कर लिया था और वे किसी प्रकार स्वस्थ नहीं होते थे। इसी समय उनको लेने के लिए अयोध्या से दूत आए। व्यग्र कंठ से भरत ने दूतों से अयोध्या के सब लोगों की अलग अलग कुशल पूछी। दूतों ने दो अर्थ वाला उत्तर दिया—

"कुशलास्ते महाबाहो येषां कुशलमिच्छसि।"

'हे महाबाहो! आप जिनकी कुशल पूछते हैं वे सकुशल हैं। किन्तु पिछली रात का बुरा स्वप्न और दूतों की व्यग्रता ये दोनों उन्हें एक समस्या के समान समझ पड़े। इन दो घटनाओं की दुश्चिन्ता के सूत्र में बँधे रहकर वे अत्यन्त दुःखी हुए।

बहुत से स्थान, नदी नाले और झाड़ियाँ पार करके भरत दूर ही से अयोध्या की चिरश्यामल वृक्षावली को देख सकते थे और हारी हुई जबान से उन्होंने सारथी से पूछा—"अयोध्या सो तो नहीं मालूम होती। इस नगरी का वह चिरश्रुत तुमुल शब्द क्यों नहीं सुनाई पड़ता? वेदपाठी ब्राह्मणों का कण्ठस्वर और काम में लगे हुए स्त्री पुरुषों का कोलाहल भी बिलकुल नहीं सुनाई देता। जिन प्रमोद उद्यानों में स्त्री पुरुष अकेले विचरते थे, वे आज सूने पड़े हैं। सड़कें चन्दन और अन्न के छिड़काव से पवित्र नहीं होतीं। सड़कों पर रथ, हाथी, घोड़े कुछ भी नहीं हैं। जिसके सब दरवाजे खुले हैं, ऐसी श्री-हीन राजपुरी मानो व्यंग्य कर रही है। यह तो अयोध्या नहीं है, मानो अयोध्या का वन है।'

वास्तव में अयोध्या श्री-हीन हो गई थी। रामचन्द्र रूपी चन्द्र के बिना अयोध्या के सुन्दर बाजारों की शोभा बिलकुल नष्ट हो गई थी। तीनों लोकों में यशस्वी महाराज दशरथ ने पुत्र-शोक में अपने प्राण त्याग दिए थे। अभिषेक के उत्सव से आनन्दित बड़े राजकुमार मुनियों के वेष में वन को चले

गए थे और हाथों के कङ्कण, कडे और अन्य आभूषण सखियों को वितरण कर अयोध्या की राजवधू तपस्विनियों के वेश मे अपने स्वामी के संग हो ली थी। जिनकी दोनों लम्बी और सुडौल भुजाएँ अङ्गद प्रभृति सब आभूषण धारण करने के योग्य थी, ऐसे "स्वर्णच्छवि" लक्ष्मण भाई और भाभी के पैरों के पीछे जा रहे थे। अयोध्या मे घर घर इन तीनों देवताओं के लिए करुणा के आंसुओं की नदी बह रही थी। हा, अब वे वन मे रहते हैं और राजमहल त्याग दिया है। सुमन्त ने ठीक ही कहा था कि सारी अयोध्या पुत्रहीना कौशल्या की दशा को प्राप्त हुई है।

किन्तु भरत यह सब कुछ नहीं जानते थे। उन्होंने चुपचाप प्रतिहारियों का अभिवादन स्वीकार किया और बड़े उत्कण्ठित चित्त से पिता के महल मे गये, पर वहाँ पिता को नहीं पाया—

"राजा भवति भूयिष्टमिहाम्बायाः निवेशने।"

'कैकेयी के महल में महाराज अनेक समय रहते थे,' अतएव भरत पिता को ढूँढ़ते ढूँढ़ते माता के महल मे पहुँचे।

सद्योविधवा कैकेयी आनन्द से फूली नहीं [illegible] और वह पतियाति [illegible] के भावी अभिषेक के आनन्द [illegible]
मन ही [illegible] कर सुखी हो रही थी। [illegible]
कर [illegible] न हुई। जब भरत ने [illegible]
पूछा [illegible]

"या गतिः सर्वभूतानां तां गतिं ते पिता गतः ।"

'सब प्राणियों की जो गति होती है वही गति तुम्हारे पिता की हुई है। इस समाचार को सुन कर कुठार से काटे गए वन वृक्ष की तरह भरत पृथिवी पर गिर पड़े।

'क स पाणिः सुखस्पर्शस्तातस्याक्लिष्टकर्मणः ।'

अक्लिष्टकर्मा पिता के हाथ के स्पर्श का वह सुख अब कहाँ मिलेगा?' यह कह कर भरत रोने लगे। राजा के बिना राजशय्या उन्हें चन्द्रमा के बिना आकाश के समान दिखाई पड़ी। उन्होंने कैकेयी से कहा—"राम कहाँ हैं?' इस समय पिता के न होने पर जो हमारे पिता, जो हमारे बन्धु और मैं जिनका दास हूँ—उन रामचन्द्र के दर्शन के लिए हमारा प्राण व्याकुल हो रहा है।" राम, लक्ष्मण और सीता का वनवास हुआ सुन कर भरत क्षण भर के लिए मूर्ति के समान खड़े रह गए और भाई के चरित्र में आशंका करते बोले—"राम ने क्या किसी ब्राह्मण का धन छीन लिया था? क्या उन्होंने दीन दुखियों को सताया था? अथवा परस्त्री में आसक्त हो गये थे, जिससे उन्हें निर्वासन का दण्ड मिला?" अन्तिम प्रश्न के उत्तर में कैकेयी ने कहा—

'न रामः परदारान् चक्षुर्भ्यामपि पश्यति।'

'रामचन्द्र पराई स्त्रियों को आँखों से भी नहीं देखते।'

अन्त में भरत की उन्नति और राजश्री की कामना से कैकेयी ने जो सब लीला रची थी, उसे कह कर वह पुत्र को प्रसन्न करने की प्रतीक्षा में उनके मुख की ओर देखने लगी।

घने बादलों ने मानो आकाश को घेर लिया था। धर्मप्राण विश्वस्त भ्राता क्षण भर तक इस दुःख-संवाद का मर्म समझने में समर्थ नहीं हुए। उन्होंने माता को जो धिक्कार दी, उसे हम उसकी महादुर्गति का स्मरण कर सम्पूर्ण रूप से समयोपयोगी समझते हैं। तू धार्मिकवर अश्वपति की कन्या नहीं है, उनके वंश में तू राक्षसी पैदा हुई है। तूने हमारे धर्मवत्सल पिता का नाश कर दिया है और भाइयों को गली गली का भिखमँगा बना दिया है। तू नरक में पड।' जिस समय कातर कण्ठ हो कर भरत ये बातें कह रहे थे, उस समय दूसरे महल में कौशल्या ने सुमित्रा से कहा—'भरत की आवाज सुनाई पडती है। वह आ गया है। उसे हमारे पास बुला।' कृशाङ्गी सुमित्रा ने भरत को बुलाया। तब कौशल्या ने कहा—'तुम्हारी माता तुमको लेकर निष्कंटक राज्य भोगे, तुम हमको राम के पास पहुँचा दो।' इन कटु वचनों से मर्मविद्ध हो कर भरत ने कौशल्या के सामने अनेक शपथें खाईं कि वे इस मामले के षड्यन्त्र को रत्ती भर भी नहीं जा ते। अपनी बात को अनेक प्रकार से समझाने की चे ग शोक और लज्जा के मारे

भरत का चेहरा कुम्हला गया और वे अपने को बारम्बार कोसने और शाप देने लगे। मार से ग्लानि और दारुण शोक के कारण वे मूर्छित हो कर पृथ्वी पर गिर पड़े। करुणामयी अम्बा कौशल्या धर्मभीरु कुमार के मन के भाव को समझ गई और उन्हें गोद में उठा कर रोने लगी।

भरत का शोक और उदासीनता क्रम से बढ़ चली। श्मशान भूमि में मृत पिता के गले से लग कर वे रोते रोते बोले—'हे पिता, अपने प्यारे पुत्रों को वन भेज कर आप कहाँ जाते हैं?' सजल नेत्र और शोकविमूढ़ राजकुमार को वशिष्ठ ने ताड़ना कर के पिता की अन्त्येष्टि क्रिया करने में प्रवृत्त किया। शोक विह्वल हो कर भरत एक बेर मूर्छित होकर गिर पड़े।

प्रात काल वन्दीजन भरत की स्तुति गाने लगे। उस समय भरत ने पागलों की तरह दौड़ कर उन्हें मना कर दिया—'इक्ष्वाकु-वंश की प्रथा के अनुसार सिंहासन बड़े राजकुमार को मिलता है। तुम किस की वन्दना कर रहे हो?'। राजा की मृत्यु के चौदहवें दिन वशिष्ठ आदि मंत्रियों ने भरत से राज्य ग्रहण करने का अनुरोध किया। भरत बोले—'रामचन्द्र राजा बनेंगे। हम अयोध्या की सारी प्रजा को लेकर उन्हें पैरों पड़ कर मना लावेंगे। यदि वे न लौटे, तो हम भी चौदह वर्ष वन में रहेंगे।'

शत्रुघ्न मन्थरा को मारने और कैकयी को . .

किन्तु क्षमा के अवतार भरत जी ने उन्हें मना कर दिया।

सब अयोध्यावासी रामचन्द्र को लौटाने के लिए चल पड़े। शृङ्गवेरपुर मे गुह के साथ भरत का साक्षात्कार हुआ। गुह ने भरत पर पहले सन्देह किया था, किन्तु भरत के मुख को देख कर उसे उनके हृदय का भाव जानने में देर नही लगी। इंगुदी के वृक्ष के नीचे रामचन्द्र ने तृण-शय्या पर कुछ जलपान कर एक रात्रि व्यतीत की थी। वह तृण-शय्या रामचन्द्र के विशाल बाहुओं की रगड से दब गई थी और सीता के वस्त्रों से गिरे हुए स्वर्ण-बिन्दु तृण पर दिखाई देते थे। यह दृश्य देखते देखते भरत मौन हो एकटक खड़े रह गये। गुह बातें करता था, पर भरत सुन नहीं सकते थे। भरत को संज्ञाशून्य देख कर शत्रुघ्न उनसे लिपट कर रोने लगे। रानियां और मंत्री लोग शोक से विह्वल हो गये।। बहुत यत्न से जब भरत होश मे आये, तब उन्हों ने नेत्रों मे जल भर कर कहा—'क्या यह उन्हीं की शय्या है, जिन्हें सदा आकाशस्पर्शी राजप्रासाद मे रहने का अभ्यास है—जिनके गृह पुष्प-माला, चित्र और चन्दन से सदा चर्चित रहते हैं—जिनके महल का शिखर नृत्यशील पक्षियों और मोरों की विहारभूमि है और गाने-बजाने के शब्द से सदा मुखरित रहता है और जिसकी स्वर्ण की दीवारों पर आदर्श चित्रकारी का काम किया हुआ है? उसी गृह के स्वामी इंगुदी के नीचे रहे हैं! ये बाते स्वप्न सी मालूम पड़ती हैं, ये विश्वास

के योग्य नहीं हैं। हम क्या मुँह लेकर राजचन्द्र धारण करेंगे? भोग विलास की वस्तुओं से हमें प्रयोजन नहीं। हम आज ही से जटा-वल्कल धारण करेंगे, भूमि पर सोएँगे और फल फूल खा कर अपना जीवन व्यतीत करेंगे।'

इस प्रकार जटा-वल्कलधारी ज्ञानविमूढ़ राजकुमार भरद्वाज मुनि के आश्रम में जा कर रामचन्द्र का पता लगाने लगे। सरल ऋषि ने भी पहले सन्देह प्रकट कर भरत के मन को पीड़ा पहुँचाई थी। एक रात्रि भरद्वाज के आश्रम में आतिथ्य सत्कार ग्रहण कर मुनि के निर्देशानुसार राजकुमार ने चित्रकूट की ओर प्रस्थान किया। भरद्वाज ने भरत के डेरों में आ कर रानियों को देखना चाहा। भरत ने इस प्रकार माताओं का परिचय दिया— भगवन्, यह जो शोक और निरादर से क्षीण देह, सौम्य मूर्ति और देवताओं की तरह दिखलाई पड़ती हैं, वह हमारे अग्रज रामचन्द्र की माता हैं। वह जो बायें हाथ का सहारा लगाए उदास खड़ी और वन में सूखे हुए कर्णिकार पुष्पों के पेड़ की तरह शीर्णाङ्गी हैं, लक्ष्मण और शत्रुघ्न की जननी सुमित्रा हैं। और उन के पास ही वह, जिस ने अयोध्या की राजलक्ष्मी को विदा कर दिया है, वह पतिघातिनी और सारे अनर्थ की मूल वृथा प्रज्ञामानिनी और राज्यकामुका इस अभागे की माता है।' यह कहते कहते भरत के दोनों नेत्रों से जल बहने लगा और क्रुद्ध सर्प की तरह

उन्होंने एक बार अश्रुपूर्ण चक्षुओं से माता की ओर देखा।

चित्रकूट के पास पहुँच कर माताओं और मन्त्रियों को लिए हुए भरत ने रथ त्याग दिया और पैदल चलने लगे।

उस समय रमणीय चित्रकूट पर अर्क और केतकी के पुष्प खिल रहे थे और आम और लोध के पके हुए फल डालियों पर लटक रहे थे। चित्रकूट पर्वत पर कहीं टूटे फूटे पत्थर के टुकड़े पड़े हुए थे, कहीं नीचे की अधित्यका भूमि पुष्पों के लगने से रमणीय बगीचों की तरह सुन्दर मालूम होती थी और कहीं पर्वत के एक गात्र से एक शैल-शिखर ऊँचा उठ कर आकाश का ही चुम्बन कर रहा था। पास ही मन्दाकिनी कभी किनारे पर आ जाती और कभी उसकी छोटी सी धारा वृक्षों की नील आभा ही मे विलुप्त हो जाती थी। कहीं मन्दाकिनी की लहरें वायु के वेग से इस प्रकार फर्राटे ले रही थीं, मानों सुन्दरियों के शरीर से वस्त्र ही उड़ रहे हों। और कहीं झरनों के प्रपात से पर्वती फूल अपनी ही छटा दिखा रहे थे। इस दृश्य को देख कर रामचन्द्र ने सीता से कहा—'राज्यनाश और सुहृद्विरह हमारी समझ मे हमें कोई पीडा नहीं दे रहा है। हम इस पर्वत की दृश्यावली का निर्मल आनन्द सम्पूर्ण रूप से उपभोग कर सकते हैं।'

इस बात के समाप्त होते न होते आकाश सहसा बड़े भारी शब्द से गूँजने लगा, धूल से दसों दिशाएँ छा गई और

तुमुल शब्द से पशु पक्षी चारों ओर भागने लगे। रामचन्द्र ने प्रसन्न हो कर लक्ष्मण से जिज्ञासा की—'देखो, क्या कोई राजा या राजपुत्र इस वन में शिकार खेलने आया है? अथवा किसी भीषण जन्तु के आने से इस सौम्य निर्जन की शान्ति इस प्रकार भङ्ग हो रही है?' लक्ष्मण शीघ्रपुष्पित शाल वृक्ष पर चढ़ कर इधर उधर देखने लगे, तो उन्हें पूर्व दिशा में फौज दिखाई पड़ी। उसे देख कर वे बोले—'अग्नि बुझा दो, सीता को यहीं गुफा में छिपा दो और अस्त्र शस्त्र ले कर सुसज्जित हो जाओ।' किसकी फौज आ रही है? क्या कुछ समझ में आया?' लक्ष्मण ने इस प्रश्न का उत्तर दिया—'पास ही वह वृक्ष आ दिखाई पड़ता है उसके पत्तों में से भरत की कोविदारयुक्त * रथ की ध्वजा दिखाई पड़ती है। अभिषेक होने से उनका मनोरथ पूर्ण नहीं हुआ। अपने राज्य की शोभा को निष्कण्टक करने के लिए भरत हम लोगों का वध करने के लिए आये हैं। आज हम इस सब अनर्थ के मूल भरत का वध करेंगे।'

रामचन्द्र बोले—'भरत हम लौटाने के लिए आये हैं। सब बातों को अच्छी तरह जान कर हमसे सदा स्नेह करने वाले, हमारे प्राणों से भी प्यारे भरत स्नेहार्द्र हृदय से पिता को प्रसन्न कर हमें लेने के लिए आये हैं। तुम उन पर अन्याय करने का

* भरत की फौज के झंडे का निशान 'कोविदार' था।

क्यों सन्देह करते हो ? भरत ने कभी हमारे साथ बुराई नहीं की। तुम उन्हें क्यों ऐसे क्रूर वचन कहते हो ? यदि राज्य के लोभ से तुमने ऐसा किया है, तो भरत से कह कर निश्चय ही हम राज्य तुम्हें दिला देंगे।' धर्मशील भ्राता की इन बातों से लक्ष्मण बड़े ही लज्जित हुए।

थोड़ी देर बाद ही भरत आ उपस्थित हुए। उपवास से कृश और शोक की जीवन्त मूर्त्ति देवोपम भरत रामचन्द्र को तृण के ऊपर बैठे देख कर बालक की तरह फूट फूट कर रोने और कहने लगे—'जिनके मस्तक पर स्वर्ण-छत्र शोभा पाता था, उस राजश्री से उज्ज्वल ललाट पर आज जटाजूट कैसे बँधे है ? हमारे अग्रज का शरीर सदा चन्दन और अगर से मार्जित होता था। आज वह अङ्गराग से रहित है और उसकी कान्ति धूल-धूसरित हो रही है। जो सारे विश्व के प्राणियों के आराधन की वस्तु थे, वे ही आज वन वन में भिखमँगे की तरह टकराते फिरते हैं। हमारे लिए ही यह सब कष्ट आप भोग रहे हैं। हमारे इस लोकगर्हित और नृशंस जीवन को धिक्कार है !' इस प्रकार कहते और उच्च स्वर से रुदन करते हुए भरत रामचन्द्र के पैरों में जाकर गिर पड़े। इन दोनों त्यागी महापुरुषों का मिलाप बड़ा ही करुण है। भरत का मुख सूख गया था; उनके माथे पर जटाजूट बँधे थे और शरीर पर वे चीर धारण किये हुए थे। रामचन्द्र ने विवर्ण

और कुश भरत को कठिनता से पहचाना। उन्होंने बड़े आदरपूर्वक भरत को जमीन से उठा लिया और उनके सिर को सूँघ और हृदय से लगा कर बोले—'वत्स, तुम्हारा यह मन क्यों ? तुम्हें इस वेश में वन में आना उचित नहीं था।'

भरत बड़े भाई के चरणों में लेट गये और बोले—'हमारी जननी घोर नरक में गिर पड़ी है, आप उस की रक्षा कीजिये। मैं आप का भाई हूँ, शिष्य हूँ और दासानुदास हूँ। आप मुझ पर प्रसन्न हो अयोध्या चल कर सिंहासन पर बैठिये'। बहुत बातें हुईं और बड़ा तर्क वितर्क हुआ। राम बोले—'हम चौदह वर्ष तक वन में वास करेंगे। महाराज की प्रतिज्ञा पालन करना हमारा कर्तव्य है।' जब राम को किसी प्रकार अयोध्या चलने के लिए राजी न कर सके, तो भरत अनशन व्रत धारण कर उनकी कुटि के द्वार पर धरना देकर पड़ गये। भूमि पर लेटे हुए भरत को रामचन्द्र ने आदरपूर्वक उठा कर अपनी पादुकाएँ प्रदान कीं। भाई के पद रज से विभूषित पादुकाएँ भरत के जटाजूट को शोभित कर उनके शिर पर मुकुट के समान देदीप्यमान हो रहीं थीं। सहस्रों आभूषणों से जो शोभा नहीं आ सकती, इन पादुकाओं ने भरत को वही अपूर्व राजश्री प्रदान की। भरत ने विदा होते समय कहा—'चौदह वर्ष तक हम आप की प्रतीक्षा में इन पादुकाओं की आज्ञा लेकर राज्य का काम चलावेंगे। यदि इतने समय में आप नहीं आये, तो

अग्नि मे हम अपना प्राण होम देंगे।' अयोध्या के समीप पहुँच कर भरत बोले—'अयोध्या वह अयोध्या नही है। हम इस विना सिंह की गुफा मे प्रवेश नही कर सकेंगे।' नन्दीग्राम मे राजधानी बनाई गई। पर वह राजधानी नहीं, ऋषि का आश्रम था। मन्त्री लोग जटा-वल्कल-धारी और फलमूलाहारी राजा के पास बहुमूल्य वस्त्र धारण कर कैसे बैठेंगे, यह विचार कर उन सब ने कषाय वस्त्र पहनना आरम्भ कर दिया। सचिव वृन्द की सहायता से इस कषाय वस्त्रधारी, व्रत और उपवास से कृशांग और त्यागी राजकुमार ने रामचन्द्र की पादुकाओं के ऊपर छत्र धारण कर चौदह वर्ष तक राज्य कर प्रजा का पालन किया।

भरत की वह विवर्ण मूर्त्ति राम के चित्त मे कांटे की तरह विध गई थी। जिस समय सीता के हरण होने पर वे पम्पा के किनारे उन्मत्त की तरह घूम रहे थे, उस समय उन्होंने कहा था—'इस पम्पा-तीर की रमणीय दृश्यावली सीता के विरह और भरत के दुःख मे हमे रमणीय नहीं मालूम होती।' और एक दिन लङ्का मे रामचन्द्र ने सुग्रीव से कहा था—'बन्धु भरत के समान भाई इस संसार में कहां मिलेगा!'

जब रामचन्द्र लौट कर अयोध्या को आये, तब भरत उन्हीं पादुकाओं को अपने हाथों से उनके चरणों मे पहना कर कृतार्थ हुए और रामचन्द्र के चरणों मे प्रणाम

करते थाते—'देव, आप इस अयोध्या के राज्य में जो राज्यभार छोड़ गए थे उसे ग्रहण कीजिए। चौदह वर्ष में राजकोष में दस गुना धन बढ़ गया है।'

रामायण में यदि कोई चरित्र ठीक आदर्श समझ कर ग्रहण किया जा सकता है, तो वह एक मात्र भरत ही का चरित्र है। सीता ने लक्ष्मण से जो कटु वचन कहे थे, वह क्षमा के योग्य नहीं है। रामचन्द्र के बालि वध आदि अनेक कार्यों का समर्थन नहीं किया जा सकता। लक्ष्मण की बातें तो कई बार बड़ी रूखी और दुर्विनीत हुई हैं। कौशल्या ने दशरथ से कहा था—'कई जल जन्तु जिस प्रकार अपनी सन्तान भक्षण कर जाते हैं, तुमने भी उसी प्रकार किया है'। किन्तु भरत के चरित्र में एक भी दोष नहीं। रामचन्द्र की पादुकाओं पर स्वर्ण-छत्र धारण करनेवाले जटा-वल्कल धारी इस राजर्षि का चरित्र रामायण में एक अद्वितीय सौन्दर्य धारण कर रहा है। दशरथ ने सत्य ही कहा था—

'रामादपि हि तं मन्ये धर्मतो बलवत्तरम्।'

'धर्म की दृष्टि से हम राम की अपेक्षा भरत को अधिक बलवान् समझते हैं।'

जब हम देखते हैं कि कैकयी ऐसे सुपुत्र की गर्भधारिणी थी, तो हम उसके सहस्रों दोषों को क्षमा के योग्य समझते हैं। हम निषादाधिपति गुह के स्वर में स्वर मिला कर एक वाक्य

में यही कहेंगे—

'धन्यस्त्वं न त्वया तुल्यं पश्यामि जगतीतले।
अयत्नादार्तं राज्य यस्त्वं त्यक्तुमिच्छसि।'

तुम धन्य हो जो बिना यत्न से आए हुए राज्य को छोडना चाहते हो। इस संसार मे तुम्हारे समान और कोई नहीं दिखाई देता। *

—["रामायणी कथा,, मे]

२६

रक्षा-बन्धन

लेखक—श्रीयुत विश्वम्भरनाथ कौशिक

[इन का जन्म सन १८९७ में अम्बाला छावनी में हुआ था पर इन के दादा के भाई ने इन्हें गोद ले लिया। तब से आप कानपुर में रहते हैं। आप अँगरेजी बंगाली गुजराती और मराठी के अच्छे ज्ञाता हैं। आप हिन्दी के एक बहुत अच्छे उपन्यास लेखक हैं। माँ, चित्रशाला भाग्य, संसार की असभ्य जातियों की स्त्रियाँ आप की रचनाएँ हैं।]

[१]

'माँ मैं भी राखी बाँधूँगी।'

श्रावण की धूमधाम है। नगरवासी स्त्री पुरुष बड़े आनन्द

तथा उत्सव से श्रावणी का उत्सव मना रहे हैं। बहनें भाइयों के और ब्राह्मण अपने यजमानों के राखियां बांध बांध कर चांदी कर रहे हैं। ऐसे ही समय एक छोटे से घर में एक दस वर्ष की बालिका ने अपनी माता से कहा—'मां' मैं भी राखी बांधूंगी'।

उत्तर में माता ने एक ठंडी सांस भरी और कहा—'किस के बांधेगी बेटी—आज तेरा भाई होता तो—।'

माता आगे कुछ न कह सकी। उसका गला रुंध गया और नेत्र अश्रुपूर्ण हो गये।

अबोध बालिका ने इठला कर कहा —'तो क्या भैया ही के राखी बांधी जाती है और किसी के नहीं? भैया नहीं है तो अम्मा, मैं तुम्हारे ही राखी बांधूंगी'।

इस दुःख के समय भी पुत्री की बात सुन कर माता मुस्कराने लगी और बोली—'अरी, तू इतनी बड़ी हो गई—भला कहीं मां के भी राखी बांधी जाती है'?

बालिका ने कहा—'वाह, जो पैसा दे उसी को राखी बांधी जाती है।'

माता—'अरी पगली! पैसे पर नहीं भाई ही के राखी बांधी जाती है'।

यह सुन कर बालिका कुछ उदास हो गई।

माता घर का काम काज करने लगी। घर का काम शेष

करके उसने पुत्री से कहा—'आ तुझे न्हिला (नहला) दूँ'।

बालिका मुख गम्भीर करके बोली—'मैं नहीं नहाऊँगी'।

माता—'क्यों, नहावेगी क्यों नहीं' ?

बालिका—मुझे क्या किसी के राखी बाँधना है' ?

माता—'अरी, राखी नहीं बाँधती है तो क्या नहावेगी भी नहीं ? आज त्योहार का दिन है। चल उठ नहा'।

बालिका—'राखी नहीं बाँधूँगी तो त्योहार काहे का ?'

माता—(कुछ क्रुद्ध होकर) अरी कुछ सिड़न हो गई है। राखी राखी की रटन लगा रक्खी है। बड़ी राखी बाँधने वाली बनी है। ऐसी ही होती तो आज यह दिन देखना पड़ता। पैदा होते ही बाप को खा बैठी। ढाई बरस की होते होते भाई से घर छुड़ा दिया। तेरे ही कर्मों से सब नास (नाश) हो गया।'

बालिका बड़ी अप्रतिभ हुई और आँखों में आँसू भरे हुए चुपचाप नहाने को उठ खड़ी हुई।

× × ×

एक घण्टा पश्चात् हम उसी बालिका को उसके द्वार पर खड़ा देखते हैं। इस समय भी उसके सुन्दर मुख पर उदासी विद्यमान है। अब भी उसके बड़े बड़े नेत्रों में पानी छलछला रहा है।

परन्तु बालिका इस समय द्वार पर क्यों खड़ी है ? जान पड़ता है, वह किसी कार्यवश खड़ी है, क्योंकि उसके द्वार के

सामने से जब कोई पुरुष निकलता है तब वह बड़ी उत्सुकता से उसकी ओर ताकने लगती है। मानो वह मुख से कुछ कहे बिना, केवल इच्छाशक्ति ही से, उस पुरुष का ध्यान अपनी ओर आकर्षित करने की चेष्टा करती है। परन्तु जब उसे इसमे सफलता नही होती तब उसकी उदासी बढ जाती है।

इसी प्रकार एक, दो, तीन करके कई पुरुष, बिना उसकी ओर देखे, निकल गये।

अन्त को बालिका निराश हो कर घर के भीतर लौट जाने को उद्यत ही हुई थी कि एक सुन्दर युवक की दृष्टि, जो कुछ सोचता हुआ धीरे धीरे जा रहा था, बालिका पर पडी। बालिका की आँखें युवक की आँखो मे जा लगी। न जाने उन उदास तथा करुणा-पूर्ण नेत्रों मे क्या जादू भरा था, जिसके प्रभाव से युवक ठिठक कर खडा हो गया और बडे ध्यान से बालिका को सिर से पैर तक देखने लगा। ध्यान से देखने पर युवक को ज्ञात हुआ कि बालिका की आँखें अश्रुपूर्ण है। तब युवक अधीर हो गया। उसने निकट जाकर पूछा—'बेटी, क्यों रोती हो' ?

बालिका इसका कुछ उत्तर न दे सकी। परन्तु उसने अपना एक हाथ युवक की ओर बढाया। युवक ने देखा, बालिका के हाथ मे एक लाल डोरा है। उसने पूछा—'यह क्या है ?' बालिका ने आँखें नीची करके उत्तर दिया—'राखी'।

युवक समझ गया। उसने मुसकरा कर अपना दाहिना हाथ आगे बढ़ा दिया।

बालिका का मुख कमल खिल उठा। उसने बड़े चाव से युवक के हाथ में राखी बाँध दी।

राखी बँधवा चुकने पर युवक ने जेब में हाथ डाला और दो रुपए निकाल कर बालिका को देने लगा। परन्तु बालिका ने उन्हें लेना स्वीकार न किया। वह बोली—'नहीं, यह नहीं, यह नहीं, पैसे दो।'

युवक—'ये पैसे से भी अच्छे हैं।'

बालिका—'नहीं—मैं पैसे लूँगी, यह नहीं।'

युवक—ले लो बिटिया। इसके पैसे मँगा लेना। बहुत से मिलेंगे।

बालिका—'नहीं, पैसे दो।'

युवक ने चार आने पैसे निकाल कर कहा—अच्छा, ले पैसे भी ले और यह भी ले।'

बालिका—'नहीं, खाली पैसे लूँगी।'

'तुझे दोनों लेने पड़ेंगे'—यह कह कर युवक ने बलपूर्वक पैसे तथा रुपए बालिका के हाथ पर रख दिए।

इतने में घर के भीतर से किसी ने पुकारा—'अरी सरसुती, (सरस्वती) कहाँ गई?'

बालिका ने 'आई' कह कर युवक की ओर कृतज्ञता पूर्ण

दृष्टि डाली और भीतर चली गई।

[२]

गोलागञ्ज (लखनऊ) की एक बड़ी तथा सुन्दर अट्टालिका के एक सुसज्जित कमरे में एक युवक चिन्ता-सागर में निमग्न बैठा है। कभी वह ठण्डी साँसें भरता है; कभी रूमाल से आँखें पोंछता है; कभी आप ही आप कहता है—'हा! सारा परिश्रम व्यर्थ गया। सारी चेष्टाएँ निष्फल हुईं। क्या करूँ! कहाँ जाऊँ! उन्हें कहाँ ढूँढूँ! सारा उन्नाव छान डाला, परन्तु फिर भी पता न लगा—।' युवक आगे कुछ और कहने को था कि कमरे का द्वार धीरे धीरे खुला और एक नौकर अन्दर आया।

युवक ने कुछ विरक्त हो कर पूछा—'क्यों क्या है?'

नौकर—'सरकार, अमरनाथ बाबू आए हैं।'

युवक (सँभल कर)—'अच्छा, यहीं भेज दो।'

नौकर के चले जाने पर युवक ने रूमाल से आँखें पोंछ डालीं और मुख पर गम्भीरता लाने की चेष्टा करने लगा।

द्वार फिर खुला और एक युवक अन्दर आया।

युवक—'आओ भाई अमरनाथ!'

अमरनाथ—'कहो घनश्याम, आज अकेले कैसे बैठे हो! कानपुर से कब [illegible] था'।

अमरनाथ—'उधार भी अवश्य ही उतरे होंगे' ?

घनश्याम—(एक ठण्डी साँस भर कर) 'हाँ उतरा तो था, परन्तु व्यर्थ। वहाँ अब मेरा क्या रक्खा है' ?

अमरनाथ—'परन्तु करो क्या। हृदय नहीं मानता है—क्यों ? और सच पूछो तो बात ही ऐसी है। यदि तुम्हारे स्थान पर मैं होता तो कदाचित् मैं भी ऐसा ही करता।

घनश्याम—'क्या कहूँ मित्र मैं तो हार गया। तुम तो जानते ही हो कि मुझे लखनऊ आकर गये एक वर्ष हो गया और जब से मैं यहाँ आया हूँ मैंने उन्हें ढूँढ़ने में कुछ भी कसर उठा नहीं रक्खी—परन्तु सब व्यर्थ'।

अमरनाथ—'उन्होंने उधार न जाने क्यों छोड़ दिया और कब छोड़ा—इसका भी कोई पता नहीं चलता'।

घनश्याम—'इसका तो पता चल गया न, कि वे लोग मेरे चले जाने के एक वर्ष पश्चात उधार से चले गए। परन्तु कहाँ गये, यह नहीं मालूम'।

अमरनाथ—'यह किससे मालूम हुआ' ?

घनश्याम—'उसी मकान वाले से जिसके मकान में हम लोग रहते थे'।

अमरनाथ—'हा शोक' !

घनश्याम—'कुछ नहीं, यह सब मेरे ही कर्मों का फल है। यदि मैं उन्हें छोड़कर न आता; यदि गया था

तो उन की खोज खबर लेता रहता । परन्तु मैं तो दक्षिण जाकर रुपया कमाने में इतना व्यस्त रहा कि घर की कभी याद ही न आई । और जो आई भी तो क्षणमात्र के लिए । उफ, इतना भी कोई अपने घर को भूल जाता है । मैं ही ऐसा अधम'—

अमरनाथ—(बात काट कर) 'अजी नहीं सब समय की बात है' ।

घनश्याम—'मैं दक्षिण न जाता तो अच्छा था' ।

अमरनाथ—'तुम्हारा दक्षिण जाना तो व्यर्थ नहीं हुआ, यदि न जाते तो इतना धन—।'

घनश्याम—'अजी चूल्हे में जाय धन । ऐसा धन किस काम का । मेरे हृदय में सुख-शान्ति नहीं तो धन किस मर्ज़ की दवा है' ?

अमरनाथ—'एँ, यह हाथ में लाल डोरा क्यों बांधा है' ?

घनश्याम—'इसकी तो बात ही भूल गया । यह राखी है' ।

अमरनाथ—'भाई वाह, अच्छी राखी है । लाल डोरे को राखी बताते हो । यह किसने बांधी है । किसी बड़े कन्जूस ब्राह्मण ने बांधी होगी । दुष्ट ने एक पैसा तक खर्चना पाप समझा । डोरे ही से काम निकाला' ।

घनश्याम—'संसार में यदि कोई बढ़िया से बढ़िया राखी

वन सकती है तो मुझे उससे भी कहीं अधिक प्यारा यह बाल डोरा है'। यह कह कर घनश्याम ने उस बाल कर बड़े यत्न पूर्वक अपने बक्स में रख दिया।

अमरनाथ—'भाई, तुम भी विचित्र मनुष्य हो। आखिर यह डोरा बाँधा किसने है'?

घनश्याम—'एक बालिका ने'।

पाठक समझ गए होंगे कि यह घनश्याम कौन है।

अमरनाथ—'बालिका ने कैसे बाँधा और कहाँ?'

घनश्याम—'कानपुर में।

घनश्याम ने सारी घटना कह सुनाई।

अमरनाथ—'यदि यह बात है तो सत्य ही यह डोरा अमूल्य है'।

घनश्याम—'न जाने क्यों उस बालिका का ध्यान मेरे मन से नहीं उतरता'।

अमर नाथ—'उसकी सरलता तथा प्रेम ने तुम्हारे हृदय पर प्रभाव डाला है। भला उसका नाम क्या है?

घनश्याम—'नाम तो मुझे नहीं मालूम। भीतर से किसी ने उसका नाम लेकर पुकारा तो था। परन्तु मैं सुन न सका'।

अमरनाथ—'अच्छा, खैर। अब तुमने क्या करना विचारा है'?

घनश्याम—धैर्य धर कर चुपचाप बैठने के अतिरिक्त और

मैं कर ही क्या सकता हूँ। मुझ से जो हो सका, मैं कर चुका।'

अमरनाथ—'हाँ, यही ठीक भी है। ईश्वर पर छोड़ दो। देखो क्या होता है'।

[३]

पूर्वोक्त घटना हुए पांच साल व्यतीत हो गए। घनश्यामदास पिछली बातें प्रायः भूल गये हैं। परन्तु उस बालिका की याद कभी कभी आ जाती है। उसे देखने वे एक बार कानपुर गये भी थे। परन्तु उसका पता न चला। उस घर मे पूछने पर ज्ञात हुआ कि वह वहाँ से, अपनी माता सहित, बहुत दिन हुए, न जाने कहाँ चली गई। इसके पश्चात् ज्यों ज्यों समय बीतता गया उसका ध्यान भी कम होता गया। पर अब भी जब वे अपना बक्स खोलते हैं तब कोई वस्तु देख कर चौंक पडते है और साथ ही कोई पुराना दृश्य भी आंखों के सामने आ जाता है।

घनश्याम अभी तक अविवाहित हैं। पहले तो उन्हों ने निश्चय कर लिया था कि विवाह करेंगे ही नहीं। पर मित्रो के कहने और स्वयं अपने अनुभव ने उनका यह विचार बदल दिया। अब वे विवाह करने पर तैयार हैं। परन्तु अभी तक कोई कन्या उनकी रुचि के अनुसार नहीं मिली।

जेठ का महीना है। दिन भर की जला देने वाली धूप के पश्चात् सूर्यास्त का समय अत्यन्त सुखदायी प्रतीत हो रहा

है। इस समय घनश्यामदास अपनी कुटी के बाग में मित्रों सहित बैठे मन्द मन्द शीतल वायु का आनन्द ले रहे हैं। आपस में हास्यरस पूर्ण बातें हो रही हैं। बातें करते करते एक मित्र ने कहा—'अजी, अभी तक अमरनाथ नहीं आये'!

घनश्याम—'वह मनमौजी आदमी है। कहीं रम गया होगा'।

दूसरा—'नहीं रम नहीं, वह आज कल तुम्हारे लिए दुलहिन ढूँढने की चिन्ता में रहता है।

घनश्याम—'यह दिल्लगी रहने दो'।

दूसरा—'नहीं दिल्लगी की बात नहीं।

तीसरा—'हाँ, परसों मुझ से भी यह कहता था कि घनश्याम का विवाह हो जाय तो मुझे चैन पड़े'।

ये बातें हो ही रही थीं कि अमरनाथ लपकते हुए आ पहुँचे।

घनश्याम—'आओ यार, बड़ी उमर—अभी तुम्हारी ही याद हो रही थी'।

अमरनाथ—इस समय बोलिए नहीं, नहीं एक आध को मार बैठूँगा'।

दूसरा—'जान पड़ता है, कहीं से पिट कर आये हो?'

अमरनाथ—'तू फिर बोला—क्यों?'

दूसरा—'क्यों,बोलना किसी के हाथ क्या बेच खाया है ?'

अमरनाथ—'अच्छा, दिल्लगी छोड़ो। एक आवश्यक बात है।' सब उत्सुक हो कर बोले—'कहो कहो, क्या बात है ?'

अमरनाथ—(घनश्याम से)'तुम्हारे लिए दुलहिन ढूँढली है।'

सब—(एक स्वर से) 'फिर क्या ! तुम्हारी चाँदी है।'

अमरनाथ—'फिर वही दिल्लगी। यार तुम लोग अजीब आदमी हो।'

तीसरा—'अच्छा, बताओ, कहाँ ढूँढी ?'

अमरनाथ—'नहीं, लखनऊ में।'

दूसरा—'लड़की का पिता क्या करता है ?'

अमरनाथ—'पिता तो स्वर्गवास करता है।'

तीसरा—'यह बुरी बात है !'

अमरनाथ—'लड़की है और उसकी माँ। बस, तीसरा कोई नहीं। विवाह में कुछ मिलेगा भी नहीं। लड़की की माता बड़ी ग़रीब है।'

दूसरा—'यह उससे भी बुरी बात है।'

तीसरा—'उल्लू मर गए, पट्ठे छोड़ गए। घर भी ढूँढा तो ग़रीब। कहाँ हमारे घनश्याम इतने धनाढ्य और कहाँ ससुराल इतनी दरिद्र ! लोग क्या कहेंगे ?'

अमरनाथ—'अरे भई, कहने और न कहने वाले हमीं तुम

है। और यहाँ उनका कौन बैठा है जो कहेगा ?'

घनश्याम ने ठण्डी साँस ली।

तीसरा—'आपने क्या भलाई देखी जो यह सम्बन्ध करता है ?'

अमरनाथ—लड़की की भलाई। लड़की लक्ष्मी-रूपा है। जैसी सुन्दर वैसी ही सरल। ऐसी लड़की यदि दीपक लेकर ढूँढ़ी जाय तो भी कदाचित् ही मिले।'

दूसरा—'हाँ, यह अवश्य एक बात है।'

अमरनाथ—'परन्तु लड़की की माता लड़का देख कर विवाह करने को कहती है।'

तीसरी—यह तो व्यवहार की बात है'।

घनश्याम—'और, मैं भी लड़की देख कर विवाह करूँगा'।

दूसरा—'यह भी ठीक ही है'।

अमरनाथ—'तो इसके लिए क्या विचार है' ?

तीसरा—'विचार क्या लड़की देखेंगे।

अमरनाथ—'तो कब' ?

घनश्यम—'कल'।

[४]

दूसरे दिन शाम को घनश्याम और अमरनाथ गाड़ी पर सवार होकर लड़की देखने चले। गाड़ी चक्कर खाती हुई अहियापु

गंज की एक गली के सामने जा खड़ी हुई। गाडी से उतर कर दोनों मित्र गली में घुसे। लगभग सौ क़दम चल कर अमरनाथ एक छोटे से मकान के सामने खडे हो गये और मक़ान का द्वार खटखटाया।

घनश्याम बोले—'मकान देखने से तो बडे ग़रीब जान पडते हैं।'

अमरनाथ—'हाँ. बात तो ऐसी ही है, परन्तु यदि लडकी तुम्हारे पसन्द आजाय तो यह सब सहन किया जा सक्ता है।

इतने मे द्वार खुला और दोनों भीतर गये। सन्ध्या हो जाने के कारण मकान मे अँधेरा हो गया था। अतएव ये लोग द्वार खोलने वाले को स्पष्ट न देख सके।

एक दालान मे पहुँच कर ये दोनों चारपाइयों पर बिठा दिए गये और बिठाने वाली ने, जो स्त्री थी. कहा—'मैं जरा दिया जला लूँ'।

अमरनाथ—'हाँ, जला लो'।

स्त्री ने दीपक जलाया और पास ही एक दीवार पर उसे रख दिया। फिर इनकी ओर मुख करके वह नीचे चटाई पर बैठ गई। परन्तु ज्यों ही उसने घनश्याम पर अपनी दृष्टि डाली एक हृदयवेधी आह उसके मुख से निकली—और वह ज्ञान-शून्य होकर गिर पड़ी।

स्त्री की ओर कुछ अँधेरा था। इस कारण इन लोगों को उसका मुख स्पष्ट न दिखाई पड़ता था। घनश्याम उसे उठाने को उठे। परन्तु ज्योंही उन्होंने उसका सिर उठाया और रोशनी उसके मुख पर पड़ी त्योंही घनश्याम के मुख से निकला—'मेरी माता'—और उठ कर वे भूमि पर बैठ गये।

अमरनाथ विस्मित होकर उठ कर बैठ रहे। अन्त को कुछ क्षण उपरान्त बोले—यह ईश्वर की महिमा बड़ी विचित्र है। जिनके लिए तुमने न जाने कहाँ कहाँ की ठोकरें खाईं वे अन्त को इस प्रकार मिले।

घनश्याम अपने को सँभाल कर बोले—'थोड़ा पानी मँगाओ'।

अमरनाथ—किससे मँगाऊँ। यहाँ तो कोई और दिखाई ही नहीं पड़ता। परन्तु हाँ 'वह लड़की तुम्हारी —' कहते अमरनाथ रुक गए। फिर उन्होंने पुकारा—'बिटिया, थोड़ा पानी दे जाओ'।

परन्तु कोई उत्तर न मिला।

अमरनाथ ने फिर पुकारा—'बेटी तुम्हारी माँ अचेत हो गई है। थोड़ा पानी दे जाओ'।

इस 'अचेत' शब्द में न जाने क्या बात थी कि तुरन्त ही घर के दूसरी ओर बरतन खड़कने का शब्द हुआ। तत्पश्चात् एक पूर्ण वयस्क लड़की लोटा लिए आई। लड़की मुँह कुछ ढके हुए थी। अमरनाथ ने पानी लेकर घनश्याम की माता की

आंखें तथा मुख धो दिया। थोड़ी देर में उसे होश आया। उसने आंखें खोलते ही फिर घनश्याम को देखा। तब वह शीघ्रता से उठ कर बैठ गई और बोली—'एँ, मैं क्या स्वप्न देख रही हूँ? घनश्याम, क्या तू मेरा खोया हुआ घनश्याम है या कोई और'?

घनश्याम की आंखों से अश्रुधारा फूट निकली। वह रोता हुआ माता के चरणों पर लोट गया और बोला—हां मां, मैं तुम्हारा वही कपूत घनश्याम हूं जो छोड़ कर भाग गया था'।

माता ने पुत्र को उठा कर छाती से लगा लिया और अश्रु-बिन्दु विसर्जन किए। परन्तु वे बिन्दु सुख के थे अथवा दुःख के— कौन कहे?

लड़की ने यह सब देख सुन कर अपना मुंह खोल दिया और भैया, भैया कहती हुई घनश्याम से लिपट गई। घनश्याम ने देखा, लड़की कोई और नहीं, वही बालिका है जिसने पांच वर्ष पूर्व उनके राखी बांधी थी और जिसकी याद प्रायः आया करती थी।

\+ — +

श्रावण का महीना है और श्रावणी का महोत्सव। घनश्याम दास की कोठी खूब सजाई गई है। घनश्याम अपने कमरे में बैठे एक पुस्तक पढ़ रहे हैं। इतने में एक दासी ने आकर कहा-'बाबू, भीतर चलो'। घनश्याम भीतर गए। माता ने उन्हें एक

आसन पर बिठाया और उनकी भगिनी सरस्वती ने उनके तिलक लगाकर राखी बाँधी। घनश्याम ने दो अशर्फ़ियाँ उसके हाथ में धर दीं और मुस्करा कर बोले—'क्या पैसे भी इन होंगे?'

सरस्वती ने हँस कर कहा—'नहीं, भैया, ये अशर्फ़ियाँ पैसों से अच्छी हैं। इनसे बहुत से पैसे आयेंगे।'

।ॐ।

३९

सुधा

[१]

नीरव निशा में निशाकर के रजत-किरण धारण कर ले
से निर्मल नीलाकाश की अपूर्व शोभा हो गई है। आ
पूर्णिमा है। ऋतुराज के राज्य में दिगन्त को कम्पित करत
हुआ पपीहा मधुर स्वर में गान कर रहा है। चतुर्दिक् कुसुम
सुगन्ध से परिपूर्ण हो रही है। निर्जन गृहकोण में बैठे हुए
शशिशेखर सोच रहे हैं—'मैं किस अन्याय-कार्य में प्रवृत्त हो
रहा हूँ!'

मस्तक के ऊपर शैलबाला का तैल-चित्र सुशोभित है
ऊपर की ओर देखकर शशिशेखर कहने लगे—'शैल! अब भ

मैं तुम्हें भूल नहीं सकता। इस जीवन में तुम्हें कभी न भूल सकूँगा। भूलना तो दूर आज भी हृदय से उपस्थित नहीं होता। जिस प्रकार चिरकाल पर्यन्त मैंने तुम्हारी आराधना की थी उसी प्रकार आजीवन भी तुम्हारी ही आराधना में व्यतीत करूँगा। क्या इतने पर भी तुम मुझे अपने पास न बुला लोगी?'

तैल चित्र उसी प्रकार नीरव रहा। उसकी दृष्टि में तिरस्कार की कठोरता न थी, न अनादर का मृदु हास्य ही विद्यमान था। उसकी दृष्टि स्थिर तथा अचञ्चल थी। परन्तु उसमें अलौकिक भाव अज्ञात रूप से अवश्य विद्यमान था। शंकर उस दृष्टि का भाव जानने में असमर्थ हुआ। वे उच्च स्वर से बोल उठे—'शैल! तुम मुझे वृथा दोषी बनाती हो। मैंने अपनी इच्छा से विवाह नहीं किया। यद्यपि माता ने अपना हठ पूर्ण किया तथापि क्या मैं तुम्हारी आनन्द-दायिनी मूर्ति हृदय मन्दिर से बाहर करने में समर्थ हो सकता हूँ? कदापि नहीं! तुम मेरे हृदय मन्दिर की अधिष्ठात्री देवी हो। मेरे हृदय में 'सुधा' के लिए तिल मात्र भी स्थान नहीं।'

इतने में पीछे से कोई कोमल मधुर स्वर से बोला—'प्रियतम! मैं आती हूँ।'

घर में चन्द्र की चन्द्रिका छिटक रही थी। पूर्वोक्त शब्द कहने वाली की देह तथा मुख मण्डल की मधुर ज्योत्स्ना देदीप्यमान कर रही थी। शंकर के विचार भङ्ग हुए। पीछे फिर कर देखा तो अनिन्द्य सुषमामयी रमणी की मूर्ति है।

कम्पित कण्ठ से शेखर बोले—'सुधा! यहाँ क्यों आई हो? जाओ, माता के पास जाओ।'

नेत्रों को नीचे किए हुए सुधा बोली—'प्रभु! आज के लिए तो अपराधिनी को क्षमा करो। चरण-कमल पूजने की आज्ञा देकर आज इस दासी को कृतार्थ होने दो।'

शेखर चुप रहे। तब सुधा ने हाथ मे लिए हुए कुङ्कुम से शेखर के दोनों पैर रँगे। अनेक दिनों बाद आज सुधा स्वामी के चरण पर गिर पड़ी। फिर उसने उठ कर कहा—'हृदयेश! मेरी पूजा समाप्त हो गई। मैं जाती हूँ।'

सुधा चली गई। ऊर्ध्व-आबद्ध दृष्टि से देखते हुए शेखर अचल अटल भाव से बैठे रहे।

[२]

इस घटना को हुए कितने ही दिन व्यतीत हो गए। परन्तु शशिशेखर के हृदय का दुर्दमनीय वेग किसी प्रकार शान्त न हो सका। कितनी ही नीरव भिक्षाओं ने, तथा कितनी ही बार कातर नयनों की दृष्टि ने, उनके हृदय-पटल पर कुछ भी प्रभाव न जमा पाया। एक ही चिन्ता—एक ही भावना—के कारण शेखर की देह जीर्ण होने लगी। जब तक वे इस यातना को सह सके, उन्होंने चुपचाप सहन किया। परन्तु जब यह यातना असह्य हो गई, तब एक रात को उन्होंने तीर्थराज प्रयाग की ओर प्रस्थान किया।

उस समय कुम्भ का मेला था। हजारों यात्री, संन्यासी प्रभृति वहाँ एकत्र हुए थे। अनन्त जन राशि से उस महातीर्थ का कलेवर आच्छादित था। पुण्य पीयूषवाहिनी भगवती जाह्नवी और यमुना का संगम! यमुना के कृष्ण जल का जाह्नवी के शुभ्र जल से मिलन! यह दृश्य बहुत ही सुन्दर तथा मनोरम था।

कुछ दिन तो शशिशेखर के किसी न किसी तरह व्यतीत किए। नवीन स्थल पर नवीन दृश्य देख कर किस का हृदय पुलकित नहीं होता। शेखर ने बहुविधि संन्यासियों के साथ इतस्ततः परिभ्रमण करके मन को बहुत कुछ स्थिर किया। परन्तु यह स्थिरता कितने दिनों के लिए थी! शान्ति का फिर नाश हो गया। शशिशेखर अस्थिर चित्त से देश विदेश में परिभ्रमण करने लगे।

[३]

सुधा के हृदय में भाव उठा—उन्हें एक बार और देख पाती तो अच्छा होता। उनसे वियोग हुए बहुत दिन हो गए। उस तैल चित्र के सामने बैठकर सुधा कहने लगी—'भगिनी! तुम जैसी भाग्यशीला संसार में अन्य है! तुमने पति के हृदय मन्दिर में स्थान-लाभ किया। मैं हत भागिनी हूँ जो तुम्हारा हृदय छीनने का प्रयत्न करती हूँ।

सुधा और न बोल सकी। नयन मोचित अश्रुधारा से

उसका वक्षस्थल भीग गया। सुधा फिर कम्पित कण्ठ से बोली—'बहन! मैं तुम्हारी वस्तु पाने की इच्छा नहीं करती हूँ। परन्तु उस अमूल्य रत्न की आराधना करने की इच्छा अवश्य है। क्या यह इच्छा पूर्ण करोगी?' इतने में पीछे से ननद ने कहा—'बहू! क्यों रोती हो'? आँसू पोंछ कर सुधा ने उत्तर दिया—'हृदय जिस व्यथा से व्यथित हो रहा है, उसे क्या कह कर समझाऊँ? स्त्री होकर भी मेरा हृदय विदीर्ण नहीं होता! इस कष्ट से पत्थर, वृक्ष प्रभृति भी फट जाते। क्या उनकी खबर पाने का कुछ उपाय नहीं?' शैवलिनी ने धीरे से कहा—'बहू, क्या तू पागल हो जायगी? चल सारा दिन बीत गया। कुछ खायगी भी? चल, खा ले। दादा की खबर आई है। आजकल वृन्दावन में हैं'। उत्तेजित स्वर से सुधा ने सुधा-वर्षण किया—'तुम माता जी से कहो, मैं उन्हें देखने जाऊँगी।' शैवलिनी ने कहा—'बहू! तू निश्चय पागल हो गई है। दो दिन के बाद दादा स्वयं घर आ जायँगे'।

सुधा बोली—'न दीदी! वे कभी न आवेंगे। चलो, उन्हें लौटा लावें।'

'अच्छा, यही सही। मैं जाकर रविशेखर से कहती हूँ। तू तब तक चल। खाना खा'।

रवि शशिशेखर के कनिष्ठ भ्राता हैं। सुधा ने नाम-मात्र भोजन किया। सती का स्वामी से वियोग होने के कारण

क्षुत्पिपासा से भी वियोग हो गया। इस वियोग के कारण सुधा का सुन्दर लावण्यमयी देह की समुज्ज्वल कान्ति क्रमशः क्षीण होने लगी। देहलता निर्जीव सी हो गई। तब पुत्र शोकातुरा सास ने कहा— 'चल, मैं तुझे वृन्दावन ले चलूँगी। मैं भी अपनी शेष अवस्था श्री गोविन्द के पादपद्मों में अर्पण करूँगी'।

शैवलिनी बोली—'माता! अच्छी बात है। चलो, हम सब गिरि की संग लेकर दादा की खोजें। वे फिर न कहीं चले जाँय। वहू भी पागल सी होती जाती है'।

वृन्दावन के लिए यात्रा स्थिर हुई। उसी दिन सन्ध्या को रविशेखर के साथ सब ने पुण्य तीर्थ वृन्दावन को गमन किया। जो घर सदा ही आनन्द लहरी से मुखरित होता था, वही आज निविड़ निस्तब्धता में परिणत हो गया।

[४]

नील सलिला स्वच्छा यमुना आज नीरव स्वर से बह रही है। पर हाय! उस बाँसुरी का स्वर नहीं। इसी से आज यमुना उदास होकर बह रही है। जिस बाँसुरी के शब्द को सुन कर गृह वासिनी गोपिकाएँ उदास हो जाती थीं, हाय यमुने! तुम्हारे तट पर से वह बाँसुरी का स्वर कहाँ गया? और आज महामाया राधारानी कहाँ हैं? वृन्दावन में यद्यपि तुम्हारा सब कुछ है, परन्तु वह मोहन मुरली नहीं है। यमुने

क्या उसी के विरह मे सूख गई हो ? कितनी गोपिकाओं की तप्त अश्रुधाराएँ तुम्हारे जल मे मिल गई हैं, सो कौन कह सकता है !

वृन्दावन के निकट तमाल-वन है। इस वन का दृश्य अति मनोरम है। सुन्दर नृत्य से मयूरों ने इस वन की शोभा को बहुत बढ़ा दिया है। इसी वन के मध्य एक पर्णकुटी मे बैठे हुए दो सन्यासी कथनोपकथन कर रहे है।

अच्युतानन्द ने कहा—'वत्स, तुम घर लौट जाओ। अभी तुम्हारे लिए कठोर कर्तव्य करना शेष है। अभी कर्म-योग पालना ही तुम्हारा कर्तव्य है। ज्ञान-योग मे तुम्हारा अधिकार नहीं'।

दूसरे संन्यासी ने कहा—'प्रभो, घर मे मुझे शान्ति नही। मै ज्ञान के द्वारा शान्ति लाभ करना चाहता हूँ।'

अच्युतानन्द गोस्वामी ने हंसते हुए कहा—'वत्स ! नयन खोल कर देखो। तुम्हारे सम्मुख कितना महत् कर्तव्य करने को पडा है। पुत्र-शोकातुरा माता सन्तान के आगमन की प्रतीक्षा करती हुई पथ की ओर एकटक निहार रही होगी। दीर्घ वियोग से व्याकुल पतिगतप्राणा सती स्वामी के दर्शन की लालसा से प्राण धारण कर रही होगी। वत्स ! अन्धे मत बनो। तुम्हारी वासना अभी बलवती बनी है। जाओ, गृह-धर्म पालन करो। धीरे धीरे शान्ति प्राप्त कर सकोगे'।

यह कह कर वह महापुरुष वहाँ से चला गया। ध्यान-

स्तिमित लोचन शशिशेखर के हृदय में नाना प्रकार की चिन्तायें उत्पन्न होने लगीं।

जैसा प्रायः देखने में आता है, घर से बाहर होने पर, शशिशेखर की अस्थिरता बढ़ गई। शान्ति लाभ की आशा से वे जितनी ही दूर गए, हृदय में शांति की उतनी ही कमी वे अनुभव करने लगे। शांति की आशा से शेखर कठोर आत्म संयम का अभ्यास करने लगे। परन्तु सफल मनोरथ न हुए।

शेखर का हृदय शून्य था। उन्होंने स्वप्न में देखा कि कोई उनके दोनों चरण नयनाश्रुओं से धो रहा है। कितनी ही दफ मना करने पर भी नहीं मानता। वह पैरों पर गिर कर लोट रहा है। शेखर उसको उठाना चाहते हैं, परन्तु उठा नहीं सकते। वृन्दावन में निवास करते करते शेखर को उन्माद हो गया। उनके हृदय की ज्वाला और बढ़ने लगी। इसी कारण वे अच्युतानन्द गोस्वामी के शिष्य हो गए। इस से उन को वहाँ तक शान्ति मिली होगी, सो पाठक स्वयं ही जान सकते हैं। आज सारा दिन क्लान्ति से पीड़ित होने के उपरान्त शेखर इस समय गम्भीर निन्द्रा में निमग्न हैं। परन्तु निन्द्रादेवी भी उनके मन में शान्ति स्थापित करने में असमर्थ हुई। शेखर ने एक विचित्र स्वप्न देखा।

× × ×

शैल ने कहा—'और कितने दिन इस अशान्ति से पीड़ित

रहोगे ?जाओ, सुधा को ले कर सुख से जीवन व्यतीत करो !'

शेखर बोले—'शैल ! भला तुम्हें छोड कर मैं कैसे सुखी हो सकता हूँ !'

शैल ने कहा—'स्त्रियां स्वार्थपर नहीं होतीं। मेरा देहान्त अवश्य हो गया, परन्तु मैं तुम्हें दुखी न होने दूँगी। इसी लिए मैं ने तुम्हें सुधा का हाथ सौंप दिया है।

शैल अदृश्य हो गई। किन्तु फिर वही दृश्य। कोई नयनाश्रुओं से पद-युगल धो रहा है। प्रेम-परिपूर्ण हृदय से पद-तल में लोट रहा है। शशिशेखर चौंक पडे। वे उच्च स्वर से बोल उठे—'सुधा ! सुधा !' उनकी निद्रा भङ्ग हो गई। उन्होंने देखा कि सचमुच ही कोई उनके पैर नयनाश्रुओं से धो कर चला गया है।

[६]

चिन्ता करते करते शशिशेखर की देह भग्न होने लगी। वे विषम-ज्वर से पीडित हो गए। अच्युतानन्द स्वामी उनकी सेवा-शुश्रूषा करने लगे। शेखरकी माता और पत्नी उनको इस अवस्था मे देख कर चिन्तित होंगी, इसी कारण स्वामी जी ने उन्हें इसकी खबर न दी। किन्तु जब ज्वर-प्रकोप उत्तरोत्तर बढने लगा, तब वे उन्हें लाने के लिए वाध्य हो गए।

पतिगत-प्राणा सुधा स्वामी के पैरों के निकट बैठी हुई अहर्निशि स्वामी की सेवा-शुश्रूपा करती थी। आहार-निद्रा

परित्याग करके साध्वी सुधा श्री माधव के चरणारविन्दों में प्रार्थना करती थी—'प्रभु! हमारे स्वामी की रक्षा करो।'

कितनी ही नीरव रजनियाँ व्यतीत हो गईं; परन्तु शेखर की अवस्था में कुछ भी परिवर्तन न हुआ। ज्वर की ज्वाला से वे बकने लगे—'मेरा जीवन आज शेष होना चाहता है। मुझे अपने पास बुला लो।' माता और सुधा चुपचाप रोने लगीं। अच्युतानन्द ने कहा—'तुम अधीर न हो। तुम्हारे अधीर होने से रोगी की अवस्था और भी बिगड़ जायगी।' तब बहुत कष्ट होने से उन्होंने आत्मा संवरण किया। परन्तु हृदय में शान्ति न हुई।

शेखर की अवस्था क्रमशः बिगड़ने लगी। कभी कभी वे प्रेम की स्थिर दृष्टि से सुधा के मुख मण्डल की ओर देखते। एक दिन वे कह उठे—'शैल! हमारे पास आई हो? चलो, प्राणेश्वरी! हम दोनों हाथ पर हाथ रख कर अनन्त पथ पर चलें। हमें कोई बाधा नहीं दे सकता।' दारुण शोक-यातना से सुधा चिल्ला उठी। उसकी चिल्लाहट सुन कर शेखर को ज्ञान हुआ। वे कहने लगे—'सुधा! तुम रोती हो? रोओ मत। अपने नेत्र अश्रुजल से मेरे हृदय को सन्तप्त न करो। मुझे जाने दो। यह जीवन तुम्हारे साथ व्यतीत नहीं हो सकता। यदि मरणोपरान्त फिर जन्म होगा, तो मेरा तुम्हारा मिलन होगा। तब मैं तुम्हें और शैल को ले कर सुखी रहूँगा।' इतना कह शेखर निःस्वर हो गए। रोदनमाना सुधा

पास ही मूर्च्छित हो गई।

[७]

अनेक निद्राहीन रातों तथा अनेक अनशन-क्लिष्ट दिवसों के कारण सुधा की देह-लता निर्जीव-प्राय हो गई। सुधा की मूर्च्छा भंग हुई। परन्तु समय समय पर मूर्च्छा आती रही। एक दिन शशिशेखर की व्याधि ने प्रबल मूर्ति धारण की। अच्युतानन्द ने कहा—"माता! चित्त स्थिर कर। आज तेरी कठोर परीक्षा का दिन है। भगवान् गोविन्द के पाद-पद्म में आत्म-समर्पण कर।' शोकातुरा माता धूल में लोटती हुई उच्च स्वर से रोदन करने लगी। रोने से शेखर की रोग-निद्रा भंग हुई। उनके नेत्र अश्रु-पूर्ण हो गये। उन्हों ने कहा—'माता! रो मत। अपराधी पुत्र को क्षमा कर। पद-धूलि दे। आशीर्वाद दे। मेरा समय पूर्ण हो गया। मैं चलता हूँ'। घोर विकार के प्रकोप में शेखर ने देखा कि शैल उँगली के संकेत से उन्हें बुला रही है। उच्च स्वर से वे बोल उठे—'शैल! मैं आता हूँ'। उसी दिन रात्रि के शेष होने पर शेखर का प्राणपक्षी पिञ्जर-मुक्त हो कर उड़ गया। बालिका सुधा मृतक स्वामी के पैरों के निकट मूर्च्छित हो कर पृथिवी पर गिर गई।

× ×

इस के उपरान्त वृन्दावन में बहुत दिन व्यतीत हो गए। माता और सुधा ने वृन्दावन में अच्युतानन्द स्वामी का

आश्रम परित्याग न किया। शङ्कर की माता ने यथार्थ ही माधव के पाद पद्म में आत्म समर्पण कर दिया। उसी आत्म समर्पण के कारण उसने निदारुण पुत्र-शोक पर जय प्राप्ति की। जब मनुष्य का चित्त भगवान् के पाद पद्म में आविष्ट हो जाता है, तब उसे पार्थिव शोक व्याकुल नहीं कर सकते। और बालिका सुधा! हाय! उस के हमारे में आज शुभ्र वस्त्र शोभा पा रहे हैं। यह हृदय विदारक दृश्य है। दृश्य संसार के प्रति वैराग्योत्पादककारी है।

सुधा प्रति मुहूर्त निज जीवन के शेष दिनों की प्रतीक्षा करती रही।

सुधा जान गई थी कि प्रेम अविनश्वर है। मृत्यु के उपरान्त भी प्रेम का नाश नहीं होता। प्रेम स्वर्ग में भी मिलता है। ऊपर की तरफ हाथ उठा कर यह बात उठी—हृदयेश! प्राण वल्लभ! प्राण जीवन! तुम बहुत दूर होते हुए भी मेरे हृदय से दूर नहीं। मैं इस हृदय मन्दिर में चिर दिन तुम्हारी पूजा करूँगी। मेरा देवता दूसरा नहीं। मेरे देवता तुम्हीं हो। यदि साधना की जीत हुई, मेरा जीवन शेष होने पर तुम से अवश्य मिलन होगा। हे प्रियतम! तब भी तुम मुझ फिर चरण से मत हटा देना*।

—धर्म्मीप्रसाद

*बङ्गभाषा के प्रसिद्ध लेखक श्रीयुत यतीन्द्रनाथ सोम एम० ए० की सुधा नामक कहानी का भाषानुवाद।

४०

मध्य एशिया के खँडहरों की खुदाई का फल

[लेखक—श्रीयुत पुराण-पाठी]

जिस समय बौद्ध धर्म अपनी ऊर्जितावस्था में था उस समय यूनान, रूस, मिस्र, बाबुल आदि की तो बात ही नहीं, मध्य एशिया की राह, उसके आचार्य चीन तक जाते और वहाँ अपने धर्म का प्रचार करते थे। अफ़ग़ानिस्तान तो उस समय भारतीय साम्राज्य का एक अंश ही था। उस समय तो भारतवासी बलख, बुखारा, खुरासान, खुतन और ताशकन्द तक फैले हुए थे। चीन और भारत के बीच आवागमन का मार्ग उस प्रान्त से था जिसे इस समय पूर्वी तुर्किस्तान कहते हैं। बर्बर मुसलमानों के आक्रमण से अपने देश की

रक्षा करने के लिए चीनियों ने जो इतिहास प्रसिद्ध दीवार बनाई थी उसका कुछ अंश इस पूर्वी तुर्किस्तान में भी था। इस प्रान्त में बहुत बड़े बड़े बड़े नगर थे। बौद्धों के विहारों और मठों से यह प्रान्त सबका भरा हुआ था। इन मठों में बड़े बड़े बौद्ध विद्वान निवास करते थे। वे हजारों विद्यार्थियों को विद्या दान करते थे। उन्होंने बहुमूल्य पुस्तकालयों की स्थापना की थी। जो बौद्ध श्रमण चीन से भारत और जो भारत से चीन जाते थे वे इन्हीं मठों और विहारों में ठहरते हुए जाते थे। इन लोगों के काफिले के काफिले चलते थे। चीनी परिव्राजक ह्वेनसांग और इत्सिंग आदि इसी मार्ग से भारत आए थे। उनके यात्रा वर्णनों में इस मार्ग में पड़ने वाले नगरों, नदियों पर्वतों रंगिस्तानों आदि का बहुत कुछ उल्लेख पाया जाता है।

कालान्तर में उधर मुसलमानों का जोर बढ़ने पर उन्होंने चीन और भारत के बीच के इस राज मार्ग को धीरे धीरे नष्ट भ्रष्ट कर दिया। मठों, स्तूपों और विहारों को उजाड़ दिया। हजारों बौद्ध श्रमणों को तलवार के घाट उतार दिया। नगरों को तहस-नहस करके उनको जमींदोज कर दिया। ये सभी स्थान बालू के टीलों में परिणत हो गए। तूफानों के कारण उड़ी हुई बालू ने इन सबको अपने नीचे यहाँ तक दबा लिया कि इनका नामोनिशाँ तक न रहा। अपने ऊपर आई हुई या आने

वाली विपत्ति से अपनी प्राणरक्षा असम्भव समझ कर बौद्ध विद्वान् प्राणदान देने के लिए तैयार हो गये। परन्तु उन्होंने अपने एकत्र किए हुए ग्रन्थ और चित्रादि के समुदाय को अपने प्राणों से भी अधिक समझा। अतएव कही कही उन्हों ने उस समुदाय को पर्वतों की गुफाओं के भीतर, कहीं कहीं ज़मीन के नीचे भूतलवर्तिनी कोठरियों के भीतर, और कहीं कही पत्थर के संदूकों के भीतर रख कर उन्हें छिपा दिया। उनमे से अनेक वस्तु-समुदाय तो अवश्य ही नष्ट हो गए, पर जो गुफाओं के भीतर और पृथ्वी के पेट मे छिपा दिए गए थे वे अब धीरे धीरे निकलते जाते है। इसका विशेष श्रेय बौद्ध और हिन्दू-धर्म के अनुयायियों को नहीं, योरप के पुरा-तत्त्व-प्रेमी ईसाइयो को है। लाखों रुपया खर्च करके और कठिन मे भी कठिन क्लेश उठाकर ये लोग उन निर्जन वनों और रेतीले स्थानों के ध्वंसावशेष खोद खोद कर उन हजारो वर्ष के पुराने ग्रन्थों और कागज़-पत्रों को जमीन के पेट मे बाहर निकाल रहे हैं। उनमे से कितने ही तो विवरण और टीका-टिप्पणी सहित छप कर प्रकाशित भी हो गए। परन्तु अभी अनन्त रत्न-राशि प्रकाश मे लाने को बाकी है।

१८७६ ईसवी मे जर्मन-विद्वान् डाक्टर रेजल का ध्यान चीनी तुर्किस्तान के उजाड-खण्ड की ओर आकृष्ट हुआ। वे वहां गए। उन्हें वहां कितने ही प्राचीन खँडहरों का पता

चला। इसके बाद रूस के रहने वाले दो पुरातत्ववेत्ताओं ने सन् १८६१-६७ ईसवी में उसी तुर्किस्तान व तुरफान प्रान्त में खोज की। उन्हें अपनी खोज में जो चीज़ें मिलीं उनका विस्तृत वर्णन उन्होंने अपनी भाषा में प्रकाशित किया। उनकी देखा देखी फ़िनलैंड के भी कुछ पुरातत्वज्ञों ने उस रेगिस्तान में पता पता करके वहाँ से कुछ हाल लिखा। इस तरह, धीरे धीरे, लोगों का कौतूहल बढ़ता ही गया। अन्त में रूसी विद्वान रैडलफ ने, सन् १८६६ ई० में, पुरातत्व विशारदों की एक सभा में इस बात का प्रस्ताव किया कि पूर्वी और मध्य एशिया के खण्डहरों की बाक़ायदा जाँच की जाय। यह प्रस्ताव पास हो गया। तब से इन प्रान्तों की जाँच के लिए कई देशों के विद्वानों के यूथ के यूथ वहाँ पहुँचे और अनेक बहुमूल्य पुस्तकें, मूर्तियाँ, चित्रों आदि का पता लगा कर उन्होंने उन पर बड़े मार्के के लेख प्रकाशित किए। यहाँ तक कि सुदूरवर्ती जापान तक ने कई विद्वानों को भेज कर वहाँ खोज कराई। वे लोग भी कितनी ही बहुमूल्य सामग्री अपने देश को ले गए।

१८६१ ईसवी में ब्रिटिश गवर्नमेण्ट के एक दूत चीनी तुर्किस्तान में थे। उनका नाम था कप्तान बावर। उन्हें भोज पत्र पर लिखा हुआ एक ग्रन्थ मिला। उसे उन्होंने बङ्गाल की एशियाटिक सोसायटी को भेज दिया। डाक्टर हार्नली ने उसे पढ़ा। मालूम हुआ कि वह गुप्त नरेशों के समय की देवनागरी लिपि

मे है और ईसा की चौथी शताब्दी मे लिखा गया था। अतएव उसकी रचना उसके भी बहुत पहले हुई होगी। एक आध को छोड कर इस से अधिक पुरानी हस्त-लिखित पोथी भारत मे कही नही पाई गई। जो पोथियाँ सब से अधिक पुरानी है वे ईसा के ग्यारहवें शतक के पहले की नहीं। यहां की आबोहवा मे इस से अधिक पुस्तकें रही नहीं सकतीं। वे टूट फूट कर नष्ट हो जाती है। बावर साहब को मिली हुई पोथी मे भिन्न भिन्न सात पुस्तकें है। उन मे से तीन वैद्यक विषय की है। अवशिष्ट पुस्तकें विशेष करके बौद्ध धर्म से सम्बन्ध रखती हैं।

जब से बावर साहब की पोथी प्रकट हुई तब से तुर्किस्तान के रेगिस्तानी खँडहरों की खुदाई आदि का काम और भी ज़ोरों पर किया जाने लगा। फ्रांस, रूस, स्वीडन, जर्मनी आदि के पुरातत्वज्ञ वहां से राशि राशि प्राचीन वस्तु-समुदाय अपने अपने देश को उठा ले गए। चुनांचे ब्रिटिश गवर्नमेंट भी इस सम्बन्ध में चुप नहीं रही। कलकत्ता मदरसा के प्रधान अध्यापक, डाक्टर आरल स्टीन, की योजना उसने इस काम के लिए की। सन् १६०१ ईसवी मे डाक्टर साहब चीनी तुर्किस्तान को गए। वहां उन्होंने खुतन या खोटान Khotan के सूबे मे जांच पड़ताल की। उन्हें अपने काम मे अच्छी कामयाबी हुई। अनेक ग्रन्थ-रत्न उन्हें प्राप्त हुए। उनका वर्णन

उनकी लिखी हुई पुस्तक—'प्राचीन खुतन' (Ancient Khotan) में सविस्तर पाया जाता है। इसके बाद डाक्टर साहब ने चीनी तुर्किस्तान पर दो चढ़ाइयाँ और कीं। उनकी तीसरी चढ़ाई सन १९१३ में हुई। सन १९०६ इसवी वाली दूसरी चढ़ाई में उन्हें एक ऐसी कोठरी मिली जो बाहर से बन्द थी, परन्तु भीतर जिसके पुस्तकें भरी हुई थीं। इन पुस्तकों का कुछ ही अंश डाक्टर स्टाइन को मिला; अवशिष्ट अंश एम० पालियो नाम के एक फ्रेंच विद्वान् के हाथ लगा। इस चढ़ाई का बहुत ही विशद वर्णन डाक्टर स्टाइन ने पाँच बड़ी बड़ी जिल्दों में किया है। वे प्रकाशित भी हो गई हैं। उनका नाम है सेरिंडिया (Serindia)।

अपनी दूसरी चढ़ाई में जिस समय डाक्टर स्टाइन तुर्किस्तान में प्राचीन चिन्हों और वस्तुओं की खोज कर रहे थे उसी समय मध्य एशिया में खोज करने के लिए फ्राँस की राजधानी पेरिस में एक परिषद् की स्थापना हुई। उसकी सहायता फ्राँस की गवर्नमेन्ट ने भी धन से की और कई एक अन्य सभाओं ने भी की। इस परिषद् ने एक चढ़ाई की योजना की। एम० पालियो, जिनका नाम ऊपर एक जगह आया है, इसके प्रधानाध्यक्ष नियत हुए। वे दल बल समेत जून सन १९०६ में पेरिस से रवाना हुए और मास्को, ताशकन्द होते हुए, पामीर के उत्तर काशगर तक पहुँच गए। वहाँ आस पास खोज करते हुए वे तुन होंग नामक स्थान में पहुँचे। इसके

कुछ ही समय पहले डाक्टर स्टीन एक गुफा से बहुत सी पुस्तकें प्राप्त कर के लौट चुके थे। यह एक प्रसिद्ध प्राचीन स्थान था। इसकी खबर पोलियो को पहले ही से थी। उन्होंने यह भी सुन लिया था कि डाक्टर स्टीन वहाँ से बहुत-सी प्राचीन पुस्तकें लेकर पहले ही चम्पत होगए हैं। फिर भी उन्होंने वहां पर अपने मतलब की कुछ चीज़े पाने की आशा न छोड़ी।

खोज करने पर पोलियो को मालूम हुआ कि वंग-ताउ नाम का एक चीनी बौद्ध पुरानी पुस्तकों का स्थिति-स्थान जानता है। पता लगाने पर वह बौद्ध साधु उन्हे मिल गया। पोलियो ने उससे हेल-मेल पैदा करके पुस्तकों का अनुसधान लगाने की प्रार्थना की। उसने इस प्रार्थना को स्वीकार किया। वह उन्हें एक ऐसी जगह ले गया जहाँ पर कोई एक हज़ार वर्ष की पुरानी सैकड़ो बौद्ध गुफाएँ या कोठरियाँ थीं। उनमे से, किसी समय, उसने एक को खोल कर देखा था और वह उसे पुस्तकों से परिपूर्ण मिली थी। इसी गुफा को वंगने पोलियो के लिए खोला। खोलने पर जो दृश्य पोलियो को दिखाई दिया उससे उनके आश्चर्य और हर्ष की सीमा न रही। ईसवी सन् की दसवीं शताब्दी के अन्त मे जब मुसलमानों ने बौद्धों के नाश का बीड़ा उठाया तब उस प्रान्त के बौद्ध विद्वानों ने अपना सारा ग्रन्थ और चित्र समुदाय लाकर उस गुफा मे बन्द कर दिया। फिर उसका मुँह चुनवा दिया और चुनी हुई जगह पर बेल बूटे और चित्र खिंचा दिए। यह इस लिए किया जिसमे वह

दीवार सी मालूम हो; किसी को यह सन्देह न हो कि यह गुफा है और इसके भीतर पुस्तकें भरी हुई हैं। मुसलमानों ने पुस्तकादि के इस संग्रह के स्वामी बौद्धों की क्या दशा की, कुछ मालूम नहीं। तब से सन् १९०० ईसवी तक यह गुफा बराबर बन्द रही।

इस गुफा के भीतर कोई १५ हजार पुस्तकें—संस्कृत, प्राकृत, चीनी, तिब्बती तथा कई अन्य अज्ञात भाषाओं और लिपियों में—मिलीं। रेशम के टुकड़ों पर खिंचे हुए सैकड़ों अनमोल चित्र भी प्राप्त हुए। पुस्तकें सभी ग्यारहवीं सदी के पहले की हैं। कितनी ही ब्राह्मी लिपि में हैं। अधिकतर पुस्तकों का सम्बन्ध बौद्ध धर्म से है। परन्तु काव्य, साहित्य, इतिहास, भूगोल, ज्ञान आदि शास्त्रों से भी सम्बन्ध रखने वाली पुस्तकें इस पुस्तकालय में मिलीं। संस्कृत भाषा में कितनी ही लिखी हुई पुस्तकें इसमें ऐसी हैं जो भारत में सर्वथा अप्राप्य हैं। यहाँ तक कि इसकी अनेक पुस्तकें, जो चीनी भाषा में हैं चीन में भी दुर्लभ क्या अलभ्य ही हैं। पुराने बही खाते, राजनामचे और दस्तावेज तक मिले। इन सब का प्रकाशन धीरे धीरे हो रहा है।

इससे स्पष्ट है कि प्राचीन भारत ने मध्य एशिया की राह चीन, सीस्तान (शकस्थान) और यूनान आदि को विद्या-दान देने और उन्हें सभ्य बनाने का कितना काम किया था।

[सरस्वती]

५१

हमीर

भूमि भारत की सदा से सद्गुणों की खान है।
धर्म-रक्षा, धर्म-निष्ठा ही यहां की बान है॥

दीन-दुखियों पर दया करना यहां की शान है।
बस इसी से आज तक सर्वत्र इसका मान है॥

—कमलाकर

प्रसिद्ध गढ़ रणथम्भोर को कौन इतिहास-प्रेमी नहीं जानता? किसने शरणागत-वत्सल वीरवर हमीर राव का नाम नहीं सुना? सब इतिहास-प्रेमियों को मालूम है कि वीर हमीर अलाउद्दीन जैसे प्रबल शत्रु से कैसी वीरता से लड़ा था। अलाउद्दीन

जैसे उद्दण्ड बादशाह को भी एक बार उसके सामनेसे भागना पड़ा था। परन्तु हमीर राव के राज्यकालमें शैतान की असावधानता तथा अदूरदर्शिता से रणथम्भौर जैसे अजेय दुर्ग पर मुसलमानों का झण्डा फहराया।

अलाउद्दीन बादशाह के मैहमाशाह नामक एक मुसलमान दरबारी से एक अपराध बन पड़ा। बादशाह ने इस अपराध की खबर पाते ही उसे प्राण-दण्ड की आज्ञा दे दी। मैहमाशाह को इस कठोर आज्ञा की सूचना पहले मिल चुकी थी। इस लिए उसने भाग कर शरणागत-वत्सल वीर हमीर की शरण ली।

यह सुन कर बादशाह ने हमीर को कहला भेजा कि मैं ने सुना है कि तुमने मैहमा को शरण दी है। क्या तुम को मालूम न था कि वह शाही अपराधी है? अथवा क्या तुम को मेरा प्रताप विदित नहीं है जो तुमने ऐसी धृष्टता की है? क्यों व्यर्थ पतङ्ग की भाँति सकुटुम्ब प्राण देने को उद्यत हुए हो? इसलिए मैहमा को मेरे पास भेज कर क्षमा-प्रार्थी बनो। नहीं तो मैं शीघ्र ही आकर तुम्हारी इस उद्दण्डता का उचित पुरस्कार दूँगा।

दूत द्वारा बादशाह के इस सन्देश को सुनते ही वीर हमीर दूत से कड़क कर बोले—बादशाह से कह देना कि हमीर ऐसी धमकियों से डरने वाला नहीं है। मैंने उसी वंश में जन्म लिया है जिसके एक सरदार ने शहाबुद्दीन गोरी को सात बार हराया था और उसे सात बार ही सही-सलामत

छोड कर अपनी वीरता तथा उदारता का परिचय दिया था ।
क्या मै राजपूत होकर एक शरण आए हुए मनुष्य को
पकडवा दूँ ? नही, कभी नही। सूर्य पश्चिम मे निकल सकता
है, हिमालय फूँक से उड सकता है और समुद्र अपनी मर्यादा
को भी लाँघ सकता है, परन्तु हमीर स्वप्न मे भी एक
शरणागत मनुष्य को नही त्याग सकता। जब तक धड़ पर
मस्तक है, जब तक हाथ मे कृपाण है, तब तक यदि सारे
ससार की शक्तियाँ भी मिल कर लडें, तो भी वे मेहमा का
नही ले सकती, तेरी तो हकीकत ही क्या है ।

अपने दूत के मुँह से हमीर के वाक्य सुन कर बादशाह के
क्रोध की आग और भी भडक उठी। तुरन्त ही उसने एक
बडी सेना तैयार करने की आज्ञा दे दी। सेना तैयार हो कर
रणथम्भोर की ओर चल दी। स्वय बादशाह भी अपनी फौज
के साथ था। कहते है कि लग भग दस मील तक फ़ौज की
छावनी पडी थी। इस सेना ने दुर्ग को घेर लिया। पर अपने
दुर्ग को इस तरह इतनी बडी फौज द्वारा घिरे हुए देख कर भी
निर्भय वीर हमीर का कलेजा जरा भी नही दहला, वरन दुर्ग
के ऊपर से बादशाह की विस्तृत फौज को देख कर वे बोले
कि बादशाह तो एक सौदागर सा मालूम पडता है ।

बादशाह ने समझा था कि इतनी बडी सेना देख कर
हमीर भयभीत हो गया होगा। सेना खोल कर उसने फिर

एक बार अपने अपराधों को माँगा, परन्तु उस को फिर भी वही निर्भीक उत्तर मिला।

मैहमा शाह भी बड़ा वीर पुरुष था। वह तीर चलाने में अद्वितीय वीर था। ऐसा कहा जाता है कि युद्ध आरम्भ होने के दिन की पहली रात्रि को, किले के ऊपर खुली छत पर, हमीर का दरबार लगा हुआ था और नाच हो रहा था। सब राजपूत आनन्द मना रहे थे। कल युद्ध होने वाला है, इसकी किसी को कुछ भी परवाह नहीं थी। एक वीर राजपूत के लिए इससे बढ़ कर आनन्द का स्थान और क्या हो सकती है? उनके शास्त्र में तो लिखा है कि क्षत्रिय को युद्ध में मरने से स्वर्ग मिलता है। फिर भला लड़ाई में मरने से कौन डरेगा? हमीर का ऐसा निर्भय ढङ्ग देख कर, अलाउद्दीन जैसे वीर मनुष्य का भी कलेजा दहल गया। उसके मुख पर निराशा के चिह्न स्पष्ट दृष्टिगोचर होने लगे। यह देख कर मैहमा का भाई मीर गाबरू, जो कि बादशाह की फौज में था, बोला—आप इतने निराश क्यों होते हैं? मैं अभी हमीर के रङ्ग में भङ्ग किये देता हूँ। ऐसा कह कर उसने एक बाण नाचने वाली पातुर की एड़ी पर मारा, जिस से वह बेचारी धड़ाम से गिर पड़ी। यह देख कर हमीर के मन में कुछ शङ्का हुई। परन्तु मैहमा ने आगे बढ़ कर कहा कि महाराज, यह काम मेरे भाई का है,

क्योंकि वह भी तीर चलाने मे मेरे ही बराबर है। यदि आप आज्ञा दें तो मैं भी अपनी तीरन्दाजी दिखलाऊँ। बस, हमीर की आज्ञा पा कर मैंहमा ने ऐसा तीर मारा, जिससे बादशाह की टोपी उडकर अलग जा पडी ! यह देख कर शाह की फौज मे हलचल मच गई।

प्रातःकाल ही वीर राजपूत प्रात.क्रिया से निवृत्त हो कर युद्ध-भूमि पर जा डटे। छान के दर्रे पर हमीर के काका रण-धीर नायक ने घोर युद्ध किया। यह युद्ध बडा ही लोमहर्षण हुआ। दोनों ओर के बडे बडे वीर योद्धा रण मे काम आये। पृथ्वीराज के प्रसिद्ध सामन्त, काका कान्ह, की उपमा रणधीर से दी जाती है। कहावत है कि 'जो काका कनवज करो, सो छानि करो रणधीर।' कहते हैं कि रणधीर पांच वर्ष लड़ कर वीर-गति को प्राप्त हुआ।

अब छान के दर्रे को विजय करके बादशाह की फौज किले की ओर बढी। वहाँ भी बहुत दिनों तक घमसान युद्ध होता रहा। बादशाह ने किला विजय करने के अनेक उपाय किए, परन्तु स्वदेश और स्वजाति-प्रेमी वीर राजपूतों के सामने उसका एक भी दांव न चला। अन्त मे विश्वासघाती, महत्तम, दुष्ट सुरजन नामक हमीर का दीवान (मन्त्री) राज्य के लोभ मे आकर बादशाह से जा मिला और उसने प्रतिज्ञा की

कि मैं दुर्ग का फतह करवा दूँगा। वीर राजपूत अपनी विजय के लिये जी तोड़ कर लड़ रहे थे। उन्हें दुष्ट सुरजन की दुष्टता की कुछ भी खबर न थी। उस समय मन्त्री ने आकर हमीर से कहा—महाराज, दुर्ग की भोज्य-सामग्री समाप्त हो गई है। 'आरा भारा' नामक खास खाती हो गए हैं। अब सामग्री एकत्र करना दुस्साध्य है। यह सुनते ही वीर हमीर के ऊपर वज्रपात सा हो गया। वह अवाक् रह गया। सरल हृदय हमीर उसकी दुष्टता न समझ सका।

रात्रि को एक दरबार किया गया और सब सरदारों की राय पूछी गई। किले में बन्द होकर भूखों मरना वीर हृदय राजपूतों को कब पसन्द आ सकता था। और अधीनता स्वीकार करना तो उनका अपना गला घोंटना था। सब ने एकमति होकर जौहर करने की सम्मति दी। इस समय इस प्रकार हमीर को सङ्कट में देख, महमाशाह बोला—महाराज, आप चिन्ता न करें। यह सब लड़ाई मेरे पीछे है। मुझे बादशाह के हवाले कर दीजिये। यह सुनकर हमीर बोले—यह कभी नहीं हो सकता कि मैं राजपूत और राजा हो कर एक शरण आए हुए मनुष्य को यवन के कर पकड़ा दूँ। धिक्कार है मुझे और मेरी माता को, यदि मैं ऐसा विचार भी करूँ। जब तक शरीर में प्राण है तब तक तुझे प्राणों से अधिक मानता हूँ।

यह कहकर वीर हमीर महलों मे चले गए और अपनी वीर पत्नी से बोले—प्रिये। किले की भोज्य-सामग्री समाप्त हो गई। अब क्या करना चाहिए ? मँहमा को पकडवा कर अधीनता स्वीकार करूँ या किले के बाहर होकर युद्ध करूँ ?

यह सुनते ही रानी अपने पति को वीर वाक्यों से उत्साहित करती हुई बोली—महाराज, क्या शरण आए हुए मनुष्य को आप पकड़ा देंगे ? क्या आप पवित्र राजपूत कुल मे कलङ्क लगावेंगे ? क्या आप वीर मनुष्य हो कर प्राणों के लोभ मे राजपूतों के स्वाभाविक गुण शरणागत-वत्सलता को इस प्रकार तिलाञ्जली दे देंगे ? कभी नहीं। महाराज, ऐसा कभी विचार भी न कीजिए। हम लोग भी जल कर आप से स्वर्ग मे मिलेंगी। बस, अब सोच-विचार का काम नहीं।

रानी के ऐसे वीर वाक्य सुन कर हमीर बोले—मुझे तुम से ऐसी ही आशा थी।

प्रातःकाल होते ही वीर राजपूत अन्तिम युद्ध के लिए सज्जित होने लगे। सब ने स्नान-सन्ध्यादि करके केसरिया वस्त्र धारण किए और मस्तक पर केसर का त्रिपुण्ड लगाया। हमीर को उनकी रानी ने स्वयं अपने हाथों मे युद्ध के साजों से सज्जित करके उनकी आरती की। अब वह प्रेम-भरी आँखों से अपने पति का अन्तिम दर्शन करने लगी। इतने मे लड़ाई के नगाडे का घनघोर शब्द सुन पड़ा। नगाडे

के शब्द की ध्वनि राजपूत वीरों की विकट गर्जना से प्रतिध्वनित होने लगी। अब विलम्ब का समय न देख, रानी से अन्तिम भेंट कर और बादशाही सेना को किले की ओर बढ़ते देख, जौहर करने का उपदेश दे, वे बहुत शीघ्र महलों से बाहर आए। उनके दृष्टिगोचर होते ही सेना ने विकट गर्जना करके 'हमीरराय की जय!' का उच्चारण करके उनका स्वागत किया।

बस, अपनी सेना को शब्दों द्वारा उत्तेजित करके वे रण भूमि में जा डटे। दोनों सेनाओं के आमने सामने होते ही घोर घमासान युद्ध आरम्भ हो गया। वीर पुरुष अपने खड्गों को शत्रुओं को रुधिर पान कराने लगे। वीर हमीर भी शाही सेना का मथन करने लगा। कई बार उसने बादशाह के हाथी की ओर हमला किया, परन्तु कृतकार्य न हो सका। अन्त में बादशाह का हठ टूट गया और राजपूतों की सच्ची वीरता के सामने मुसलमान लोग न ठहर सके और धीरे धीरे पीछे हटने लगे। राजपूत वीर भी उत्साहित हो बड़ी वीरता से लड़ने लगे। अब मुसलमान लोग उनके सामने न डट सके और बची हुई सेना के साथ बादशाह भाग निकला। हमीर के सैनिकों ने बादशाह से शाही निशान छीन लिए। आनन्द में मग्न होते, जीते हुए निशानों को सेना के आगे किए हमीर लौटे।

मुसलमानों के निशानों को दूर से आते देख किले के

विश्वास पात्र सेवकों ने समझा कि बादशाह की विजय हुई। राजपूत रमणियों ने यह सुनते ही मुसलमानों से अपनी प्रतिष्ठा बचाने के लिये धधकती हुई अग्नि मे प्रवेश किया। देखते ही देखते अगणित रूप- लावण्य-मयी ललनाएँ जल कर राख का ढेर होगईं।

जब वीर हमीर ने किले के पास पहुँच कर यह हृदय-विदारक शोक-संवाद सुना, जो कि उनके सैनिकों की असावधानी के कारण संगठित हुआ था, तब वे शोक से विह्वल हो गए। जब शोक कुछ कम हुआ, तब वे इसे दैव का कर्त्तव्य मान कर बोले—अब ईश्वर की यही इच्छा है कि पवित्र भारत मे मुसलमानों का राज्य हो! अब कुटुम्ब-रहित हो कर संसार मे रहने से तो मरना ही श्रेष्ठ है। यह कह कर उन्होंने अपने खड्ग से अपना मस्तक काट शिवजी को चढ़ा दिया।

सुरजन ने बादशाह को यह खबर दी। इसके सुनते ही वह लौट आया। राजपूतों ने अन्त तक उसका सामना किया, पर बिना स्वामी के वे कब तक लड़ते। अन्त मे बादशाह की विजय हुई और मनुष्य-रहित दुर्ग पर उसने अपना अधिकार जमाया। मैहमाशाह ने भी लड़ाई मे वीरता से प्राण त्यागे। इस प्रकार गढ़-रणथम्भोर सदा के लिए शून्य हो गया।

परन्तु वीर हमीर ने अपने प्राण देकर भी शरणागत

शरणागत का व्रत पाला और राजा शिवि की भाँति अपनी कीर्ति अटल कर गये। हमीर की प्रशंसा वर्णन करते हुये किसी कवि ने कहा है—

सिंह-गमन, सत्पुरुष-वचन कदलि फरै इक बार।
तिरिया तेल हमीर हठ, चढ़ै न दूजी बार॥

आज तक यह दोहा बड़े ही आदर के साथ हमीर का नाम स्मरण कराता है।

—कुँवर नारायण सिंह
(भारतीय आत्मत्याग से)

४९

हिन्दी साहित्य और मुसलमान कवि

सभी देशों के इतिहास में भिन्न-भिन्न जातियों के पारस्परिक सङ्घर्षण के उदाहरण मिलते हैं। उनसे यही सिद्ध होता है कि ऐसे ही सङ्घर्षण से सभ्यता का विकास होता है। भिन्न भिन्न देशों में भिन्न भिन्न अवस्थाओं के कारण विभिन्न जातियों के विभिन्न आदर्श होते हैं। जब एक जाति का दूसरी जाति के साथ मिलन होता है तब उसका सामाजिक जीवन जटिल होता है, पर इसी जटिलता से सभ्यता का विकास होता है। दो जातियों में परस्पर भिन्नता रहनी चाहिए। परन्तु जब उन्हें एक ही स्थान में रहना पड़ता है तब विवश होकर उन्हें कोई एक ऐसा सम्बन्ध-सूत्र खोजना

पड़ता है जिससे उस भिन्नता में भी एकता स्थापित हो जाय। यही सत्य का अन्वेषण है, यही में एक और व्यष्टि में समष्टि।

भारतवर्ष के इतिहास में महत्वपूर्ण घटना भिन्न भिन्न जातियों का पारस्परिक सम्मिलन है। अन्य देशों की अपेक्षा भारत में जाति प्रेम की समस्या अधिक कठिन थी। योरप में जिन जातियों का सम्मिलन हुआ है उनमें इतनी विषमता नहीं थी। उनमें से अधिकांश की उत्पत्ति एक ही शाखा से हुई थी। इसमें सन्देह नहीं कि उनमें जातिगत द्वेष और विरोध की मात्रा कम नहीं थी तो भी कदाचित् उनमें वर्ण भेद नहीं था। यही कारण है कि इंगलैंड में सैक्सन और नार्मन जातियों में इतना शीघ्र मिलाप हो गया। सच तो यही है कि सभी पाश्चात्य जातियों में वर्ण और शारीरिक गठन की समता है। यही नहीं, किन्तु उनके आदर्शों में भी अधिक भेद नहीं है। इसी लिए उनके पारस्परिक सम्मिलन में बाधा नहीं आती। परन्तु भारतवर्ष की यह दशा नहीं है। प्राचीन काल में श्वेतांग आर्यों का कृष्णकाय आदिम निवासियों से मिलाप हुआ। फिर द्राविड जाति से उनका संघर्षण हुआ। उस समय द्राविड जाति भी सभ्य थी और उनका आचार व्यवहार आर्यों के आचार व्यवहार से सर्वथा भिन्न था। यह विषमता दूर करने के लिए तीन ही उपाय थे। एक तो यह कि इन जातियों का नाश ही कर दिया जाय। दूसरा

यह कि इन्हे वशीभूत कर उन पर अपनी सभ्यता का प्रभाव डाला जाय। और तीसरा यह कि एक ऐसे वृहत् सत्य का आविष्कार किया जाय जहाँ किसी भी प्रकार की भिन्नता नही रह सकती। भारतीय आर्यों ने इस तीसरे उपाय का अवलम्बन किया। भारतवर्ष के इतिहास मे जिन महापुरुषों का नाम अग्रगण्य है, उन्होंने यही कार्य किया है। भगवान् बुद्ध ने विश्व-मैत्री की शिक्षा देकर भारत के राष्ट्रीय जीवन मे एकता का प्रचार किया। जब भारत पर मुसलमानो का आक्रमण हुआ तब देश मे एक नए आन्दोलन का जन्म हुआ। उस आन्दोलन का उद्देश्य था जातीय और धार्मिक विरोध को भूल कर नारायण के प्रेम मे सभी नरों को भ्रातृरूप से ग्रहण करना। हिन्दी-साहित्य पर इस आन्दोलन का जो प्रभाव पडा उसी की चर्चा यहाँ की जाती है।

भारत पर मुसलमानों का आधिपत्य सहसा स्थापित नहीं हो गया। समस्त हिन्दू जाति ने—विशेषकर राजपूतों और मरहठों ने—बडी दृढता से उनका आक्रमण रोका था। मुसलमानों का पहला आक्रमण सन् ६६४ ईसवी मे हुआ। उस समय मुसलमान मुलतान तक ही आकर लौट गए। उनका दूसरा आक्रमण सन् ७११ मे हुआ। तब उन्होंने सिन्धु देश पर अधिकार कर लिया था। परन्तु कुछ समय के बाद राजपूतों ने

उनको वहाँ से हटा दिया। इसके बाद महमूद गजनवी की आक्रमण हुआ। उस समय भी मुसलमानों का प्रभुत्व यहाँ स्थापित नहीं हुआ। सन् ११९३ में मुसलमानों का शासन युग प्रारम्भ हुआ। उत्तर भारत में उनका साम्राज्य स्थापित हो जाने पर भी दक्षिण में हिन्दू साम्राज्य बना रहा। विजयनगर का पतन होने पर कुछ समय के लिए समग्र भारत पर से हिन्दू साम्राज्य का लोप हो गया। परन्तु सत्रहवीं सदी में मरहठे प्रबल हुए,और अन्त में उन्होंने फिर हिन्दू-साम्राज्य की स्थापना की। इसी समय अँग्रेजों का प्रभुत्व बढ़ा और कुछ ही समय में हिन्दू और मुसलमान दोनों को अँगरेजों का आधिपत्य स्वीकार करना पड़ा।

यद्यपि भारतवर्ष में मुसलमानों का साम्राज्य सन् ११९३ से प्रारम्भ होता है, तथापि कितने ही मुसलमान साधक और फकीर इन आक्रमणकारियों के पहले ही यहाँ आ चुके थे। आठवीं सदी में जब मुसलमानों ने भारत का एक भाग विजय कर लिया तब तो हिन्दुओं और मुसलमानों में घनिष्ठता हो गई। उस समय मुसलमानों का अभ्युदय बढ़ रहा था। बगदाद विद्या का केन्द्र हो गया था। कितने ही भारतीय विद्वान् खलीफा के दरबार तक जा पहुँचे। वहाँ उन लोगों की बदौलत संस्कृत के कितने ही ग्रन्थों का अनुवाद अरबी भाषा में हुआ। भारत में मुसलमानों ने केवल अपनी प्रभुता ही स्थापित

नहीं की किन्तु अपने धर्म का भी प्रचार किया। तभी हिन्दू और मुसलमान का विरोध आरम्भ हुआ। इस विरोध को दूर करने का सब से अधिक प्रयत्न किया कबीर ने। कबीर ने देखा कि भारतवर्ष मे हिन्दू और मुसलमानो का विरोध बिलकुल अस्वाभाविक है।

कोइ हिन्दू कोइ तुरक कहावै एक जमीं पर रहिए।
वही महादेव वही मुहम्मद ब्रह्मा आदम कहिए॥
बेद किताब पढे वे कुतबा मौलाना वे पांडे।
बिगत बिगत के नाम धरायो यक माटी के भांडे॥

कबीर हिन्दू और मुसलमान दोनों का हाथ पकड़ कर एक ही पथ पर ले जाना चाहते थे। परन्तु दोनों इस का विरोध करते थे। कबीर को उनकी इस मूढता—इस धर्मान्धता—पर आश्चर्य होता था। उन्होंने देखा कि इस विरोधाग्नि मे पड़ कर दोनों नष्ट हो जावेंगे।

साधो देखो जग बौराना।
सांच कहो तो मारन धावे झूठे जग पतियाना।
हिन्दू कहत हैं राम हमारा, मुसलमान रहिमाना॥
आपस मे दोउ लरि लरि मूए मरम न काहू जाना।
हिन्दू की दया मेहर तुरकन की, दोनों घट सों त्यागी॥
वे हलाल वे झटका मारें, आग दोऊ घर लागी।
या विधि हँसत चलत हैं हम को आप कहावे स्याना।

कहैं कबीर सुनो भाई साधो, इन में कौन दिवाना ॥

इन दोनों की कल्याण कामना से प्रेरित हो कबीर उस पथ की खोज निकालना चाहते थे जिस पर हिन्दू और मुसलमान दोनों चल कर आत्मोन्नति कर सकें। परन्तु हिन्दू जिधर जा रहे थे तो मुसलमान ठीक उसके विपरीत जा रहे थे। कबीर ने उनको ललकारा भी—

अरे इन दुहुँ राह न पाई।
हिन्दू की हिन्दुआई देखी तुरकन की तुरकाई।
कहैं कबीर सुनो भाई साधो कौन राह ह्वै जाई ॥

इसी लिए कबीर ने हिन्दू की हिन्दुआई और तुर्क की तुरकाई दोनों को छोड़ दिया। उन्होंने केवल मनुष्यत्व को ग्रहण किया—

हिन्दू कहूँ तो मैं नहीं मुसलमान भी नाहिं।

उन्होंने दोनों को एक ही दृष्टि से देखा—

सम दृष्टी सतगुरु किया मेटा भरम विकार।
जहँ देखौं तहँ एक ही साहब का दीदार ॥

सम-दृष्टी तब जानिए शीतल समता होय।
सब जीवन की आतमा लखै एक सी सोय ॥

कबीर का प्रयास व्यर्थ नहीं हुआ। हिन्दू और मुसलमान सम्मिलन की ओर अग्रसर हुए। भाषा के क्षेत्र में इनका सम्मिलन बहुत पहले हो चुका था। अमीर खुसरो ने इस

एकता की नीव को दृढ किया। हिन्दी मे कागज़-पत्र, शादी-ब्याह, खत-पत्र आदि शब्द उसी सम्मिलन के सूचक है। इस के बाद जायसी ने मुसलमानों को हिन्दी-साहित्य मे सौंदर्य का दर्शन कराया।

तुरकी अरबी हिन्दवी भाषा जेती आहि।
जामे मारग प्रेम का सबै सराहैं ताहि ॥

मलिक मुहम्मद जायसी कवि ही नही थे साधक भी थे। हिन्दू और मुसलमान दोनों उनकी पूजा करते थे। कितने ही लोग उनके शिष्य थे। अतएव यह कहना नही होगा कि हिन्दी-भाषा मे रचना कर उन्होंने मुसलमानों को हिन्दू-जाति से प्रेम करने की शिक्षा दी। जायसी के धार्मिक विचारों का आभास उनके अखरावट से मिलता है। अपने धर्म पर अविचल रह कर भी कोई दूसरे के धर्म को श्रद्धा की दृष्टि से देख सकता है, यही नही, उनका भी धर्म ईश्वर-प्रदत्त है, अतएव वे हमारी घृणा के पात्र नही है।

तिन्ह सन्तति उपराजा भाँतिहि भाँति कुलीन।
हिन्दू तुरक दुनउ भए अपने अपने दीन।

जायसी ने जो शिक्षाएँ दी हैं उनमे ऐसी कोई शिक्षा नही है जिसे कोई हिन्दू स्वीकार न कर सके। ईश्वर की सर्वव्यापकता पर उन्होंने कहा है—

जस तन तस यह धरती जस मन तइस अकास।

परम हंस तेहि मानस जइस फूल मँह वास ॥

जो उसका दर्शन करना चाहते हैं उन्हें अपना हृदय को सदैव स्वच्छ रखना चाहिए—

तन दरपन कहँ साज दरसन देखा जौ चहइ।
मन सौं लीजइ मांज, मुहमद निरमल होय दिया।

उन्होंने पवित्रता की सदैव शिक्षा दी है—

एक कहत दुइ होय दुइ सो राज न चलि सकइ।
बीच तें आपहु खोय मुहमद एकाय होइ रहइ ॥

आत्मा और आत्मा में भी उन्होंने कोई भिन्नता नहीं देखी है—

सबइ जगत दरपन कइ लेखा,
आपुहि दरपन आपुहि देखा।
आपुहि बन अउ आपु पखेरू,
आपुहि सउजा आप अहेरू ॥

आपुहि पुहुप फूल बनि फूल,
आपुहि भँवर बास रस भूल।
आपुहि फल आपुहि रखवारा,
आपुहि रस रस चाखन हारा।
आपु है घट घट मँह मुख चाहइ,
आपुहि आपन रूप सराहइ।

आपुहि कागद आपु मसि आपुहि लिखन हार।
आपुहि लिखनी आखर आपुहि पँडित अपार ॥

जिस आन्दोलन के प्रवर्तक कबीर थे उसकी पुष्टि जायसी के समान मुसलमान साधकों और फ़क़ीरों ने की। भारत में राजकीय सत्ता स्थापित करने के लिए हिन्दू और मुसलमान दोनों प्रयत्न करते रहे। परन्तु देश में दोनों का स्थान निर्दिष्ट हो चुका था। भारत से मुसलमानों का उतना ही सम्बन्ध हो गया जितना हिन्दुओं का। प्रतिद्वन्द्वी होने पर भी इन दोनों के धर्मों का प्रवेश भारतीय सभ्यता में हो गया। हिन्दी और फ़ारसी से उर्दू की सृष्टि हुई। उसी प्रकार हिन्दू और मुसलमान की कला ने मध्य युग में एक नवीन भारतीय कला को सृष्टि की। देश में शान्ति भी स्थापित हुई। कृषकों का कार्य निर्विघ्न हो गया। व्यवसाय और वाणिज्य की वृद्धि होने लगी, देश में नवीन भाव का यथेष्ट प्रचार हो गया। अकबर के राजत्व-काल में जिस साहित्य और कला की सृष्टि हुई उसमें हिन्दू और मुसलमान का व्यवधान नहीं था। अकबर के महामंत्री अबुल फ़ज़ल ने एक हिन्दू-मंदिर के लिए जो लेख उत्कीर्ण कराया था उसका भावार्थ यह है—हे ईश्वर, सभी देव-मंदिरों में मनुष्य तुम्हीं को खोजते हैं, सभी भाषाओं में मनुष्य तुम्हीं को पुकारते हैं। विश्व-ब्रह्मवाद तुम्हीं हो और मुसलमान-धर्म भी तुम्हीं हो। सभी धर्म एक ही बात कहते हैं कि तुम एक हो, तुम अद्वितीय हो। मुसलमान मस्जिदों में तुम्हारी प्रार्थना करते हैं और ईसाई गिर्जा-घरों में तुम्हारे

लिए घृणा रखते हैं। एक दिन मैं मसजिद जाता हूँ और एक दिन गिर्जा। पर मन्दिर मन्दिर में मैं तुम्हीं को खोजता हूँ। तुम्हारे शिष्यों के लिए सत्य न तो प्राचीन है और न नवीन। अबुल फजल का यह उद्गार मध्ययुग का नवीन सन्देश था। हिन्दी में सूरदास और तुलसी दास ने अपने युग की इसी भावना से प्रेरित हो मनुष्य जीवन में श्रेष्ठ आदर्श दिखलाया। उसी भाव को ग्रहण कर मुसलमानों में रहीम ने कविता लिखी। निम्नलिखित पद्यों से प्रकट हो जाता है कि रहीम ने हिन्दू भाव को कितना अपना लिया था।

> अनुचित वचन न मानिए जदपि गुराइस गाढ़ि।
> है रहीम रघुनाथ ते सुजस भरत को बाढ़ि॥
> कमला थिर न रहीम कहि यह जानत सब कोय।
> पुरुष पुरातन की वधू क्यों न चंचला होय॥
> गहि सरनागति राम की भवसागर की नाव।
> रहिमन जगत उधार कर और न कछू उपाव॥
> जो रहीम करिबो हतो ब्रज को इहै हवाल॥
> तो काहे कर पर धरयो गोवर्धन गोपाल॥

मुगलों के शासन काल में हिन्दी-साहित्य की जो श्री वृद्धि हुई उसका कारण यही है कि उस समय मुसलमान भारत को स्वदेश समझने लगे थे। न तो हिन्दुओं में

तत्कालीन राज भाषा की उपेक्षा की और न मुसलमानों ने हिन्दू-साहित्य की। उस समय वैष्णव-सम्प्रदाय के आचार्यों ने धार्मिक विरोध को हटाने की चेष्टा की। कितने ही मुसलमान साधक श्रीकृष्ण के उपासक हो गए। इन में रसखान की भक्ति ने हिन्दी मे रस की धारा बहा दी है। उनका निम्न लिखित पद्य बड़ा प्रसिद्ध है—

मानुस हों तो वही रसखान बसौं मिलि गोकुल गोप गुवारन।
जो पशु होउँ कहा बसु मेरो चरौं नित नंद की धेनु मझारन।
पाहन हों तो वही गिरि को जु कियो ब्रज छत्र पुरन्दर कारन।
जो खग होउँ बसेरो करौं वही कालिन्दी कूल कदम्ब की डारन

मुसलमानों के लिए यह प्रेम कम साहस का काम नहीं था। ताज का यह कथन सर्वथा उचित था।—

सुनो दिलजानी मेडे दिल की कहानी तुम
    हस्त की बिकानी बदनामी भी सहूँगी मैं।
देव पूजा ठानी मैं निवाज हू भुलानी तजे
    कलमा कुरान सारे गुनन गहूँगी मैं।
श्यामला सलोना सिरताज सिर कुल्लेदार
    तेरे नेह दाग मे निदाघ है दहूँगी मैं।
नन्द के कुमार कुरबान ताणी सूरत पै
    तांड़ नाल प्यारे हिन्दुयानी है रहूँगी मैं।

इसी प्रेम से प्रेरित हो कितने ही मुसलमान कवियों ने

हिन्दी साहित्य को अपनी रचनाओं से अलङ्कृत किया है।

राजनीति के क्षेत्र में हिन्दू और मुसलमान जाति का विरोध दूर नहीं हुआ। समाज के क्षेत्र में भी दोनों का स्वातंत्र्य बना रहा। तो भी साहित्य के क्षेत्र में दोनों ने सत्य को ग्रहण करने में सङ्कोच नहीं किया। इसी चिरन्तन सत्य के आधार पर—इसी एक्य मूलक आध्यात्मिक आदर्श की भित्ति पर—भारत ने अपनी जातीयता की स्थापना की है। इसी जातीयता में सभी जातियाँ अपने अस्तित्व को स्थिर रख सकती हैं। इसमें सम्मिलित होने के लिए हिन्दू ने अपना हिन्दुत्व नहीं छोड़ा और न मुसलमानों ने अपना धार्मिक और सामाजिक संस्कार परित्याग किया। परन्तु इन दोनों का मिलन अनन्त सत्य के मन्दिर में हुआ, जहाँ बाह्य आचार व्यवहार और कृत्रिम जाति भेद के बन्धन से मनुष्यजाति की एकता भिन्न नहीं होती। यह एकता काल्पनिक नहीं है। यह हिन्दू और मुसलमान के जीवन में अभी तक काम कर रही है। सत्य की सीमा सङ्कुचित कर देने से ही इनमें परस्पर विरोध होता है। ईश्वर में ही सभी विरोधों का मिलन होता है। इस लिए उसी को अपना लक्ष्य मानकर भारत ने अपनी जातीयता की सृष्टि की है। यहाँ एक ओर समाज में आचार विचार की रचना होती आई है और दूसरी ओर मनुष्य की एकता को लोग स्वीकार करते आए हैं। एक ओर भिन्न भिन्न वर्णों में

एक ही पंक्ति मे बैठ कर खाने-पीने तक का निषेध किया गया है और दूसरी ओर आत्मवत सर्वभूतेषु की शिक्षा दी गई है। आधुनिक युग मे जाति-भेद की जो समस्या उपस्थित हो गई है उसके सम्बन्ध मे रवीन्द्र बाबू ने बिलकुल ठीक लिखा है कि आजकल जाति-विद्वेष खूब बढ गया है। सभ्य जाति अपनी शक्ति के मद से उन्मत्त हो निर्बल जातियों पर अत्याचार करने मे सङ्कोच नही करती। अभी मनुष्यत्व का विचार उनके लिए उपहासास्पद है। परन्तु जब जातीय स्वातन्त्र्य, परजाति-विद्वेष और स्वार्थ-सिद्धि का वीभत्स रूप दृष्टिगोचर होने लगेगा, तब मनुष्य यह समझेगा कि मनुष्य की यथार्थ मुक्ति किस मे है। नर मे नारायण को उपलब्ध करने मे ही उसकी मुक्ति है, इसी मे उसका कल्याण है। इसके लिए अधिक तर्क करने की आवश्यकता नही।

बिन्दु मों सिंधु समान, को अचरज का सों कहै।
हेरनहार हेरान, रहिमन अपने आपतें ॥

—हरिवल्लभ जोशी

❀ ❀ ❀

४३

महाभारत

लेखक—श्रीयुत सूर्य कुमार वर्मा

अँधेरी रात है। पृथ्वी से लेकर आकाश तक अँधेरा छाया है। एक शिविर में एक चिराग टिमटिमा रहा है। वहाँ एक स्त्री बैठी हुई है। उसकी आँखें रोते रोते सूज गई हैं। गालों पर सूखे हुए आँसुओं के चिन्ह दिखाई पड़ते हैं। वह अपना बायाँ हाथ गाल पर रक्खे बैठी है। उसके बाल धूल के कारण मलिन हो रहे हैं और लटें छूट रही हैं।

---

* यह निबन्ध बंगाल के सुप्रसिद्ध लेखक श्रीयुत नवीन चन्द्र सेन के कुरुक्षेत्र नामक काव्य के सत्रहवें सर्ग के आधार पर लिखा गया है।

वह बैठी बैठी मन ही मन कुछ सोच रही है। उसकी गोद मे मूर्च्छित हुई एक तरुण स्त्री पड़ी है। दु.ख के कारण उस के सिर के आधे बाल सफ़ेद हो गए है। उसकी आँखे भीतर बैठ गई है और उसका शरीर सूख गया है। बहुत देर तक वह तरुण स्त्री यो ही उसकी गोद मे पडी रही। पश्चात् उसने अपनी आँखें खोली। पागल मनुष्य के समान उसने उस दूसरी स्त्री की ओर देख कर उससे पूछा—'मै कौन हूँ ?'

'बेटा, तुम उत्तरा।'

'उत्तरा कौन ?'

'उत्तरा विराट् राजा की कन्या।'

'उत्तरा! मैं उत्तरा! विराट् राजा की कन्या!' विस्मयपूर्वक उसने यह कहा। पास ही रक्खे हुए आयने की ओर देखकर उस ने फिर पूछा—'यह यहां पर कौन बैठा है ?'

उसके पागलों के समान किए हुए प्रश्नों को सुन कर उस दूसरी स्त्री का हृदय भर आया। उसने कहा, "बेटा! कोई नहीं। उस आयने मे अपना ही प्रतिबिम्ब दिखाई पडता है।'

'उत्तरा! मैं उत्तरा! यह उत्तरा का प्रतिबिम्ब! उत्तरा के बाल इतने सफेद! यह मुँह, यह आँखें उत्तरा की!'

उस तापसी स्त्री की आँखों मे आँसू भर आए। छः दिन के दारुण शोक ने उत्तरा के बाल सफेद हो गये थे।

'तुम कौन ?'

मैं वनबाला शैलजा।

हि, हि तू स्वप्न की देवी है। मैंने स्वप्न में देखा कि मैं पूर्णचन्द्र के वक्षस्थल पर से अन्धकारमय पाताल के कठिन पत्थरों पर आ पड़ी हूँ। मेरा शरीर चूर चूर हो गया है। हृदय छिन्न भिन्न हो गया है। वहाँ पर नारायण की करुणामय मूर्ति आविर्भूत हुई। पाताल निर्मल तेज से प्रकाशित हो गया। उन्होंने मुझे संजीवनी सुधा देकर एक देवी की गोद में बैठा दिया। क्या तू उसी स्वप्न की देवी है? यह पुण्यभूमि कौन सी है? यह स्वप्न-राज्य है अथवा देव राज्य?

शैलजा ने कहा—'बेटी! तुम शिविर में हो।"

'शिविर में! कहाँ के शिविर में?'

'कुरुक्षेत्र के शिविर में।

यह सुन कर उत्तरा क्षण भर टकटकी लगाए देखती रही। कृष्ण पक्ष के अन्धकार में जिस तरह क्षीण हुए चन्द्रमा की कोर दिखाई देती है उसी प्रकार उत्तरा के मन में धीरे धीरे पीछे की बातों का स्मरण होने लगा। पितृगृह, नाट्यालय, बृहन्नला, उत्तर गोग्रहण समय की जय, विवाह, छः महीने तक भोग किया हुआ सुख स्वप्न, कुरुक्षेत्र का महारण, वहाँ का शिविर, चक्रव्यूह, मृत-पति के दर्शन और पश्चात् अन्धकार—

इन सब बातों का उसे फिर एकबारगी स्मरण हो आया। उस का शोकानल पुनः प्रदीप्त हो गया। परन्तु शोक के तीव्र सन्ताप के कारण उसकी आंखों का पानी—आंसू—बिलकुल सूख गया था। उसने शैलजा के वक्षस्थल पर अपना मुख रख दिया। सूखे हुए कमल के पत्ते पर जिस प्रकार पानी की बूंदें पड़ जाती हैं उसी प्रकार शैलजा की आंखों से दो गरम गरम आंसुओं की बूंदें उसके मुख पर जा पड़ीं। उत्तरा ने पूछा—'तुम रोती क्यों हो? अभिमन्यु की वनमाता क्या तुम्हीं हो?'

शैलजा ने कहा—'हां, मैं ही उसकी वन-माता हूं।'

'कल रात को उन्हों ने तुम्हारी बाबत मुझ से बातें की थीं। उनकी इच्छा थी कि युद्ध समाप्त होने के पश्चात मुझे साथ लेकर वन में तुम्हारे स्नेहमय निवास-स्थान में जाकर तुम्हारे दर्शन करें। कल हम दोनों कल्पना का मनो-राज्य कर रहे थे। परन्तु मुझे क्या मालूम था कि मुझ हत-भागिनी को इस दशा में तुम्हारी ही गोद में स्थान मिलेगा।'

शैलजा ने शोक से दुखित होकर कहा—अभिमन्यु ने अपनी प्रतिमूर्ति तुम्हारे पुण्य गर्भ में स्थापन करदी है। तुम बालक को हृदय में लगाकर मेरे आश्रम पर वन में आओगी। उस छोटे से बालक—अभिमन्यु—के वन में खेल-तमाशे हम तुम दोनों देखेंगे। युद्ध-भूमि और वन-भूमि दोनों को प्रेम-बन्धन में बांध कर स्वधर्म राज्य की स्थापना करेंगे। तुम्हारे

बालक को सिंहासन पर बिठाऊँगी और तुम मेरी राज्य-लक्ष्मी होगी। बालक का मुख देख कर, प्रजा को सुखी जान कर तुम्हारा दुःख दूर होगा।'

उत्तरा ने एक लम्बी सांस ली और कहा—'सूर्य अस्त होने पश्चात क्या दिन बाकी रहेगा? चन्द्रमा के चले जाने पर क्या चाँदनी रह सकती है? वृक्ष के भस्म होने पर उसकी छाया बनी रह सकती है? जलाशय के सूख जाने पर क्या नलिनी वहाँ बनी रह सकती है? कुरुक्षेत्र रूपी बादल में उत्तरा का आश्रयभूत वृक्ष उखड़ गया है—फिर इस लता की पीछे क्या दशा होगी? मुझे इस समय तुम इतना ही आशीर्वाद दो कि उसको फल माता सुभद्रा, सुलोचना और द्रौपदी इन को स्वाधीन करके मैं अपने वृक्ष के पाद-मूल के समीप अपना प्राण समर्पण करूँ।'

कुछ देर तक स्तब्ध रह कर उत्तरा ने फिर कहा—'इस कुरुक्षेत्र में मुझ सरीखी कितनी ही उत्तराओं का भाग्य फूटेगा, यह कहा नहीं जा सकता।'

'युद्ध समाप्त हो गया।

'समाप्त!' उत्तरा आश्चर्य पूर्वक पूछने लगी।

द्रौपदी ने कहा—'हाँ, समाप्त हो गया। जगत् की महा-ज्वाला शान्त हो गई। क्षत्रिय-वन को भस्म करके अधर्मरूपी

अग्नि ठण्डी होगई। अर्जुन का वीर्यानल करुणाजल से सिंचित होने के कारण कुछ काम नहीं देता था; परन्तु कौरवों के अभिमन्यु का वध करने के पश्चात उन्होंने ज्वालामुखी पर्वत के समान अपना उग्ररूप धारण किया। द्रोणाचार्य मारे गए। उनके दो दिन बाद कर्ण का भी अन्त हुआ। कर्ण ने युद्ध नहीं किया परन्तु शिशु-हत्या के पाप के कारण उन्होंने अपना प्राण विसर्जन किया। एक ही दिन के युद्ध में शल्य और दुर्योधन मारे गए। भारत-भूमि को श्मशान करके कल के दिन अधर्म का दिया गुल हो गया। कौरवों में से कृप, कृतवर्मा और द्रोण-पुत्र—इतने ही बाकी बचे।'

'पाण्डव और नारायण ?'

'सब प्रसन्न हैं। अन्त को धर्म की ही जय हुई।'

'माता सुभद्रा ?'

'वे तो साक्षात देवी हैं। उनका अमगल कैसे होगा ?'

'और सुलोचना ?'

शैलजा चुप हो रही। उत्तरा ने शोक से व्याकुल हो कर फिर पूछा—'माता ! क्या तू भी उत्तरा को छोड़ गई ? और, मेरे पिता और भ्राता तो कुशलपूर्वक हैं न ?'

शैलजा फिर ज्यों की त्यों चुप चाप बैठी रही। उत्तरा की आंखों में आंसुओं की एक भी बूंद नहीं निकली, न उसके मुख का कुछ रंग बिगड़ा। भयंकर विष यदि एक बार बाहर

पड़ा जिया तो फिर छोटे मोटे रिपुओं की क्या गणना? फिर उत्तरा न पूछा—तो क्या उत्तरा के मेरे के सब लोग नष्ट होगए? क्या हमारे पिता, दादा सब मुझ अभागिनी को अकेला छोड़ कर चले गए? सब लोग चले गए परन्तु मेरा हृदय विदीर्ण न हुआ। दो दिन तक मैं मूर्छित—बेहोश—पड़ी रही, परन्तु तो भी मेरे प्राण न निकले।

शैलजा ने कहा—'वत्स! तुम्हारे जीने की किसको आशा थी? परन्तु कृष्ण ने योगेश्वर होकर तुम्हें पुनर्जन्म दिया।'

'दयामय कृष्ण ने इस अनाथ—सूखी हुई लता को—क्यों बचाया? अग्नि में क्यों न झोंक दिया?'

'वत्स! तू कुरुकुल की लक्ष्मी है। कुरुकुल का आधार होने वाला एकमात्र अंकुर तेरे गर्भ में है। तेरा पुत्र मनुष्य मात्र का आशावृक्ष और धर्मराज्य का आधार स्तम्भ होगा और तू स्वयं धर्मराज्य लक्ष्मी होगी।'

'क्या मेरे पांचों देवर कुशलपूर्वक है?

शैलजा ने उत्तर दिया—'पाण्डव सात्यकी और कृष्ण इनके सिवाय और कोई नहीं बचा। द्रोण पुत्र ने रात्रि-समय शिविर में प्रवेश करके सोते हुए पांचों बालकों का वध किया। अधर्म का अन्तिम यज्ञ कल रात्रि को पूर्ण हुआ। अब तेज समाप्त हो गया। इस अधम राक्षसी से लोगों की रक्षा हो,

इस कारण देवता के समान तुम्हें पुत्र दिया है। उत्तरा! अब तू पति-प्रेम को भुलाकर पुत्र-प्रेम से अपने हृदय को प्रसन्न कर!' उत्तरा विस्मित होकर कुछ देर तक चुप रही। कुछ देर बाद वह धीरे धीरे उठ बैठी और कहने लगी—'चलो, अच्छा, अब मैं जाती हूँ।'

'कहाँ?'

'उत्तरा को अब कहीं दूसरा स्थान नहीं—यही स्थान, पति की चिता!'

शैलजा काँपने लगी। आँखों में आँसू भर कर उसने कहा—'पति की चिता पर प्राण समर्पण करने की अपेक्षा क्या स्त्री के लिए दूसरा श्रेष्ठ धर्म नहीं है?'

'है' यह स्थिर कंठ से उत्तर देकर उत्तरा चुप हो रही।

'पति-पद की भस्म सिर में लगा कर अपने उस व्रत का पालन करना चाहिए।'

वे दोनों और कुछ न बोलीं। चुप चाप शिविर से बाहर चली गईं। वहाँ उनको भयङ्कर दृश्य दिखाई पड़ा। कुरुक्षेत्र में अगणित चिताएँ जल रही हैं। नदी के किनारे जलने वाली चिताओं का नदी के जल में प्रतिबिम्ब पड़ने से पानी में असंख्य चिताएँ जलती हुई दिखाई पड़ती थीं। एक भयंकर महा-चिता में अनाथ सैनिकों का दहन होता था। महा नरमेध यज्ञ समाप्त हुआ। जैसी जैसी रात्रि कम होती गई वैसी वैसी ही चिताओं की अग्नि भी शान्त होती गई। इस भयानक श्मशान के धुएँ से आकाश आच्छादित हो गया। अब भी नक्षत्र

आकाश में दिखाई नहीं पड़ता था। न मालूम सारे नक्षत्र, शोक में व्याकुल हो कर, पृथ्वी पर गिर पड़े, अथवा कहीं गायब हो गए। सिर के बाल खुले हुए, शोक में व्याकुल, वीर नारी मृत पति पुत्र पिता अथवा बन्धुओं को वहाँ ढूँढ रही थीं। शकुनी और शृगाल रात्रि के समय उस श्मशान में इधर उधर धीरे धीरे घूमते और अपने कर्कश शब्द द्वारा रात्रि की शांति को नाश करते थे। उस समय उत्तरा का हृदय काँप उठा। शोक से व्याकुल हो कर वह शैलजा के गले में लिपट गई, और उसके वक्षस्थल पर मुख रख के बोली—'जिस प्रकार ये चिताएँ धीरे धीरे जल कर शान्त हो रही हैं क्या उसी प्रकार मेरे हृदय में जलने वाली चिता भी शान्त हो जायगी? क्या इसी प्रकार कभी मेरे शोक की रात्रि भी समाप्त होगी?'

शैलजा ने कहा—'देवी भारत माता के वक्षस्थल पर, असंख्य चिताएँ जल रही हैं। इस चितानल में, अधर्म जल कर भस्म हुआ जाता है और नवीन धर्म की ज्ञान किरणों का प्रकाश धीरे धीरे हो रहा है। जगत के प्राणियों, तुम्हारे और मेरे प्राणों को आनन्दित करने के लिए कृष्ण नाम की ध्वनि हुआ ही चाहती है।'

शैलजा उत्तरा को धीरे धीरे पति की चिता के समीप ले गई। वह चिता हिरण्यवती नदी के किनारे एक अशोक वृक्ष

की जड के पास थी । उत्तरा ने भक्तिपूर्वक उस चिता को प्रणाम किया । प्रिय पुत्र के साथ पुण्यवती सुलोचना को एक ही चिता पर जलाया गया था । चिता करीब करीब बुझ चुकी थी । अशोक वृक्ष की जड के पास खड़े होकर कृष्ण ने उत्तरा की शोकाकुल मूर्ति को देखा । उसको देख कर कृष्ण का हृदय विदीर्ण हो गया । उत्तरा ने कृष्ण को नही देखा । उसने व्याकुल होकर कहा:—"हे कमल-नयन कृष्ण ! तुम कहाँ हो ? मै शोक-सागर मे डूबी जाती हूँ, तुम अपने पाँव की नौका मुझे दो । जिसकी आँख तुम्हारी आँखों के समान शोभायमान थीं, जिसका रूप तुम्हारे रूप के समान माधुर्यमय था । जिसका सुन्दर मनोहर मुख सुभद्रा माता की आकृति के समान था, जिस मे तुम्हारा देवत्व और पार्थ का शौर्य वर्तमान था, जो उत्तरा का स्वप्न-स्वर्ग था, वह क्या इस प्रकार भस्म हो जाय ? उस का चिह्न भी न रहे—क्या ऐसा हो सकता है ? जो अर्जुन और सुभद्रा का प्राण-प्रिय पुत्र और कृष्ण का प्रिय शिष्य था उसके लिए मृत्यु ! प्राणेश्वर ! सिर पर सुन्दर मुकुट धारण करके तुम चन्द्रलोक मे कितनी शोभा देते होगे ! तुम्हारा वीर वेष कितना सुन्दर है ! देखो, देखो अप्सराएँ तुम्हारे ऊपर सुगन्धित फूलों की वर्षा कर रही है । कोमल और मधुर सङ्गीत-ध्वनि सुनाई पडती है । नाथ, क्या तुम अब फिर कभी उत्तरा की ओर आँख भर कर देखोगे ? क्या तुम उसे पहचान भी सकोगे ! उत्तरा की दशा तुम्हारे दर्शनों

यह चिता कैसी हो रही है? क्या इसकी तुम्हें कुछ खबर है? एक बार उसे अपने हृदय से लगाया था और एक शब्द बोल कर उसे सुखी किया। तुमने पृथ्वी पर उत्तरा के साथ छः महीने रह कर भी उसे स्वर्ग के समान सुख पहुँचाया और अब उसका हृदय विदीर्ण करके इस प्रकार चलते हुए! तुम अपने प्रेम की रक्षा इस तरह से संचारित करके किस प्रकार चले गए? खैर! छः महीने के लिए मुझे क्षमा करो। छः महीने बाद उस फल को प्रसव कर पृथ्वी पर तुम्हारा प्रतिबिम्ब स्थापित करके यह उत्तरा जिस पथ से छः महीने छः युग के समान व्यतीत होंगे तुम्हारे समीप आयगी। पति की चिता पर मृत प्राण समर्पण करना यह मृत्यु नहीं है। नाथ! मुझे आशीर्वाद दो कि यह मृत्यु-व्रत मैं अच्छी तरह पूरा कर सकूँ।'

शैलजा ने चिता भस्म अपने और उत्तरा दोनों के माथे पर लगा कर कहा—'वत्स! तेरी माता का व्रत सुख से पूर्ण हो, ऐसा शुभ आशीर्वाद दो।' इसके बाद दोनों ने उस चिता के चारों ओर प्रदक्षिणा की और अपना कलेजा पत्थर का करके शिविर को वापस गईं। कृष्ण अब तक पाषाण-मूर्ति के समान उसी अशोक वृक्ष के नीचे ज्यों के त्यों खड़े रहे। तब तक अर्जुन सुभद्रा को लेकर चिता के पास आए। उस समय अर्जुन शोक से व्याकुल थे। परन्तु सुभद्रा के मुख पर शान्ति की छाया झलकती थी। शोक का अपार सागर उस

समय बिलकुल स्थिर था। धनञ्जय ने एक लम्बी सांस ली और कहा, 'इस प्रकार हमारा हृदय भस्म हुआ !'

सुभद्रा ने शान्ति के साथ उत्तर दिया—'प्राणनाथ ! ऐसा मत कहो। जगत के प्राणियों का कल्याण होने के लिए कृष्ण नाम का आप के द्वारा प्रचार होगा। सुलोचना का मातृ-प्रेम, अभिमन्यु का आत्म-ज्ञान, यह नवीन धर्म-राज्य की नीव है। कृष्ण नाम उसका मुकुट है। तुम्हारा वीर-व्रत समाप्त हुआ। अब श्रेष्ठतर धर्म-व्रत को स्वीकार करो, और पुत्र-भस्म को हृदय में लगा कर कर्मक्षेत्र में अग्रसर हो। जिस समय इस नवीन धर्मामृत से पृथ्वी सिंचित होगी उस समय हम तुम अभिमन्यु के योग्य माता-पिता कहलाए जा सकेंगे। उस समय संसार में दुःख नहीं रहेगा। चारों ओर सुख और शान्ति का सागर दिखाई पड़ेगा। विश्वकंठ से निकलने वाले कृष्ण नाम की ध्वनि सुन सुन कर हम तुम दोनों एक ही चिता पर निर्वाण-पद को प्राप्त होंगे।''

पुत्र की चिता की भस्म हृदय में लगा कर योगी और योगिनी के वेष में दोनों शिविराभिमुख चलते हुए। अब कृष्ण ने उस वृक्ष के नीचे से चिता के पास आकर अपने हृदय में चिता की भस्म लगाई और आकाश की ओर देख कर कहने लगे—'मनुष्य के उष्ण रक्त के सिवाय मनुष्य के पाप और मनुष्य के शोक के बिना मनुष्य के दुःखों का कभी नाश न होगा। यदि

मनुष्य की मुक्ति का मार्ग रक्त के सागर में होता है, देव, एक धार में एक निमिष मात्र में कृष्णा के रक्त में पृथ्वी का स्नान क्या न कराया? एक श्मशान प्रज्वलित करके कृष्णा के हृदय को यहीं क्या न समर्पण किया? आज अठारह दिन तक जो रक्त का प्रवाह बहा उसमें का प्रत्येक बिन्दु कृष्णा के तप्त रक्त से निकला हुआ था। इन हर एक चिताओं में कृष्णा का प्राण भस्म हुआ है! प्रत्येक अनाथ स्त्री का हाहाकार का शब्द, गांधारी का नाद, उत्तरा की शोकमय मूर्ति, अर्जुन का दुःख वेग, सुभद्रा का वैराग्य इत्यादि बातों ने मेरे हृदय पर वज्रपात किया है। राज-सूय-यज्ञ द्वारा निर्माण किया हुआ धर्म राज्य, बालू की भीत के समान जब नष्ट होने लगा तभी मैंने यह समझ लिया था कि रक्तस्नान हुए बिना, अग्नि में परीक्षा हुए बिना, पृथ्वी पर धर्म राज्य की स्थापना नहीं हो सकती। नारायण! तुम्हारी यह इच्छा जान कर, मैंने अपना हृदय विदीर्ण करके अठारह दिन तक पृथ्वी पर रक्त की नदी बहाई! इतना करने पर भी प्राणों से भी अधिक प्रिय कुमार की आहुति देना पड़ा। निष्पाप मानव पुत्र को अपने प्राणों की बलि देने के सिवाय क्या मानव जाति का उद्धार नहीं हो सकता? यदि आप की यही इच्छा है, तो मैं शोक का परित्याग करता हूँ। आप के इच्छानुसार सब कार्य होना चाहिये। अब आप पृथ्वी पर धर्म राज्य की स्थापना कीजिए।'

कुमार की चिता पुनः प्रज्वलित हो उठी। अग्नि की शिखा नभो-मण्डल को स्पर्श करने लगी। चितानल समर-क्षेत्र में व्याप्त हो गई! उस अग्नि से त्रिभुवन को प्रकाशित करने वाली महाभारत की मूर्ति राज-राजेश्वरी माता दिखाई पड़ी। वेदों के आरम्भ में आर्यों और अनार्यों का सम्मेलन करने और नवीन धर्म की स्थापना करने के लिए यह विशाल मूर्ति ध्यान-मग्न दिखाई पड़ी। वेदी के वक्षस्थल पर निष्काम की महामूर्ति विराजमान थी। उस के ऊपर प्रतिभान्वित आनन्दमय जननी शोभा दे रही थी। उसके शिर पर अर्धेन्दु किरीट रक्खा हुआ था। चारों हाथों में पाशांकुश, धनुष और बाण था। तीनों नेत्रों में त्रिकाल का ज्ञान था। बालसूर्य की किरणों के प्रकाश के समान धर्म साम्राज्ञी का मुख प्रकाशमान था। उसकी आंखों से आनन्दाश्रु बह रहे थे। वह कृष्ण नाम का जाप कर रही थी। कृष्ण का जीवन-व्रत पूर्ण हुआ। उद्वेगित मन से 'मां मां' कह कर कुमार की चिता के समीप वे मूर्च्छित होकर गिर पड़े। प्रातःकाल के प्रकाश से पूर्व की ओर आकाश सुशोभित हुआ। अनन्त मंगल बाजे बजने लगे। कुरुक्षेत्र में आनन्द-मंगल के गीतों की ध्वनि उच्च स्वर से हो कर धर्मराज्य की घोषणा हुई। सुभद्रा और अर्जुन, शैलजा और द्वैपायन ये धीरे धीरे वहां पहुंचे। कृष्ण उठ कर खड़े हो गए। कुमार की चिता के सामने, पूर्व गगनाभिमुख हो कर, योग ध्यान में मग्न

हुए। उनके पास एक किनारे धनंजय खड़े थे। और दोनों के बीच में सुभद्रा देवी। प्रेमानन्द में मग्न होकर अपनी देह की सुध बुध भुला कर व्यास ने कहा —'हे देवगण! ऋषिगण! एक बार यहाँ आकर इस पवित्र त्रिमूर्ति के दर्शन करो। ज्ञानदेव कृष्ण, धनंजय कर्मदेव, और उनके मध्य में भक्ति देवी सुभद्रा शोभायमान हैं। उनके सामने चिता रूपी आत्म विसर्जन हो रहा है। ज्ञान, कर्म, आत्मविसर्जन ये भक्ति के निष्काम सूत्र द्वारा एकत्रित हुए हैं। यही मानव जाति के लिए मोक्षधाम है। यही द्वापर का अवतार है। यह महातीर्थ आँख भर कर आज मैंने देखा। मेरा मनोरथ पूर्ण हुआ। नारायण! आप महाभारत का गीत गाने की मुझे शक्ति दें, जिससे मनुष्य, उस गीत को सुन कर और कृष्ण नामामृत का पान करके, मुक्ति लाभ करें, और जिसको पढ़ कर पृथ्वी स्वर्गधाम बने।

शैलजा ने गुरुदेव की पदरज अपने सिर पर धारण की और कहा—'हे गुरुदेव! तुम्हारी कृपा से हे पुत्र! तुम्हारे स्मरण से, इस तेरी अनाथ माता का आज जन्म सफल हुआ! हे नारायण, आर्य और अनार्य दोनों के रक्षक, पतित अनार्यों को अपने पद कमल में शरण दो! तुम्हारे धर्म राज्य में उनको भी स्थान प्राप्त हो! हे भगवान् भारत-वासियों को ज्ञान, भक्ति, कर्म और आत्म विसर्जन करने की शिक्षा दो, जिसके कारण वे पशु से मनुष्य कहलाने योग्य बनें। — "श्री कृष्ण-चरित" से।

४४

जर्मन देश पर एक ऐतिहासिक दृष्टि

लेखक—डाक्टर लक्ष्मण स्वरूप, एम० ए०, डि० फिल०

[आप का जन्म कैराना जिला मुजफ्फर नगर में जनवरी सन् १८९४ से हुआ था। आजकल आप लाहौर के ओरियण्टल कालेज में संस्कृत विभाग के प्रधान अध्यापक हैं। आप संस्कृत, हिन्दी तथा अंगरेजी के अतिरिक्त जर्मन और फ्रेंच भाषाओं के भी अच्छे ज्ञाता हैं। आपने फ्रेंच नाटककार मोलियर के दो हास्यरसपूर्ण नाटकों का "बनिया चला नवाब की चाल" और "वहमी रोगी" नाम से हिन्दी में अनुवाद किया है। निरुक्त का संपादन तथा अंगरेजी में अनुवाद भी किया है।]

शिक्षित नर नारी होगा जो जर्मनी
...र में आज जर्मनी मान-प्रतिष्ठा

के अत्युच्च शिखर पर विराजमान है। ज्ञान विज्ञान तथा कला कौशल में जो उन्नति इस देश ने की है वह वस्तुतः विस्मयोत्पादक है। पदार्थ विद्या में यदि कहीं नित्य नए आविष्कार होते हैं तो वह इसी देश में। साहित्यिक अनुसंधान तथा दर्शनानुशीलन के लिए जर्मनी का विद्वज्जन समुदाय सकल संसार में प्रसिद्ध है। निपुणता और कार्यदक्षता उन का आदर्श वाक्य है। जिस काम को भी वे हाथ में लेते हैं पूर्ण किए बिना नहीं छोड़ते। सारांश यह कि आज इस देश की अवस्था को देख कर मनु भगवान् का यह कथन याद आता है—

एतद्देश प्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः ।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः ॥

किन्तु यही देश जो आज सूर्य के समान चमक रहा है आज से प्रायः दो सौ वर्ष पूर्व कुछ भी न था। वह तेज, पराक्रम और तेज जिस के कारण आज बड़े बड़े राष्ट्र इस से भय भीत रहते हैं, पारस्परिक मेल के न रहने के कारण, मिट्टी में मिला हुआ था। शास्त्र विवेचन का तो कहना ही क्या, दो सौ वर्ष पूर्व जर्मन देश की एक भाषा भी न थी। अथवा यों कहिए कि कोई भाषा थी ही नहीं। फ्रेंच भाषा का सीखना ही गौरवप्रद समझा जाता था। वरन् सभ्य समाज में तो फ्रांसीसी भाषा का ही व्यवहार होता था। फ्रेंच कवियों की कविताओं का ही जर्मनी में प्रचार होता था। सच

पूछिये तो उस समय जर्मन-जाति विद्यमान ही न थी। आज हम यही बताएँगे कि किस प्रकार यह जाति बनी, इस के आदि प्रवर्तक किस प्रकार के मनुष्य थे, उन को क्या क्या क्लेश तथा विपत्तियाँ सहन करनी पड़ीं, और किस प्रकार उन्हों ने घोर भयानक विरोधियों से आत्म-रक्षा की। इस देश के इतिहास का पाठ हमें बताता है कि जातियाँ किस प्रकार उन्नति किया करती हैं। मानव-प्रकृति प्रायः सर्वत्र एक सी है। इस लिए अवस्थाओं के कई अंशों में भिन्न होते हुए भी कोई न कोई शिक्षा हमें मिल ही जाती है। इस से इतिहास का अध्ययन बहुत ही रोचक तथा संशय-मोचक हो जाता है।

सन् १६११ में दो छोटे छोटे राज्यों का मेल हुआ। ये राज्य इतने छोटे थे कि उन के अधिपति राजा भी नहीं कहलाते थे। एक राज्य का नाम ब्रेण्डनबर्ग (Brandenberg) था और दूसरे का प्रशिया। ये विस्चुला नदी के तट पर हैं। इन दोनों के मिलाप से प्रशिया राज्य की स्थापना हुई। इस राज्य का अधिपति होहनज़ोलर्न कुल का कुमार था। यह वही प्रशिया राज्य है जिस का राजा अन्त में जाकर जर्मन देश का सम्राट बना। इसी प्रशिया ने जर्मनी के छोटे छोटे रजवाड़ों (States) को सङ्गठित कर जर्मनी को एक राष्ट्र बनाया।

सन् १६८८ में फ्रेडरिक तृतीय प्रशिया के सिंहासन पर

बैठा। इस के मन में राजा कहलाने की उत्कट लालसा उत्पन्न हुई। और इसी उत्कण्ठा में वह प्रयत्न भी करने लगा। किन्तु 'राजा' पद की उपलब्धि केवल सम्राट से ही हो सकती थी, और सम्राट पोप का अनुयायी तथा फ्रेडरिक का धर्म विरोधी था। इस लिए यह काम कुछ कठिन था। दैव-योग से सम्राट को एक बार संग्राम के लिए सहायता की आवश्यकता पड़ी और उसने फ्रेडरिक को प्रसन्न करना जरूरी समझा। अतएव सन् १७०१ में फ्रेडरिक की मनोकामना पूर्ण हुई और एक महोत्सव में 'राजा' की उपाधि फ्रेडरिक को प्रदान की गई।

सन् १७१३ में महाराज फ्रेडरिक का पुत्र पहला विलियम गद्दी पर बैठा। इसकी प्रकृति बड़ी ही विचित्र थी। आज हम उसी के विषय में कुछ वर्णन करेंगे।

विलियम एक विचित्र पुरुष था। शरीर में बहुत ही बलवान् परन्तु बुद्धि में अक्खड़ जाट। योग्यता तथा गम्भीरता की तो उस में गन्ध मात्र भी न थी। सभ्यता, कविता, सौन्दर्य शिल्प और शिक्षा का वह कट्टर विरोधी था। उसका कथन था कि थोड़ी सी भी सामान्य-बुद्धि महाविद्यालयों में कहीं बढ़ कर है। इस पर भी वह एक ऐसे समय में सिंहासन पर बैठा जब कि देश को उसकी बड़ी आवश्यकता थी।

उसका पिता विद्यालय बनाता, प्रजा को शिक्षा देने का

प्रबंध करता और विद्वानों को उत्साहित करता था। परन्तु पुत्र विद्वान् पुरुषों को घृणा की दृष्टि से देखता और उनके प्रति उदासीनता प्रकट करता था। यहां तक कि वह जर्मनों के महापुरुषों और विद्वानों के प्रसिद्ध शिरोमणि लेबनिटस (Leibnitz) को भी इस लिए अच्छा नहीं समझता था कि उसका क़द छोटा था और वह एक अच्छा पहरेदार नहीं बन सकता था। विलियम की आवाज़ गरजती और थर्राती थी। उसकी भाषा सदा ही अशुद्ध होती थी और उसके अक्षर ऐसे बुरे होते थे कि कोई पढ़ भी नहीं सकता था।

अपने पिता से वह नितान्त ही भिन्न प्रकृति का मनुष्य था। उसका पिता दिखावे का अधिक प्यारा था और सजावट तथा शृङ्गार-रस का प्रेमी था। परन्तु विलियम इन सब का विरोधी था। इसने बहुत ही संकोच से खर्च करना आरम्भ किया और राज्य के प्रत्येक विभाग में बहुत ही किफ़ायत से काम लेने लगा। अपने पुत्र तथा कन्याओं से भी वह उसी प्रकार बर्ताव करता था। बरन् यहां तक कि किसी समय तो उनको पेट भर कर भोजन भी नहीं मिलता था। प्रेम तथा प्रीति को तो वह निर्बल अबलाओं के लिए ही समझता था। इसी प्रकार वह कविता का पढ़ना समय का व्यर्थ खोना ख़याल करता था। एक समय उसका पुत्र फ्रेडरिक एक कवि की पुस्तक पढ़ रहा था कि विलियम ने देख लिया।

उसके हाथ में एक लम्बी सी छड़ी थी। उसी छड़ी से उसने पुत्र की खूब खबर ली। इसी छड़ी को लेकर वह नगर में भ्रमण किया करता था। यदि कोई पुरुष या स्त्री बिना कुछ काम करते हुए उसके दृष्टिगोचर होते तो वह तीन चार छड़ी लगा देता और कहता— काम पर जाओ।

उसने एक सभा बनाई थी जिस का नाम पीछे से 'तमाकू सभा' पड़ गया। इस सभा में राज्य विषयक बहुत गम्भीर विचार होते थे। किन्तु इसमें किसी ऐसे पुरुष को बैठने का अधिकार न था जो तमाकू न पीता हो। इस लिए वजीर आदि सब राजपुरुषों को अवश्य ही चुरुट पीना पड़ता था। पाठक, जरा सोचिए तो सही। धुएँ की लपटों के बीच राजनीति तथा प्रजा सम्बन्धी गूढ़ विषयों पर विचार करने का इस से सुन्दर दृश्य क्या और कहीं दृष्टिगोचर होगा।

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, तमाकू सभा में प्रत्येक अमीर वजीर को तमाकू पीना पड़ता था। इसी प्रकार तमाकू के साथ बीयर (Beer) भी उन्हें पीनी होती थी। इन बातों से पाठक जान सकते हैं कि विलियम कैसा विचित्र मनुष्य था। यद्यपि उसका स्वभाव विलक्षण तथा लोकाचार के विरुद्ध था तथापि वही मनुष्य प्रशिया के एवं जर्मनी के महत्त्व और गौरव का सच्चा संस्थापक था। ऐसा क्योंकर हुआ, यह नीचे वर्णन किया जाता है।

विलियम जहां मानसिक और आत्मिक उन्नति की ओर कुछ ध्यान न देता था वहां शारीरिक उन्नति को ही सर्वोत्तम समझता था। जिस प्रकार उसका अपना शरीर हृष्ट पुष्ट और कद लम्बा था उसी प्रकार वह लम्बे कद वाले सिपाहियों को ही सेना में भरती करने का शौकीन था। जहां कहीं से भी उसे लम्बे पुरुष का पता मिलता, झट किसी न किसी उपाय से उसे नौकर रख लेता। कितनी ही बार योरप देश के अन्य राजाओं ने अपनी प्रजा को इस प्रकार भगा ले जाने के कारण विलियम पर आक्षेप भी किये। परन्तु वह किसी की परवाह नहीं करता था और लम्बे मनुष्य को प्राप्त करने के लिए प्रत्येक वस्तु देने को तैयार हो जाता था। आयरलैंड में एक मनुष्य का कद ६ फुट ६ इंच था। उसने लगभग १३५०० रुपये खर्च कर के उसे अपने यहां बुलाया था। यद्यपि राज्य के प्रत्येक विभाग में वह अत्यन्त संकोच से रुपया खर्च करता था तो भी लम्बे मनुष्यों के लिए उसका खजाना हर वक्त खुला रहता था। एक लम्बा मनुष्य उसके लिए सब से उत्तम उपहार था। यदि किसी को विलियम से याचना करनी होती थी तो वह अपनी मनोरथ-सिद्धि के लिए किसी लम्बे मनुष्य को उपह[illegible] का यत्न करता था, क्योंकि उसकी कृपा-दृष्टि [illegible]था।

[illegible]रेखा ने विलियम के दो मनुष्यों

को, जो लम्बे आदमियों की तलाश में उस देश में गये थे, फाँसी दे दी। इस के कुछ दिन बाद उसने विलियम को लिखा कि आपके विद्यालय में एक विद्वान् आचार्य हैं। कुछ काल के लिए उनकी हमें आवश्यकता है। आप कृपा कर उन्हें भेज दीजिए। विलियम ने उत्तर दिया—नो लॉग मैन, नो प्रोफ़ेसर, अर्थात् न कोई लम्बा मनुष्य आप के यहाँ से मिला, न कोई अध्यापक यहाँ से आवेगा। इस प्रकार चौबीस सौ लम्बे मनुष्यों की एक बड़ी सेना उसने तैयार की। उस सेना की रक्षा वह पितावत करता था। इस सेना को Potsdam giants अर्थात् राक्षसों की सेना कहते थे। यही शारीरिक बल था जिस को विलियम के पुत्र फ्रेडरिक ने लड़कर सारे यूरोप के मुकाबले में विजय प्राप्त की और अपना तथा अपनी जाति का नाम उज्ज्वल किया।

विलियम में, यदि वर्तमान समय के आचार-शास्त्र के अनुसार, बहुत से दोष थे तो साथ ही दो बड़े गुण भी थे। एक तो वह आलस्य का द्वेषी था। प्रत्येक को काम करता हुआ देख कर ही वह प्रसन्न होता था और इसी प्रकार जिस काम को करता था उसको बड़ी दृढ़ता से पूर्ण करके ही छोड़ता था। संसार की निन्दा तथा प्रशंसा की उसे कुछ भी परवा न थी। उसने राज्य के प्रत्येक भाग से सकल शिथिल भावों को निकाल कर दृढ़ता स्थापित की थी। सेना को तो उसने बहुत ही

मजबूत और वीर बना दिया था। उस की प्रजा ने उसके गुणों का अनुकरण किया, जैसाकि प्रत्येक सज्जन को करना चाहिए।

—'उषा', एप्रिल १९५४

पृथ्वी मधुपुरी हो जाती है। उस समय हम जान लेना चाहिए कि हम वाल्मीकि, व्यास और होमर के सत्ययुग में पहुँच गये हैं।

काव्य दो भागों में विभक्त किये जा सकते हैं। कुछ काव्य ऐसे होते हैं जो कवि के व्यक्तित्व से पृथक् नहीं किए जा सकते। उनमें कवि ही की आत्मा छिपी रहती है। ऐसे काव्यों में कवि अपनी प्रतिभा के बल से अपने जीवन के अनुभवों ही के द्वारा समस्त मानव जाति के चिरन्तन गूढ़ भावों को व्यक्त कर देता है। परन्तु कुछ काव्य ऐसे होते हैं जिन में विश्वात्मा संचरण करती है। वे देश और काल से अनवच्छिन्न रहते हैं। ऐसे ही काव्यों को महाकाव्य कहते हैं, और उनकी रचना वही कवि करते हैं जो विश्व कवि कहलाते हैं, जो समग्र देश और समग्र युग के भावों को प्रकट कर अपनी कृति को मानव जाति का जीवन धन बना जाते हैं। गिरिराज हिमालय के सदृश वे पृथ्वी को भेद कर आकाश मण्डल को छूते हैं। उन पर काल का प्रभाव नहीं पड़ता। वे सदा अटल बने रहते हैं और उनकी कविता जाह्नवी अनिश्चित काल तक लोगों को पुनीत करती रहती है। भारतवर्ष में रामायण और महाभारत इसी प्रकार के महाकाव्य हैं। प्राचीन ग्रीस के इलियड और ओडेसी उसी के समकक्ष महाकाव्य हैं। भारतवर्ष में जो स्थान वाल्मीकि और व्यास का है, योरप में

परीक्षित को जब गर्भ में भगवान् ने रक्षा की थी, तब किस प्रभाव से ?

उन्होंने कहा—'यदि मैंने हँसी में भी कभी झूठ नहीं कहा है, यदि मैंने युद्ध में कभी पीठ फेर नहीं दिया है, यदि मैंने कंस और केशी को धर्मपूर्वक मारा है, यदि मैंने अपने मित्र अर्जुन का कभी स्वप्न में भी विरोध नहीं किया है, यदि धर्म और ब्राह्मण मुझको सर्वदा प्यारे रहे हों, तो यह बालक जीवन को प्राप्त हो।

यथा सत्यञ्च धर्मश्च मयि नित्यं प्रतिष्ठितौ।
तथा मृतः शिशुरयं जीवतामभिमन्युजः॥

'यदि मुझ में सत्य की बराबर प्रतिष्ठा है धर्म की बराबर प्रतिष्ठा है, तो यह मृत बालक, अभिमन्यु का पुत्र, जीवन को प्राप्त हो।'

तप और व्रत की शक्ति से क्या नहीं हो सकता ? तामसिक दिवस में चाहे जितना अन्धकार प्रतीत हो, परन्तु उस अनुपम आत्म ज्योति ही से जगत् में प्रकाश होता है। श्रीकृष्ण के इस वचन के समान हमारे महर्षियों के अनेक उदाहरण वर्तमान हैं। इसमें उनमें कुछ आश्चर्य नहीं। परन्तु, जैसे देखिए तो भगवान् कृष्ण का सम्पूर्ण जीवन ही आश्चर्यमय है। भागवत् धर्म के प्रवाह से भारतवर्ष में जो भक्ति की अपूर्व धारा बही है, उस में जिस भक्त को देखिए वहीं उनके उस चरित्र का

यह उसका दोष है या सुवर्ण का ? यदि शैतान का भी इञ्जील पढ़ा जाय, और वह उसमें भी अपना ही मतलब निकाले, तो यह शैतान का दोष है या इञ्जील का ? कहा है, 'पयः पानं भुजङ्गानां केवलं विषवर्धनम्' अर्थात् भुजङ्ग का दूध पिलाने से उसके विष ही की बढ़ती होती है। इस देश ही भयावने भुजङ्गों ने भारतवर्ष में अपना विष फैलाया है। यदि ऐसा न होता, तो धर्म के नाम से इतने अधर्मी पाप क्यों फैलाते फिरते ?

कृष्ण का चरित्र ! संसार में उससे बढ़ कर दूसरा चरित्र मिलना कठिन है। परन्तु कलङ्क किसको नहीं छूता ? कलङ्क कृष्ण को भी लगा था। सत्राजित की स्यमन्तक मणि के बारे में उनके सारे कुटुम्बियों ने उन पर सन्देह किया था, यहाँ तक कि उनके दूसरे शरीर दूसरे हृदय, बड़े भाई बलराम भी उन से रूठ कर द्वारिका छोड़ बैठे थे। परन्तु असत्य असत्य ही है, सत्य सत्य ही है। तब कलङ्क का नाम सुनते ही किसी को एकाएक घबड़ा न उठना चाहिए परन्तु उसकी पूरी जाँच करनी चाहिए, जैसी कृष्ण ने प्रसेन की मृत्यु की की थी।

सांसारिक भाव देखो। कृष्ण क्या नहीं थे ? पहले दर्जे के राजनीतिज्ञ—'न कूटनीतिरभवत् श्रीकृष्णसदृशः पुरा'—शुक्राचार्य जी कह गये हैं कि 'श्रीकृष्ण के समान नीति में चतुर कोई नहीं हुआ।' महावीरों के महावीर भीष्म पितामह ने राजसूय यज्ञ में एकत्र हुए राजाओं से कहा था कि मैं तुम में से एक

यह उसका दोष है या सुवर्ण का ? यदि शैतान का भी इजलास पढ़ाई जाय, और वह उससे भी अपना ही मतलब निकाले, तो यह शैतान का दोष है या इजलास का ? कहा है, 'पय पान भुजङ्गाना केवलं विषवर्धनम्' अर्थात् भुजङ्ग को दूध पिलाने से उसके विष ही की बढ़ती होती है। ऐसे ऐसे ही भयानक भुजङ्ग भक्तों ने भारतवर्ष में अपना विष फैलाया है। यदि ऐसा न होता, तो धर्म के नाम से इतने अधर्मी पाप क्यों फैलाते फिरते ?

कृष्ण का चरित्र। संसार में उससे बढ़ कर दूसरा चरित्र मिलना कठिन है। परन्तु कलङ्क किसको नहीं छूता ! कलङ्क कृष्ण को भी लगा था। सत्राजित की स्यमन्तक मणि के बारे में उनके सारे कुटुम्बियों ने उन पर सन्देह किया था, यहाँ तक कि उनके दूसरे शरीर दूसरे हृदय, बड़े भाई बलराम भी उन से रूठ कर द्वारिका छोड़ बैठे थे। परन्तु असत्य असत्य ही है, सत्य सत्य ही है। तब कलङ्क का नाम सुनते ही किसी को एकाएक घबड़ा न उठना चाहिए परन्तु उसकी पूरी जाँच करनी चाहिए, जैसी कृष्ण ने प्रसेन की मृत्यु की की थी।

सांसारिक भाव देखो। कृष्ण क्या नहीं थे ? पहले दर्जे के राजनीतिज्ञ—न कूटनीतिरभवत् श्रीकृष्णसदृश्य पुरः—शुक्राचार्य जी कह गए हैं कि 'श्रीकृष्ण के समान नीति में चतुर कोई नहीं हुआ।' महाभारत के महासमर भीष्म पितामह ने राजसूय यज्ञ में एकत्र हुए राजाओं से कहा था कि मैं तुम में से एक